फूल और पतझड़

नरोत्तम नगर

फूल और पतझर

फूल और पतझर

तीखे तिल-मिलाने व्यङ्ग और गहरी चुटकियों से परिपूर्ण

सामाजिक - राजनीतिक उपन्यास

उपन्यासकार

नरोत्तम नागर

प्रकाशक

साहित्य प्रकाशन

मालीवाड़ा, दिल्ली

प्रकाशक :

साहित्य-प्रकाशन

नई सड़क, मालीवाड़ा, दिल्ली

मूल्य :

पाँच रुपया आठ आना

3393

मुद्रक :

मुन्शी हरप्रसाद इलैक्ट्रिक प्रेस

बुलन्दशहर

चिराग-तले अन्धेरा

ऐसे लोगों को चाहे आपने देखा भले ही न हो, लेकिन उनके बारे में सुना जरूर होगा। मेरा मतलब उन लोगों से है जो पूरी रामायण सुनने के बाद भी बड़े भोलेपन से कहते हैं :

"रावण कौन था, और राम कौन ?"

इन पंक्तियों का, बल्कि कहना चाहिए इस उपन्यास का, लेखक भी आज अपने-आप को इन्हीं लोगों की पाँत में पाता है।

भला सोचिए तो सही कि इतना बड़ा उपन्यास लिख लेने पर भी मुझे पता नहीं चला, सपने तक में मुझे गुमान नहीं हुआ कि इस उपन्यास का भी एक हीरो होना चाहिए, या यह कि जो हीरो है, उसे सबसे ज्यादा उभर कर आना चाहिए। यह हर उपन्यास के हीरो का जन्म-सिद्ध अधिकार है कि उसकी हर करवट और सलवट का जिक्र किया जाए, किसी युवती के स्पर्श से उत्पन्न कोहनी की चुनचुनाहट पर पचासियों पन्ने काले किये जाएं, किसी की पत्नी, बहिन अथवा भाभी को निरावरण देखने, उसकी गोदी में सिर रख कर विलीन हो जाने या उसे मुट्ठी में भींच कर मसल डालने की उसकी आकांक्षा को जीवन का शाश्वत सत्य घोषित किया जाए !

हीरो के इस जन्म और परम्परा सिद्ध अधिकार से भला कौन इन्कार कर सकता है ? कौन नहीं जानता कि उपन्यास हीरो के लिए होता है, हीरो उपन्यास के लिए नहीं। समझ में नहीं आता कि इस मोटे सत्य को भी मैं कैसे नजरदाज कर गया ?

चिराग तले अंधेरा शायद इसी को कहते हैं !

हीरो के संसर्ग में जो लोग आए उनका मैंने जिक्र किया, उन तक को नहीं छोड़ा जो ऐरे-गैरे और पंचकल्याणी थे, उन परिस्थितियों और वातावरण का भी मैंने जिक्र किया जिनमें हीरो ने जन्म लिया, जिनकी गोद में वह पला और बढ़ा। अगर किसी बात का जिक्र नहीं किया तो वह इस उपन्यास के हीरो का। ऐरे-गैरे पात्रों, परिस्थितियों और वातावरण की सर्दी-गर्मी के झमेले में वह वैसे ही खो गया जैसे सागर में पानी की बूंद!

लेकिन इसे क्या हीरो की मौत समझा जाए?

इस प्रश्न का उत्तर शायद मैं अपने-आप कभी न दे पाता और चिराग़ की, उसके प्रकाश की, इस लिए उपेक्षा कर जाता कि उसके नीचे अंधेरा होता है, अगर प्रस्तुत उपन्यास के हीरो से मेरी जान-पहचान और मुठभेड़ न होती।

इस उपन्यास का तथा-कथित और उपेक्षित हीरो काल्पनिक न होकर एक जीता-जागता व्यक्ति और उपन्यास-लेखक का अभिन्न मित्र है। उससे कुछ छिपा नहीं है—उपन्यास जैसी चीज़ तो और भी नहीं, जिसकी सार्थकता ही उसके प्रकाशन में है।

उपन्यास सुनने के बाद वह चुपचाप, अभिभुत-सा, बैठा रहा। आखिर मैंने ही खामोशी भंग की।

"तुम्हारे साथ अन्याय हुआ है," मैंने कहा,—"उपन्यास में सब कुछ है, लेकिन तुम नहीं हो।"

"मैं नहीं हूँ!" उसने जैसे चौंक कर कहा—"यह तुम क्या कहते हो? सच तो यह है कि अगर इसमें ये सब चीजें न होतीं तो मैं जहर खा लेता।"

"जहर खा लेते?" मेरे मुंह से निकला।

"हां, जहर खालेता," उसने कहा,—"कोतवाल, मुख्तयार और ढोर्डों का प्रेम और शान्ति, सोमा तथा बालू भैया की याद, कमलनाथ का पागलपन, आशा के मटमैले चेहरे की कसक और मां की आंखों में में तैरते आंसू मुझे जिन्दा रखे हैं। वह घृणा मुझे जीवित रखे है जो...."

"नहीं शशि," मैंने कहा,—"तुम्हें कुछ और भी जीवित रखे है।"

"वह क्या ?" शशि ने पूछा।

"तुम्हारी यह आकांक्षा कि ईमानदारी से काम करते हुए भी तुम दो जून रूखी-सूखी रोटी पा सकते हो।"

"लेकिन यह क्या मेरी ही आकांक्षा है, तुम्हारी नहीं है ?" शशि ने कहा—"इसमें ऐसी अचरज की क्या बात है ?"

"इसमें अचरज की बात यह है कि बार-बार ठोकर खाने पर भी तुम्हारी यह आकांक्षा खण्डित नहीं होती," मैंने कहा—"इससे भी बढ़ कर यह कि तुम रूखे रह कर केवल रूखी रोटी ही चाहते हो, चिकने-चुपड़े बन कर चिकनी-चुपड़ी और मोती-जड़ी रोटी के पीछे तुम नहीं लपकते।"

शशि ने जैसे सुना अनसुना कर दिया। कुछ देर चुप रह कर एकाएक बोला :

"तुम्हें एक खुश-खबरी सुनाऊं ?"

"क्या ?" मैंने पूछा।

"मैंने एक डायरी लिखी है।"

डायरी की बात सुन कर मेरी उत्सुकता का वारापार नहीं रहा। सच तो यह है कि वह अपनी डायरी की बात कहने और उसे सुनाने के लिए ही आया था, लेकिन चर्चा शुरू हो गई उपन्यास को लेकर।

शशि के चले जाने पर मैंने डायरी के पन्ने उलटे-पलटे, फिर उसे पढ़ना

शुरू किया। डायरी बड़ी थी,——इस उपन्यास से भी बड़ी। और अचरज की बात तो यह कि उसमें सब कुछ था, लेकिन शशि के बारे में एक भी शब्द नहीं था,——मानो अपने-आप में, अलग-थलग, उसका कोई अस्तित्व ही न हो !

यहाँ भी चिराग तले अंधेरा ही था।

लेकिन शशि को कहां खोजा जाए——चिराग तले के अंधेरे में, अथवा उसके प्रकाश में ?

——नरोत्तम नागर

फूल और पतझर

ताना-बाना

: १ :

पिता का आश्रय और अपनी मां का आंगन, बल्कि कहना चाहिए कि कालेज की पढ़ाई, छोड़ कर शशि ने आश्रम में प्रवेश किया। राष्ट्र के तथा अपने उत्थान की ओर शशि जितना ही अधिक अग्रसर होता, उतना ही अधिक पीछे एक चीज़ छूटती जाती। वह चीज़ थी शशि की मां, उसका अपना बचपन, बचपन की स्मृतियां, घर और स्कूल से भाग कर उसका आवारा घूमना, आवारगी के पांव में बेड़ी डालने के लिए उसका विवाह, विवाह के प्रति उसकी नाराज़गी, इस नाराज़गी पर पानी डालने वाला उसकी पत्नी का मादक सौन्दर्य, और इन सब से भी बढ़कर पिता के कटाक्ष-बाण—"बस, बहुत हो चुका। घर पर बैठा कर मैं सारी उम्र तुम्हारा दोज़ख़ नहीं भर सकता। कोई काम-धाम देखो, और मुझे छुट्टी दो!"

और शशि की मां?

मां की ओर शशि नहीं देखता था, देखना चाहता भी नहीं था। लेकिन मां से, और बचपन की स्मृतियों से, पीछा छुड़ाना इतना आसान नहीं था। शशि उनसे दूर भागना चाहता, और वे उसे अपनी ओर खींचती।

मां की स्मृति शशि के लिए जितनी मधुर थी, उतनी ही वह कटु भी थी। जीवन का मधुरतम स्वप्न भी जैसे उसके लिए दुःस्वप्न बन गया था।

मां की ओर नहीं, शशि देखना चाहता था अपने पिता की ओर,—उन पिता की ओर जो मां का मूल्य नहीं समझ सके, मां का मूल्य गिरा कर, उसे पांव-तले रौंद कर ही जो अपना अस्तित्व सार्थक करना चाहते थे।

लेकिन इसके लिए क्या अकेले पिता ही दोषी थे? नहीं, स्वयं मां भी जैसे अपना मूल्य नहीं समझती थीं, समझना चाहती भी नहीं थीं। अपने को निर्मूल्य करना, तिल-तिल करके गलना और अन्त में शेष हो जाना ही वह जानती थीं, और यही उन्होंने किया भी।

यह नहीं कि मां छटपटाती नहीं थीं, हाथ-पांव नहीं पटकती थीं और छुटकारा पाने का कोई प्रयत्न किए बिना ही अपने को तिल-तिल करके गल जाने देती थीं। नहीं, ऐसा नहीं था। पिता से खटपट होने पर साल का अधिकांश भाग वह मायके में बिताती थीं, पिता का ज़रा-सा भी एहसान उन पर न रहे इसलिए अपना और अपने बाल-बच्चों का अधिकांश ख़र्च वह मायके से चलाती थीं, एक ठाकुरजी को छोड़ और किसी के सामने माथा झुकाने का उन्हें अभ्यास नहीं था, लेकिन पिता को उन्होंने फिर भी नहीं छोड़ा।

शशि की समझ में नहीं आता था कि बात क्या है। पिताजी जब सामने आते थे, मां मुंह फेर लेती थीं, सीधे मुंह जवाब देना जैसे वह जानती ही नहीं थीं, लेकिन पिता के आंखों की ओट होते ही वह आंसू बहाने लगती थीं।

वे पश्चाताप और खीज के आंसू होते थे। कभी मां अपने को भला-बुरा कहती थीं, कभी पिता को और कभी उन्हें जिन्होंने ऐसे घर में ले जाकर उन्हें पटका। मां के साथ-साथ शशि भी आंसू बहाता था, और आंसू सूख जाने पर वह गुस्से और झुंझलाहट का पुतला बना घूमता था। कोई भी बहाना खोज वह अपनी बहिन की मरम्मत करता, अपनी पुस्तकों के पन्ने फाड़ता और होली का मौसम न होने पर भी दावात की स्याही से कपड़े रंग डालता।

अन्त में वही होता जो कि शशि चाहता था। पिता झल्ला कर उठते,

बांह पकड़ कर उसे अपनी ओर खींचते, कान ऐंठने से लेकर लात-घूंसों तक का प्रयोग करते और शशि, आंख से एक भी आंसू बहाए, इस तरह उनकी ओर देखता मानो कह रहा हो—"तुम भी कितने जंगली हो!"

लेकिन शशि के जीवन में मां का तिल-तिल कर गलना और पिता का जंगलीपन ही न था, कुछ और भी था। एक समय ऐसा भी था जब गृहस्थी की खटपट और शशि की शैतानी ने इतना उलटपंथी रूप धारण नहीं किया था, खटपट के साथ जब जीवन में प्यार भी था और दुलार भी।

बात उन दिनों की है जब कि शशि काफ़ी छोटा था। घर में वह था, उसकी मां थी और पिता थे। शशि को दोनों ही अच्छे लगते थे—मां भी, और पिता भी।

शशि छुटपन में बड़ा शैतान था। ऐसी शैतानी वह करता था जिसने उसे सबका प्रिय-पात्र बना दिया था। जब कभी भी शशि के पिता बाज़ार जाते थे, कुछ-न-कुछ लेकर ज़रूर आते थे। बाहर से आते ही पिता शशि को अपनी गोदी में उठा लेते और चीजी से उसकी मुट्ठी गरम करने के बाद पूछते—"तू किसका बेटा है?"

शशि पिता के इस प्रश्न को सुन कर बहुत खुश होता था। इससे भी अधिक खुश होता उस समय जब वह पिता के प्रश्न का उत्तर देता,—मां की ओर संकेत करके!

पिता की तरह शशि की मां भी इस प्रश्न को दोहराया करतीं और पिता की तरह उन्हें भी शशि वैसा ही उत्तर देता—अर्थात् मां के प्रश्न करने पर वह पिता की ओर संकेत करता, और पिता के प्रश्न करने पर मां की ओर।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि पिता और मां, शशि को गोदी से उतार कर, नीचे खड़ा कर देते। फिर दोनों, एक साथ खड़े होकर, एक स्वर में, इस प्रश्न का कोरस शुरू करते—"तू किसका बेटा है?"—और शशि, दूर हटते हुए, कहता—"किसी का भी नहीं!"

शशि का यह उत्तर सुन सब खिलखिला कर हँस पड़ते थे। शशि के शब्द-कोष में किसी-का-भी-नहीं का अर्थ था सबका, और दूर हटने का अर्थ था पास-आना। खेल-ही-खेल में उसका एक निराला शब्द-कोष तैयार होता जा रहा था।

शशि को पिता भी अच्छे लगते थे और मां भी। दोनों मिलकर एक-स्वर में जब उससे प्रश्न करते थे, तब उसे और भी अच्छा लगता था। लेकिन आगे चल कर इस खेल का स्वर भंग होने लगा। दोनों को साथ लेकर चलना शशि के लिए उत्तरोत्तर कठिन होता गया।

शशि को लगता था कि जैसे कुछ खो गया है। खेल तो वह अब भी खेलता था, लेकिन पिता इस खेल से गायब रहने लगे। मां और वह, दो जने ही अब इस खेल में हिस्सा लेते थे। जिस संयुक्त स्वर को सुनने का शशि अभ्यस्त हो गया था, वह अब नहीं सुनाई पड़ता था।

शशि मां के साथ आँख-मिचौनी और खो-गई-वाला खेल भी खेलता था। खेल का यह रूप भी शशि को अच्छा लगता था। अपनी आँखें बंद करने के बाद शशि कहता, "मां, देखो मैं खो गया!"

बेचैनी का पूर्ण अभिनय करते हुए मां उससे कहती, "अरे हाँ, शशि तो सचमुच में खो गया!"

और कहते-कहते मां अपनी आँखें बंद कर लेतीं।

मां का अभिनय शशि को बड़ा अच्छा लगता। फिर अपनी आँखें खोल कर वह कहता, "मां, मैं आ गया!"—मां भी आँखें खोल कर उत्तर देतीं, "अरे हाँ, शशि तो यह रहा। मैं तो इसे खोजते-खोजते हैरान हो गई थी!"

आँखें बंद करने और खोलने से ही खोने-पाने का यह खेल पूर्ण हो जाता था। लेकिन नहीं, खेल न कह कर इसे खेल की भूमिका ही कहना चाहिए। शशि खेल की इस भूमिका को—कहें कि स्वयं खेल को भी—पीछे छोड़ कर आगे बढ़ चला। वह घर के किसी ओने-कोने में, अगल-बगल अथवा पिछवारे, छिप कर बैठ जाता और मां की पगध्वनि की प्रतीक्षा किया करता।

माघ मेले की बात है। शशि मां के साथ गङ्गा-स्नान करने गया था। एकाएक मां को लगा कि जैसे शशि साथ में नहीं है। इधर-उधर, अगल-बगल, घूमकर मां ने देखा और शशि सचमुच में कहीं दिखाई न पड़ा।

बड़ी परेशानी हुई। कई घंटे बाद सेवा-समिति के पण्डाल में शशि मिला। रोते-रोते उसकी आँखें लाल हो गई थीं, कपोलों पर अभी भी आंसुओं के दाग़ दिखाई पड़ रहे थे। मां को आते देख वह फिर रोने लगा।

गोदी में लेते हुए मां ने कहा, "[illegible] तो तूने झखा मारा, शशि। कहां रह गया था तू!"

सुबकियों के बीच शशि ने कहना शुरू किया, "कहीं भी नहीं। मैं तो वहीं खड़ा था। तुमने मुझे देखा तक नहीं, और छोड़ कर चल दीं!"

मां का जी भर आया। शशि को हृदय से लगाते हुए बोली, "अरे नहीं, अपने शशि को भला मैं कहीं छोड़ सकती हूँ!"

: २ :

शशि अपनी मां के जीवन का एक मात्र आधार था और शशि का जीवन उसकी मां थी। खोने-पाने के खेल खेलते समय एक क्षण के लिए भी शशि यह नहीं सोच सकता था कि मां उसे खोज सकने में समर्थ नहीं हो सकेगी। मां की शक्ति-सामर्थ्य के प्रति शशि के हृदय में एक तरह का सहज विश्वास, अनायास ही, घर करता जा रहा था।

माघ मेला में खो जाने का प्रसंग जितना दुःखद था, उतना ही उसका उपसंहार मधुर। शशि मां के साथ पलंग पर पड़ा था और मां अपने बचपन की बातें उसे सुना रही थी। शशि को बड़ा अच्छा लग रहा था। कितनी ही बातों को वह दोहरा-तिहरा कर पूछता, और फिर भी उसका जी नहीं भरता।

"और मां," शशि ने उछाह-भरे स्वर में पूछा—"करेला बाबा कहां से आए थे?"

"वह बहुत पहुँचे हुए बाबा जी थे," मां ने कहा, "खेतों में से कच्चा

करेला तोड़-तोड़ कर खाते और घूमते रहते। तेरे नाना जी ने एक दिन उन्हें देख लिया। बस, अपने साथ लेते आए।"

बाबा जी पहुँचे हुए थे या नहीं, यह जानने की उत्सुकता शशि को नहीं थी। उसे जो बात अजीब लगी, वह यह कि बाबा जी एकदम कच्चा करेला कैसे खाते थे। शशि को तो खूब मसाला भर कर बनाया हुआ करेले का साग तक अच्छा नहीं लगता था। पहले-पहल जब करेला घर में आया था, तभी से शशि के हृदय में उसके प्रति अरुचि समा गई थी, और आज दिन तक भी करेला के साथ उसका समझौता नहीं हो पाया था।

मां तो कहती थी कि करेला बाबा पहुँचे हुए बाबा जी थे, और शशि को जैसे लग रहा था कि वह निरे जंगली थे।

"करेला खाते मिले थे!" शशि ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा, "करेला तो बहुत बुरा होता है!"

"लेकिन शशि", मां ने कहा, "बाबा जी जंगली नहीं थे। बाबा जी बनने से पहले वह ज़रूर कहीं के राजा रहे होंगे। खाने की इतनी चीज़ों के नाम तथा स्वाद उन्हें याद थे कि जो सुनता था, दंग रह जाता था। वह बहुत पहुँचे हुए सिद्ध थे।"

करेला बाबा पहुँचे हुए होंगे। यह भी हो सकता है कि बाबा जी बनने से पहले वह बहुत बड़े आदमी रहे हों—कल्पना के सहारे उन्हें राजा भी बनाया जा सकता है, और कल्पना को छोटा करने पर किसी राजा का रसोइया-मात्र भी। कहने को यह भी कहा जा सकता है कि करेला की तरकारी ढंग से न बना सकने के कारण ही उन्हें राजसी भण्डार-गृह से बाहर निकाल दिया गया, और तभी से वह करेला बाबा बन गए!

करेला बाबा का अतीत चाहे जैसा रहा हो, लेकिन शशि की मां का अतीत, उनका बचपन, अवश्य राजसी रहा था। ऐसे घर में मां ने जन्म लिया था जिसके लिए, सन सत्तावन का गदर, लक्ष्मी का वरदान बनकर आया था। लक्ष्मी तो पहले ही से इस घर पर प्रसन्न थी, जब-तब कृपा-

कटाक्ष करती रहती थी, लेकिन सन सत्तावन में तो लक्ष्मी ने जैसे इस घर के गले में वरमाला ही डाल दी !

"बड़े बुरे दिन थे वे," मां ने बताना शुरू किया, "बाहर लूट-मार मच रही थी और घर में ताई के बालक होने वाला था। ऐसी हालत में दाई कहां से मिलती। बड़ी मुश्किल से एक दाई खोज-खाज कर लाई गई। लेकिन वह भी जच्चा को अध-बीच छोड़ कर भागने को तैयार हो गई। सब के हृदय आशङ्का से भरे थे। यह कि लूटने वाले अब आए, अब आए !"

आखिर ताऊ जी ने सबको धीरज बंधाया। उन्होंने कहा, "घबराने की कोई बात नहीं। मैं बाहर जाकर अभी सब ठीक किए देता हूँ।"

पचास कच्चे रुपये ताऊजी ने अपनी कमर से बांधे, और बाहर जाकर बैठ गए। लूटने वाले जब आए तो ताऊजी ने उनसे कहा, "मैं ग़रीब ब्राह्मण हूँ और घर में बाल-बच्चा होने वाला है। घर में लूट-मार न मचा कर तुम्हें जो लेना हो, यहीं ले लो।"

इसके बाद ताऊजी ने पचास रुपये कमर से खोल कर उन्हें दे दिए और कहा, "देखो, इस कोठरी में अनाज भरा है। बाहर से ही इसकी दीवार तोड़ कर जितना चाहो, ले जाओ।"

"तो उन्होंने दीवार तोड़ी ?" शशि ने पूछा।

"हाँ, उन्होंने दीवार तोड़ी", मां ने कहा, "लेकिन अनाज बांध कर ले जाने में उन्हें सुविधा नहीं हुई। दीवार तोड़ने के बाद अनाज की होली-सी खेलकर वह चले गए।"

लूट-मार का जैसे एक नशा था जिसे पूरा करने के बाद वे आगे बढ़ गए। अनाज ही नहीं, लूट-मार में प्राप्त अन्य सामग्री—नगदी, गहने-आदि—का अधिकांश भी अनाज की तरह सड़क पर बिखरा पड़ा था। लुटेरे वे नहीं थे, चोर भी उन्हें नहीं कहा जा सकता, उनके सिर पर जैसे एक उन्माद-सा सवार था। लेकिन यह उन्माद एक विशेष प्रकार का था। जहाँ कहीं भी वे गोरी चमड़ी देखते थे, दो टुकड़े उसके कर डालते थे।

ताऊजी ने एक ओर जहाँ उनके लूट-मार के नशे को पूरा किया, वहाँ

दूसरी ओर अपने घर की रक्षा करने में भी सफलता प्राप्त की। अपने घर की ही नहीं, गोरी चमड़ी वाले अनेक व्यक्तियों की रक्षा करने में भी वह सफल हुए।

इन्हीं में एक मेम थी, किसी बड़े अफसर की पत्नी। उसके बच्चों को विद्रोहियों ने मार डाला था, और किसी प्रकार अपनी जान बचा कर वह ताऊजी के पास आ गई थी। उसका पति उन दिनों मसूरी में था। ताऊजी से वह बोली—"किसी प्रकार मेरी यह चिट्ठी बड़े साहब के पास मसूरी भेजवा दीजिए।"

रेलगाड़ी उन दिनों नहीं थी। डाक घोड़ा-गाड़ियों द्वारा एक जगह से दूसरी जगह ले जाई जाती थी। ताऊ जी के पास घोड़ा-गाड़ी-डाक का ठेका था। सारा अहाता डाक-गाड़ियों से भरा रहता था। अस्तबल में सैंकड़ों घोड़े हिनहिनाते थे, और मिस्त्री घर टूटी गाड़ियों की मरम्मत की खटखट से गूंजते रहते थे। कुछ गाड़ियां, जो बिल्कुल बेकार हो गई थीं, एक ओर पड़ी उन दिनों की याद में तिल-तिल करके गलती-घुनती जा रही थीं जबकि वे भी गतिशील थीं।

ताऊजी ने अपने हैड कोचवान कौरा को बुलाया। उसे मेम की चिट्ठी दी। गदर की वजह से गाड़ियों का चलना बंद था। अपने जूते के तले में उसने चिट्ठी रखी, और ऊंट पर चढ़कर सहारनपुर पहुँचा,—ऊंट पर इसलिए कि वह ऊंचाई पर रहेगा। सहारनपुर के बाद उसने घोड़ा-गाड़ी पकड़ी, आगे चलकर खच्चर पर सवार हुआ। रास्ते में अनेक बार गोलियों की सनसनाहट से उसका सामना हुआ, एक गोली उसके पांव में भी लगी। लेकिन ये गोलियां काली चमड़ी के नहीं, गोरी चमड़ी के खून की प्यासी थीं। कौरा ने, सही-सलामत, अपना मार्ग पूरा किया।

गदर का उत्पात शान्त होने पर ताऊजी रईसे आज़म कहलाने लगे। विलायत में उनका नाम हुआ, और दिल्ली में जब पहला दरबार हुआ तो उसमें एक कुर्सी उनके नाम से भी सुरक्षित रखी गई। लेकिन ताऊजी खुद दरबार में नहीं गए, अपने छोटे भाई को भेजा। बादशाह को भेंट करने के

लिए उन्होंने सोने के बिल्व-पत्र बनवाए जिन पर मोती जड़े थे। बादशाह ने बिल्व-पत्रों को लिया नहीं। सम्मान-सूचक ढंग से उन्हें छूकर वापिस कर दिया। ताऊजी ने इन्हें अपनी लड़कियों को बांट दिया,—एक-एक बिल्व-पत्र सब के हिस्से में आया।

ताऊजी सब से बड़े थे। सभी बड़े नगरों में उनकी कोठियां और अड्डे थे जहां डाक-गाड़ियों के घोड़े बदले जाते थे। ताऊजी के ठाठ और रौब का कोई अन्त नहीं था। लेकिन थे वह साधु प्रकृति के। रईस होते हुए भी वह रईसी से दूर थे, और अपने को पूर्व जन्म का साधु कहते थे। विचित्र दरबार लगता था उनका,—एक ओर नगर की प्रमुख वेश्याएं सलामी देने आती थीं, और दूसरी ओर बाबा-लोगों का जमघट लगता था। दूर-दूर के, भले और बुरे, असली और नकली, साधु उन्हें घेरे रहते, चिलम में गिन्नी रखकर गांजे का धुआं उड़ाते।

छोटे भाइयों को यह अच्छा नहीं लगता था। सारी रईसी बाबा लोगों की चिलमों का धुआं और वेश्याओं के घुंघरुओं की झंकार बन कर उड़ी जा रही थी। छोटे भाई दबे स्वर में विरोध करते तो ताऊजी कहते—"मेरा क्या है। मैं तो ख़ाली हाथ आया था, खाली हाथ जाऊंगा। यह रईसी मुझे बांध कर नहीं रख सकती!"

हुआ भी ऐसा ही। आयु के साथ-साथ उनकी साधु-वृत्ति भी बढ़ती गई। छोटे भाइयों के विरोध ने भी उतना ही तूल पकड़ा। ताऊजी के दबे स्वर में भी, उसी अनुपात से, तीव्रता का समावेश होने लगा। सीधे और खड़तल शब्दों में, बिना किसी लाग-लपेट के, वह कहते, "हाँ, मैं ईंट-से-ईंट बजाकर जाऊंगा!"

एक-एक करके सभी कोठियों को उन्होंने बेचना शुरू कर दिया। लेकिन इससे पहले कि सन् सत्तावन में प्राप्त रईसी पर अन्तिम यवनिका-पतन हो, उनकी मृत्यु हो गई।

कुछ लोगों का कहना है, उन्हें ज़हर दे दिया गया। जो भी हो, इस संसार में वह नहीं रहे। लेकिन मरने से पहले रईसी की जड़ें अवश्य हिला गए।

रईसी को नये सिरे से संभालने का काम इसके बाद शुरू हुआ। इस नयी व्यवस्था की अनेक मदों में से एक मद थी— लड़कियों का विवाह। शशि की मां भी इन्हीं में से एक थी।

कुल मिला कर पाँच बहनें थीं और एक भाई। सबके सामूहिक विवाह किए गए। एक साथ विवाह करने का एक ख़ास मक़सद था। वह यह कि परेशानी कम होगी, इससे भी अधिक यह कि ख़र्च कम होगा।

पाँचों बहनों का ब्याह हो गया—जिसके भाग्य में जो भी पड़ा। एक ही मां से उत्पन्न बहनें, एकाएक, एक दूसरे से दूर और इतने अधिक भिन्न सामाजिक स्तरों पर पहुँच गईं कि उनमें कोई साम्य नहीं रहा। मायके में जब कभी किसी अवसर पर वे सब एक साथ जमा होतीं, तब मालूम होता कि एक ही स्रोत से सब निकली हैं।

: ३ :

अपने दादा जी को देखने के अवसर शशि को जीवन में बहुत ही कम मिले थे। लेकिन फिर भी उनकी स्मृति शशि के हृदय पर अङ्कित थी। उसे लगता था कि उसके हृदय के निकट जितना अधिक दादा जी रहे हैं, उतना अधिक पिताजी नहीं रह सके।

दादा जी के साथ नीम की निम्बोलियाँ बटोर कर लाना शशि का नित्य का काम हो गया था। वह सब कुछ भूल सकता था, लेकिन नीम की निम्बो-लियाँ बटोरना नहीं। नीम-जैसे कड़वे वृक्ष की मीठी निम्बोलियाँ,—लेकिन वह इन्हें बटोरता ही था, चखता नहीं था।

दादा जी घर के झगड़े-झंझटों से अलग अपनी बैठक में रहते थे। वह शतरंज के बहुत शौकीन थे। केवल खाना खाने के वक़्त घर आते थे। इसके बाद, गई रात तक, शतरंज की बैठक चलती थी। सांझ का खाना बाज़ार से आता था।

ख़ाली बाज़ी वह नहीं खेलते थे। शशि भी बगल में बैठा रहता था। वह उनसे कहता, "दादाजी, पैसा!"

दादा जी उत्तर देते, "आने दे, अभी देते हैं।"

शशि पास बैठा मनाया करता,—"दादा जी कभी न हारें, सदा जीतते ही रहें !"

हार-जीत का खेल खेलना दादा जी का जीवन था। इसके लिए, सैंकड़ों मील का रास्ता तय कर, वह दिल्ली तक जाते थे।

एक बार सौ का नोट लिए उन्होंने घर में प्रवेश किया। शशि की मां को पुकार कर बोले, "बहू, तू बड़ी भाग्यवान है। तेरा नाम लेकर मैंने पासा फेंका था। ले, यह तेरे ही रुपये हैं !"

दादा जी ने बात तो ठीक कही थी। लेकिन यह कौन बताए कि इतनी भाग्यवान बहू को पाने के लिए उन्होंने किसका नाम लेकर पासा फेंका था। जो भी हो, बहू की भांति वे रुपये उतने ही भाग्यवान नहीं निकले। उनके घर में आते ही सब ऐसे बीमार पड़े कि सारे रुपये डाक्टरों की जेब में चले गए। काया-कष्ट जो उठाना पड़ा, वह अलग। मां ने कहा, "जुए के रुपये कभी नहीं फलते !"

हाँ, जुए के रुपये नहीं फलते। लेकिन मां के जीवन में और भी बहुत कुछ था जो फलने-फूलने से वञ्चित रह गया था। लेकिन अभी दादा जी का ही ज़िक्र करना है। अन्तिम बार जब दादा जी बीमार पड़े, उस समय भी शशि मौजूद था। बैठक से उठाकर उन्हें घर पर ले आया गया था।

अभ्यासवश एक दिन शशि दादा जी की बैठक में गया। कितने ही दिनों से बैठक को किसी ने साफ़ नहीं किया था। फ़र्श पर धूल जमा थी। दादा जी की शतरंज के मोहरे इधर-उधर, उलटे-सीधे, बिखरे पड़े थे।

दादा जी को तेज़ बुख़ार चढ़ा था। शशि पायताने बैठा काँसी के कटोरे से उनके तलुवे सहला रहा था। दादा जी उसकी ओर देखते थे, कुछ क्षण देखते रहते थे, फिर आँखें बंद कर लेते थे।

शशि ने देखा, दादा जी की आँखें डबडबा आई हैं। उस समय पास में और कोई नहीं था। दादा जी थे और शशि। प्रियजन की मृत्यु-शैया के चारों ओर खड़े होकर आँसू बहाने वाले सगे-सम्बन्धियों की भी जैसे उन्हें कोई ज़रूरत नहीं थी। अपनी मृत्यु पर वह आँसू भी ख़ुद ही बहा रहे थे !

हृदय के अन्ततम प्रदेश से निकले इन अ-मूल्य आँसुओं को बटोरने का साहस शशि उस समय नहीं कर सका। उसे कुछ डर-सा भी मालूम दिया। वहाँ से उठकर वह भीतर अन्दर के कमरे में चला गया।

घर में बूढ़ी ताई मौजूद थीं। उन्हीं के पास जाकर शशि बैठ गया। कुछ क्षण चुप रह उसने कहा, "ताई, दादा जी के पास तो डर लगता है। कितनी देर तक वे मुझे एकटक देखते रहे। उनकी आँखें न-जाने कैसी होगई हैं। फिर वे रोने लगे।"

ताई की एक टांग में कुछ कज आगया था। लंगड़ा कर चलती थीं। इसलिए सब उन्हें लंगड़ी ताई कहते थे। पहले यह सम्बोधन उन्हें बुरा मालूम होता था। फिर जैसे-जैसे आयु बढ़ती गई, इस सम्बोधन के प्रति उनका रोष भी कम होता गया। घर-बाहर के जितने भी छोटे-बड़े आते थे, सब उन्हें लंगड़ी ताई कहते थे।

ताई ने शशि को अपने और निकट खींच लिया। फिर उसके मुँह को इस तरह देखने लगीं मानो कोई खोई चीज़ ढूँढ़ रही हों। टांग के साथ-साथ उस समय उनका स्वर भी लड़खड़ा रहा था। वह कह रही थीं, "आँसू आया ही चाहें, बेटा! तुझे देखकर तेरे बाबू जी की उन्हें याद आगई होगी!"

दादा जी के बैठक-वासी होने से पूर्व का इतिहास सुनाने के बाद ताई ने कहा, "सच पूछो तो उनकी मृत्यु तो उसी दिन हो गई थी, घर छोड़ कर जब उन्होंने बैठक में सबसे अलग और सबसे दूर रहना शुरू किया था।"

दादा जी शशि के पिता को बहुत चाहते थे। पिता जी ने जब जन्म लिया था, उस दिन घर पर मृत्यु की काली छाया मंडरा रही थी। पिताजी तो बच गए, पर उनकी मां न बच सकीं। पुत्र के जन्म और पत्नी की मृत्यु—जीवन के सुख-दुःख की यह दोनों अनुभूतियाँ उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थीं।

पुत्र के जन्म के साथ दादा जी के जीवन का सूर्य उदय हुआ है या अस्त, इसे वह अपने जीवन की हार समझें अथवा जीत,—एकदम ओर-छोर

की इन दो विरोधी भावनाओं से दादा जी घिर गए। जब कभी भी वह अपने नवजात पुत्र की ओर दृष्टि उठा कर देखते, सियाह-सफेद के जाल-जाल में उलझकर रह जाते।

एक बात प्रत्यक्ष थी। वह यह कि उनका पुत्र साधारण नहीं था। माँ का पेट चीर कर जिस पुत्र ने जन्म लिया था, वह भला साधारण कैसे हो सकता है। सगे-सम्बन्धियों तथा मिलने जुलने वालों में से जो कोई भी दादाजी के पास आता, वह भी यही कहता कि या तो उनका पुत्र महान होगा अथवा....?

पुत्र जैसे-जैसे बड़ा होता जाता था, दादा जी के हृदय का यह द्वन्द्व भी बढ़ता जाता था। इस बात की दादाजी पूरी कोशिश करते थे कि उनके पुत्र का जीवन कहीं से भी स्खलित न हो। अपने पाँव पर खड़ा होकर जब वह चलने लगा तो बड़े ध्यान से दादा जी देखा करते कि कहीं उनके पुत्र का पाँव टेढ़ा तो नहीं पड़ रहा है!

दादा जी पुत्र को अपने हृदय की परिधि के भीतर घेर कर रखते थे। लेकिन सफल नहीं हो सके। जितना ही अधिक वह अपने पुत्र को घेर कर रखना चाहते, उतना ही अधिक वह उनसे दूर हटता जाता।

दादा जी की चिन्ताओं का कोई अन्त नहीं था। जीवन का मधुरतम स्वप्न भी उनके लिए दुःस्वप्न हो चला। अपने ही पुत्र से वह भय खाने लगे!

परिचित व्यक्ति उन्हें धीरज बंधाया करते, "आप व्यर्थ ही चिन्ता करते हैं। दुनिया में जिसे एक दिन कुछ बनना होता है, वह किसी एक का होकर नहीं रह सकता। उसे बाँध कर रखने की सभी चेष्टाएं व्यर्थ जाती हैं।"

दादा जी की समझ में बात आ गई। इसके बाद पुत्र की टेढ़ी चाल भी उन्हें सीधी दिखाई देने लगी। सब से अधिक आश्वस्त हुए वह उस समय जब उन्होंने देखा कि अनायास ही, जैसे राह चलते, लड़के के लिए बड़े घर की बहू उन्हें मिल गई है। उन्होंने सोचा, निस्सन्देह, उनका लड़का एक दिन कुछ बनेगा। यदि ऐसा न होता तो सहज ही इतने बड़े घर की बहू उसे कभी न मिलती?

दादा जी के जीवन की जैसे यह सब से बड़ी जीत थी। लेकिन जीवन की यह सबसे बड़ी जीत ही उनके लिए हार भी सिद्ध हुई। बहू के हाथ की मेंहदी अभी फीकी भी न पड़ पाई थी कि लड़का घर छोड़ कर भाग गया। दादा जी के घुटने टूट गए। आँखों में आँसू-भर उन्होंने अपनी लक्ष्मी-बहू को मायके के लिए विदा कर दिया।

शशि उस समय अपनी मां के पेट में था।

: ४ :

मामा के घर शशि का जन्म हुआ। जन्म ही नहीं, लालन-पालन भी शशि का मामा के यहाँ हुआ। कई वर्ष बाद जब पिता लौट कर आए तो वह उन्हें पहचानता भी नहीं था।

पहचानते तो उसे पिता भी नहीं थे। लेकिन शशि देखने में बड़ा सुन्दर था। मामा के घर सब उसे हाथों-हाथ उठाए फिरते थे। ज़रा-सी धूल भी पाँव में लग जाती तो वह रोने लगता। ऊपर-से-नीचे तक, वह निर्मल रहता, बिल्कुल स्वच्छ और साफ़।

पिता को जब बताया गया कि वह उन्हीं का पुत्र है तो चकित रह गए। एकाएक उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि वह उन्हीं का पुत्र हो सकता है।

लेकिन अपने पुत्र के प्रति अविश्वास किसी को भी प्रिय नहीं होता। एक क्षण के लिए पिता के हृदय में जिस अविश्वास ने घर किया था, उनके प्रेम की अनुभूति को घनी-भूत कर वह अविश्वास विलीन हो गया।

पिता ने शशि को अपनी गोद में लिया। यह शायद पहला अवसर था जब किसी बच्चे को उन्होंने अपनी गोद में लिया था। पिता जी के प्रेम का यह अनभ्यस्त प्रदर्शन शशि को कुछ बोझल मालूम हुआ। वह रोने लगा।

शशि की मौसियों में से एक भाग कर गई और लौट कर पिता जी के हाथ में एक खिलौना देते हुए बोली, "यह लीजिए, इसे शशि को दिखाइए तो चुप हो जायगा।"

पिता बच्चों को चुप करने में दक्ष नहीं थे, और यह एक ऐसा काम था जो आगे चलकर भी उन्हें नहीं आया। खिसिया कर खिलौने के साथ-साथ शशि को भी उन्होंने लौटा दिया।

शशि की मां सुबह होते ही स्नान करती थीं और इसके बाद ठाकुर जी की पूजा करने बैठ जाती थीं। पूजा करते समय वह शशि को अपने पास नहीं आने देती थीं। शशि को यह अच्छा नहीं लगता था और वह मन-ही-मन ठाकुर जी से कुढ़ता था। लेकिन जब प्रसाद देने का नम्बर आता था तो मां सब से पहले शशि को ही पुकारती थीं। शशि प्रसाद पाकर बहुत खुश होता और उसे ऐसा मालूम होता मानो उसे प्रसाद देने के लिए ही मां ठाकुर जी की पूजा किया करती हैं।

शशि मन-ही-मन सोचता—जिन ठाकुर जी का प्रसाद इतना मीठा होता है, वह स्वयं कितने मीठे होंगे। ठाकुर जी के मिठास की बानगी देखने के लिए वह उतावला हो उठता।

और एक दिन शशि को इसका अवसर मिल गया।

उस दिन मां किसी काम में व्यस्त थीं। शशि ऐसे ही मौके की खोज में था। चुपचाप ठाकुर जी के पास पहुँचा। छोटे-से पालने में; फूल-पत्तियों से सजे, ठाकुर जी बैठे थे। शशि ने पालने को उठा लिया। शालिग्राम जी की बटिया उसे बड़ी अच्छी लगी। झट-से मुँह में धर गया। इसके बाद पीतल के छोटे-से गणेश जी की मूर्ति को वह देख रहा था कि एकाएक पालना हाथ से छूट कर झन्न-से नीचे आ गिरा।

आवाज़ सुनकर मां दौड़ी हुई आईं। देखा, ठाकुर जी का पालना नीचे पड़ा है। उठाकर सब ठीक किया। फिर शशि की ओर देखा। पूछा, "मुँह में क्या है?"

शशि चुप।

मां ने पकड़कर शशि का मुँह खोला। शालिग्राम जी की बटिया बाहर निकल आई।

उस समय मां ने शशि से कुछ नहीं कहा। चुपचाप चली गईं।

दूसरे दिन, पहली बार, मां ने शशि को ठाकुर जी की पूजा में सम्मिलित किया।

सवेरे उठकर अपने साथ मां ने शशि को स्नान कराया। फिर ठाकुर जी के सामने ले जाकर बोलीं, "हाथ जोड़कर इन्हें नमस्कार करो!"

मां की ही प्रति-मुद्रा में, आँखें बंद किए, शशि ने ठाकुर जी को नमस्कार किया। आँखों में आँसू-भरे मां उसे देखती रहीं।

शशि को ऐसा मालूम हुआ जैसे वह स्वर्ग में पहुँच गया हो। वह चाहता था कि उसकी इस पूजा का कभी अन्त न हो। वह इसी प्रकार, मां की प्रतिमुद्रा में, चिरकाल तक ठाकुर जी के सामने बैठा रहे, और मां इसी प्रकार उसे देखती रहे—आँखों में आँसू और हृदय में उल्लास भरे!

: ५ :

शशि के दादा जी ने बहू के रूप में बड़े घर की कन्या को पाकर समझा था कि अब घर का अंधकार दूर होने में देर नहीं लगेगी। बहू के बड़े घर से वे अपने लड़के के बड़े भाग्य की माप करते थे। हृदय के आन्तरिक सन्तोष के साथ बड़े घर की बहू को उन्होंने अपने लड़के को सौंपा,—पैबन्द लगे कपड़ों पर जैसे वह राजमुकुट रख रहे हों? लेकिन इससे कपड़ों की मलिनता दूर नहीं हुई, बल्कि राजमुकुट ने उसे और भी प्रत्यक्ष कर दिया।

पिता ने बड़े घर की बहू को मां तो आसानी से बना दिया, लेकिन पत्नी नहीं बना सके। यह एक ऐसी बात थी जो पिता को अखरती थी। साथ में आ मिला पैसे का अभाव। खर्च के लिए मां पति से अधिक मायके की ओर देखतीं। यह पिता को और भी अखरता, उनका गुस्सा और भी तीखा हो उठता। कभी-कभी, मां को परेशान करने के लिए, वह जान-बूझ कर भी हाथ खींच लेते। खुद तो जाकर बाजार में खा आते, और घर के लिए रसद तक लाने से इन्कार कर देते।

घर में अब अकेला शशि ही नहीं था। एक के बाद एक दो बहनें

और आगई थीं। ख़र्च बढ़ गया था, लेकिन आमदनी नहीं बढ़ी थी। लेकिन पिता सब कुछ देखकर भी यह नहीं देखते थे। जब कभी मां उनसे किसी चीज़ की मांग करतीं तो उन्हें यही मालूम होता कि उनकी निर्धनता का उपहास करने के लिए ही यह सब किया जाता है।

पिता जी को लगता कि वस्तुतः मां को किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत होने पर ही मां किसी चीज़ के लिये कहती हैं, इस बात का उन्हें कभी यक़ीन नहीं हुआ। जब कभी भी ऐसी कोई बात उठती, वह यही समझते कि उसके लिए मां ने मायके से पहले ही प्रबन्ध कर लिया है। अब जो उस बात को उभार कर रखा जा रहा है, वह केवल उन्हें चिढ़ाने के लिए!

पिता जी मां के मायके की सम्पन्नता से असन्तुष्ट थे। ठीक असन्तोष न कहकर एक प्रकार की झुंझलाहट इसे कहना चाहिए। इस झुंझलाहट का शिकार होती थीं मां। चोट मां पर पड़ती थी, और पिता जी समझते कि मायके की सम्पन्नता खंडित हो रही है!

पिता जी को असन्तोष होना चाहिए था अपनी असम्पन्नता पर। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। न-केवल इतना ही, वरन् अपनी असम्पन्नता का दोष भी वह मां के मायके को ही देते थे। मां के मायके की सम्पन्नता ने ही जैसे उन्हें भी असम्पन्न बना रखा था!

चित्र का एक पहलू और था। पिता उसे नहीं देखते थे, लेकिन मां देखती थीं। रह-रहकर वह सोचतीं—"यदि मायके का सहारा न होता तो क्या होता?"

लेकिन पिता सोचते—"मायके की सम्पन्नता ही सब झगड़ों की जड़ है। उसी ने उनके जीवन को इतना असहत्वपूर्ण बना दिया है!"

स्थिति जब असह्य हो जाती तो मां ठाकुर जी की शरण लेतीं। मां ठाकुर जी को भी मायके से ही अपने साथ लाई थीं। शशि के मामा जी ने आँखों में आंसू भर कर ठाकुर जी की यह मूर्ति मां को प्रदान की थी। कहा था, "इन्हीं के सहारे तेरे सब कष्ट दूर हो जाएंगे, बहिन!"

लेकिन ठाकुर जी ने मां के कष्टों को दूर नहीं किया। ऐसा मालूम होता था कि ठाकुर जी मां के कष्टों को दूर न करके मां की परीक्षायें लेने पर उतर आए हैं।

विरोध उच्चतम शिखर पर पहुँचता उस समय जब मां को चिढ़ाने के लिए पिता ठाकुर जी पर प्रहार करते।

मां ठाकुर जी की पूजा करतीं। पिता को यह भी सहन नहीं होता। मां तिलमिलाती रह जातीं, पिता ठाकुर जी को जेब में रख बाहर चल देते। मां का जीवन ठाकुर जी थे, पिता का जीवन ठाकुर जी से इन्कार करना। रोज़-रोज़ झगड़ा, रोज़-रोज़ पिता के हाथों का बे-काबू होना। बीच में रौंदे जाते थे घर के जीव-जन्तु,—बच्चे-कच्चे!

शशि कभी ठाकुरजी को कोसता, कभी पिता को। स्तब्ध रह जाता उस समय जब, माथा ठोंक कर, मां कहतीं, "इन्हीं मरों की वजह से मुझे सब कुछ सहना पड़ रहा है। यह न होते तो मैं एक घड़ी इस घर में नहीं रहती!"

लेकिन यह घड़ी हिर-फिर कर आती रहती। अपने सामान के साथ-साथ, बच्चे-कच्चों का बोझ लादे, साल का अधिकांश का भाग मां अपने मायके में बितातीं!

: ६ :

शशि का अब घर में दम घुटता। उसका अधिकांश समय घर से बाहर बीतता। उसे बहुत अच्छा लगता, जब कोई उसे आवारा कहता।

पिता के पास, शशि के सम्बन्ध में, रह-रह कर शिकायतें पहुँचने लगीं। मां को कोंचने का उन्हें एक और अस्त्र मिल गया। छूटते ही कहते—"तूने ही सिर पर चढ़ा कर इसे बिगाड़ा है!"

फिर वह शशि को सीधा करने की ओर आगे बढ़ते। शशि को बुरी तरह पीटते। अन्त में मां शशि को गोदी में उठातीं, बदन पर लगी धूल और मुँह पर लगे आँसू पोंछतीं। पिता की मार के बाद मां का प्यार शशि को प्राप्त होता।

प्यार को पाकर शशि मार की वेदना को भूल जाता। मार की चटनी के साथ जैसे प्यार का भोजन उसे मिलता। लेकिन इससे उसके घूमने में विशेष अन्तर नहीं पड़ा। आँखें बचाकर घर से खिसक जाने में वह विशेष दक्षता प्राप्त करता जा रहा था।

इसी बीच पिता जी ने एक उपाय का सहारा और लिया। यह उपाय था स्कूल। शशि को पकड़ कर जिस दिन पिता जी स्कूल ले गए, उस दिन मां ने शशि को कुछ इस तरह देखा मानों किसी सुदूर यात्रा के लिए वह उसे बिदा कर रही हों।

लेकिन स्कूल इतनी दूर नहीं था। शशि तो कालेखां के बाग तक का रास्ता नापता था। स्कूल का रास्ता भूल कर वह अक्सर कालेखां के बाग में पहुँच जाता था।

कालेखां के बाग में जिस बांकी पढ़ाई का शशि अभ्यास करता था, उसका हाल पिता से छिपा नहीं रहा। मां तो कालेखां के बाग की दूरी का हाल सुनकर ही सन्न रह गई।

शशि के साथ तीन साथी और थे। चारों कालेखां के बाग पहुँचे। कच्ची लीचियां तोड़-तोड़ कर अपनी जेबों में भर रहे थे कि माली ने देख लिया। पत्ता तोड़ सब भागे। भागने में किताबें, टोपी-आदि, न-जाने कहां छूट गए।

बाग से भाग कर माता के एक मठ में सब ने शरण ली। मठ टूटा-फूटा-सा पड़ा था। खट्टी-मीठी लीचियों के साथ-साथ माता पर चढ़े बताशों का भी भोग लगा।

इसके बाद स्कूल-से बाहर की पढ़ाई शुरू हुई। चार कोनों में सब अलग-अलग बैठ गए। एक लड़के ने खुद निरावरण हो अन्य को भी वैसा ही करने का आदेश दिया। दो ने उसका अनुसरण किया, लेकिन शशि सकुचा कर रह गया।

शशि को सकुचाते देख सब से बड़े लड़के ने कहा, "ओह, यह तो लड़कियों की तरह सकुचाता है!"

दूसरा लड़का और भी आगे बढ़ा। शशि के निकट आकर बोला, "अच्छा तो देखें, यह लड़का है या लड़की?"

तीसरा लड़का इन दोनों से भिन्न था। उसने आगे बढ़ कर दूसरे को रोकते हुए कहा, "जाने भी दो, यह रो देगा!"

लेकिन शशि के इस रोने को हंसी में परिणत होते देर नहीं लगी। घर की ओर मुँह करने पर जब हिसाब लगाया गया कि किसका क्या खो गया है तो केवल शशि ही था जो हँस रहा था। बिना किताबों के घर जाने पर जो बीतेगी, उसकी कल्पना ने शशि के तीनों साथियों का उत्साह भंग कर दिया।

घर पहुँचने के बाद शशि पर उस दिन जो मार पड़ी, उससे शशि के शरीर को चाहे जितनी चोट आई हो, लेकिन उसके उत्साह पर कोई चोट नहीं आई, उसके हृदय में कोई दरार नहीं पड़ी। अपनी आत्मा में दूनी शक्ति का उसने अनुभव किया, और सिर उठा कर वह चलने लगा।

× × ×

शशि का जीवन, और उसके खेल, स्कूल से भटक कर कालेखां के बाग में खट्टी-मीठी लीचियां खाने या माता के टूटे-फूटे मठ में, निरावरण हो, 'बीतते हुए बचपन को आते हुए यौवन का अर्घ्य' चढ़ाने तक ही सीमित नहीं थे। और भी बहुत कुछ था जो शशि के जीवन में, जाने या अन-जाने, प्रवेश कर रहा था।

१६०७ का स्वदेशी आन्दोलन शशि के जन्म से पहले ही शुरू हो चुका था। मुज़फ्फ़रपुर के ज़िला मजिस्ट्रेट किंग्स फ़ोर्ड की हत्या करने के लिए खुदीराम बोस ने बम फेंका था। उससे किंग्स फ़ोर्ड की हत्या तो नहीं हुई, उनके स्थान पर दो स्त्रियां मारी गईं। अठारह वर्ष की अवस्था में ही खुदीराम बोस का नाम समूचे देश में फैल गया। उनके चित्र प्रत्येक घर का अंधेरा दूर करने लगे। लण्डन की एक आम सभा में मदनलाल ढींगरा ने कर्ज़न विली की हत्या कर डाली, और नासिक में मिस्टर जैक्सन मारे गए। १९१२ में दिल्ली में लाट साहब की सवारी निकली और रासबिहारी बोस ने

लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका। भारत माता का एक ऐसा रूप निखर कर शशि की आँखों के सामने आ रहा था जिसकी शक्ति अपरिमित थी, जिसे बत्तीस करोड़ भुजाओं का बल प्राप्त था, अपनी सन्तानों के लिए जो सुहासिनी और मधुर भाषिणी थी और दुश्मनों के लिए काल कराला........!

यह असम्भव था कि शशि का शैशव इन सब के प्रभाव को ग्रहण न करता।

: ७ :

शशि पढ़ने में तेज़ था, पढ़ने से अधिक किताबें खोने में तेज़ था। वह जैसे यह सिद्ध करना चाहता था कि पढ़ने के लिए किताबों की ज़रूरत नहीं है,—अथवा यह कि किताबों के बिना भी पढ़ाई हो सकती है।

पिता जी शशि की इस विशेषता को नहीं समझ सके। शशि चाहता भी नहीं था कि वह समझें। यह भी हो सकता है कि उनकी समझ पर परदा डालने के लिए ही उसने किताबों का खोना शुरू किया हो।

लेकिन शशि के मास्टर इस बात को समझते थे। अनेक बार उन्हें इसका प्रमाण भी मिल चुका था कि पढ़ने के लिए शशि को किताबों की ज़रूरत नहीं होती। यह एक ऐसी बात थी जिस पर शशि के मास्टर और पिता,—दोनों कभी एक मत होकर नहीं दिए।

भिन्नता शशि और उसके पिता के व्यक्तित्व में निहित थी—वातावरण की उस गोद में भी निहित थी जिसमें कि दोनों का जीवन बीता था, बीत रहा था। बड़े घर से सम्बद्ध होने के कारण शशि की मां, अपने-आप में और शशि की दृष्टि में, चाहे जितनी बड़ी रही हो, लेकिन घर से भाग जाने के बाद पिता जी को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वे साधारण न थीं। लड़की तो लड़की, बड़े घर के किसी बड़े लड़के की कमर भी उन कठिनाइयों के सामने टूट जाती।

यह उन दिनों की बात है जब स्वदेशी आन्दोलन समाप्त हो चुका था और क्रान्ति की चिनगारियां, छिपे-छिपे, समूचे देश में ज़ोरों के साथ फैल रही थीं। मां की ममता, पिता का प्रेम, धन का मोह और मृत्यु का भय छोड़कर युवक अपनी जान हथेली पर रख आगे बढ़ रहे थे।

शशि के पिता भी इसके असर से नहीं बच सके।

अपनी शान का दबदबा जमाने के लिए, १९११ के अन्त में, अंग्रेज़ों ने दिल्ली में इतना भारी दरबार किया कि दूर-दूर तक उसी की चर्चा सुनाई देने लगी। गर्व के साथ जार्ज पंचम ने घोषणा की—"अब से भारत की राजधानी कलकत्ते के स्थान पर दिल्ली को बना कर पाण्डव कालीन प्राचीन इन्द्रप्रस्थ के वैभव का पुनरोद्धार किया जाता है।"

तभी नयी दिल्ली की नींव रखी गई। किसानों के खेतों और गांवों को उजाड़ कर नयी दिल्ली के निर्माण की तैयारियां शुरू हुईं।

शाही दरबार के एक साल बाद, १९१२ के अन्त में, जार्ज पंचम के पहले प्रतिनिधि वाइसराय बनकर भारत आए। दिल्ली में उनके प्रवेश को अनुपम बनाने के लिए ज़ोर-शोर से तैयारियां की गईं, शान के साथ उनकी सवारी निकाली गई।

वाइसराय हाथी पर सवार थे, उनके अंगरक्षक पीछे बैठे थे। सवारी के चांदनी चौक में प्रवेश करते ही न-जाने किस ओर से एक भयानक बम उन पर फेंका गया। वाइसराय तो बाल-बाल बच गए, लेकिन उनका अंगरक्षक उसी समय मर गया। वाइसराय के भी सिर के पिछले भाग में कुछ चोट आई, वह केवल बेसुध होकर रह गए।

पुलिस ने, उसी क्षण, सारे चांदनी चौक को घेर लिया। दुकानों के छज्जों और छतों पर स्त्री-पुरुष दर्शकों की भारी भीड़ थी। एक-एक की जांच-पड़ताल की गई, पर बम फेंकने वाले की परछाईं तक नहीं मिली। दर्शकों की समूची भीड़ ने जैसे उसे आत्मसात कर लिया।

इस काण्ड के मुख्य सूत्रधार थे रासबिहारी बोस। शशि के पिता का उनसे सम्पर्क स्थापित हुआ। शशि उन दिनों छोटा था। शशि के पिता ने किसी गुरुकुल में भर्ती होकर संस्कृत का अध्ययन किया था। इसी अध्ययन की पूंजी पर उनका जीवन खड़ा था। प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद तथा कुछ लड़कों को संस्कृत पढ़ाना उनके जीवन का आधार था। अंग्रेज़ी पढ़ना वह चाहते थे, लेकिन उसका अभी तक कोई सिलसिला नहीं जमा था।

रासबिहारी बोस के लिए भी पिता अनुवाद का कार्य करते थे—गीता के अनुवाद का। अंग्रेज़ों के लिए गीता उन दिनों सब से ज़्यादा ख़तरनाक पुस्तक थी,—विशेष कर उस समय जबकि वह अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे युवकों के हाथ में होती थी।

गीता के अलावा रासबिहारी बोस और भी बहुत-सी चीज़ें लाकर घर में रखते थे,—अंग्रेज़ी की पुस्तकें। अनेक बार कई बक्स भी उन्होंने लाकर रखे। मां इन चीज़ों को संगवा कर रखतीं।

जब भी रासबिहारी बोस घर आते, शशि को गोदी में लेकर खिलाया करते। खिलौने का काम वह अपने रिवाल्वर से लेते। कहते—"यह बहुत काम की चीज़ है। बच्चों को छुटपन से ही इससे परिचित होना चाहिए।"

चांदनी चौक में बम फेंकने के कुछ मास बाद देश-भर में धर-पकड़ शुरू हुई। रासबिहारी बोस सरकार के शिकंजे में नहीं आए, अन्य कितने ही पकड़े गए। शशि के पिता भी इन लोगों में थे।

शशि और उसकी मां अकेले रह गए। पुलिस का आतंक इतना था कि कोई भी सगा-सम्बंधी पास तक नहीं फटकता था। अंग्रेज़ी की किताबों को जला कर मां ने नाली में बहा दिया। फिर भी उसके कुछ चिन्ह बाक़ी रह गए। पुलिस तलाशी लेने आई। पूछा—"यह क्या है?"

मां ने कहा—"शशि का दूध गरम करने के लिए काग़ज़ जलाया था।"

तलाशी लेने के लिए पुलिस ने अनेक बार धावे किए। बमों और हथियारों की खोज में पुलिस फ़र्श तक उधेड़ डालती, दीवारों को बजा बजा कर देखती और कहीं पोली आवाज़ आने पर उस जगह की ईंटें तक निकाल डालती। सामान को उलट-पुलट करना तो मामूली बात थी। पुलिस के चले जाने के बाद ऐसा मालूम होता मानों घर में भारी भूकम्प आया हो। पुलिस जब विदा होती तो शशि खिड़की पर खड़ा होकर उन्हें जाता हुआ देखता। उनके चले जाने के बाद मां के पास आता। कहता—"चले गए मां!"

शशि और उसकी माँ के जीवन का, उनसे भी अधिक पिता के जीवन का, यह कठिनतम दौर था। जेल में उन दिनों जो यातनाएं दी जाती थीं, उनकी कल्पना तक करना कठिन है।

साल-भर बाद पिता जेल से छूटे। अंग्रेज़ी न जानना उनके लिए वरदान सिद्ध हुआ।

जेल की काल-कोठरी में बंद रहकर शशि के पिता की हिय की आंखें नहीं खुलीं, न ही उन्हें किसी दैवी शक्ति के दर्शन हुए। जेल से छूटने के बाद, अरविन्द बाबू की तरह, किसी रम्य स्थान में कोई आश्रम खोल कर वह नहीं बैठे। उन्होंने प्रवेश किया म्युनिस्पैल्टी के एक स्कूल में, और लड़कों को संस्कृत पढ़ाने लगे।

लड़कों को पढ़ाने के साथ-साथ वह खुद भी अध्ययन करते। अंग्रेज़ी पढ़ने का अभ्यास उन्होंने इसी काल में शुरू किया।

शशि ने जब स्कूल में प्रवेश किया, पिता का अध्ययन उस समय भी जारी था। शशि स्कूल में पढ़ता था, और पिता घर पर। वह किसी अंग्रेज़ी परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। तीन साल तक बराबर असफल रहने पर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी, और चौथे साल सफल होकर ही रहे।

पिता किताबों का मूल्य पहचानते थे। पिछली परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों से भरी अलमारी उनके पुस्तक-प्रेम का परिचय देती थी। दवाइयों का सूचीपत्र अथवा कुछ और, प्रत्येक चीज़ को वह पाठ्य पुस्तकों की भांति पढ़ते और संभाल कर रखते।

शशि का स्वभाव इससे सर्वथा भिन्न था। पुस्तकों की उसने कभी चिन्ता नहीं की। पिता अपनी पुस्तकों को जितना संवार कर रखते, शशि अपनी पुस्तकों को उतना ही बिखेरता चलता।

× × ×

काग़ज़ जलाकर बच्चों का दूध गर्म करना माँ पहले ही सीख चुकी थीं, शशि की बहन का दूध भी वह काग़ज़ जलाकर ही गर्म करतीं। कभी-कभी यह काम वह शशि को भी सौंप देतीं। शशि को जब कभी अपनी बहन

का दूध गर्म करने का अवसर मिलता, वह बहुत खुश होता । पढ़ने की किताबों को जला-जला कर वह अपनी बहन का दूध गर्म करता ।

शशि अपनी बहन को बहुत चाहता था। जब वह छोटी-सी ही थी, बड़े ध्यान और कौतुक से वह उसे देखा करता । जब वह सो जाती तो सिरहाने बैठ कर उसकी चौकीदारी किया करता, और उसके रोने पर सारे घर को सिर पर उठा लेता ।

शशि का विश्वास था कि उसकी बहन बड़ी अच्छी और समझदार होगी । पढ़ने की किताबें जलाकर जिस बहन का वह दूध गर्म करता था, उसे समझदार होना भी चाहिए । लेकिन ऐसा हुआ नहीं । उसे अपने गुड्डे-गुड़ियों का विवाह रचाने से ही फ़ुरसत नहीं मिलती थी । शशि देखता और मन ही मन कुढ़ कर रह जाता ।

गुड्डे-गुड़ियों के खेल से शशि को चिढ़ थी। यह एक ऐसा खेल था जिसमें वह भाग नहीं ले सकता था। एकाध बार गुड्डे-गुड़ियों के खेल में में योग देने पर माँ के उपहास का पात्र भी उसे बनना पड़ा, "लड़कियों के खेल खेलता है !"

एक दिन अकेले में बैठा शशि सोच रहा था कि इतना बड़ा वह होगया है, लेकिन माँ उसे फिर भी शशि ही कहती हैं। बहुत देर तक अपने नाम के अर्द्धांश को उलट-पलट कर वह देखता रहा । जब नहीं रहा गया तो अपनी माँ से जाकर उसने कहा, "माँ, मुझे अब शशि न कहा करो । नहीं, शशि नहीं, मुझे अब कहा करो मिस्टर श-शि क—आ—न्त !"

शशि के इस प्रस्ताव को माँ ने हँस कर टाल दिया । शशि को माँ की यह हँसी अच्छी नहीं मालूम हुई । उसे लगा, मानो माँ नहीं चाहतीं कि वह शशि से आगे बढ़कर कान्त बने ।

शशि को माँ के पास खड़े रहना दूभर मालूम हुआ । मुंह बिचका कर वह वहां से खिसक चला । तभी माँ ने रोका—"शशि !"

शशि पलट कर माँ के पास खड़ा हो गया । माँ ने एक बार शशि को ऊपर-से-नीचे तक देखा । फिर कहा, "तुझे तो नहीं, लेकिन तेरी बहू को......."

बहू का ज़िक्र माँ का एक प्रिय विषय था। न जाने कहाँ की एक लड़की भी उन्होंने शशि के लिए रिज़र्व कर रखी थी। वह किसी देहाती पिता और शहरी पत्नी की सन्तान थी। माँ उसकी बचपन में ही मर गई थी। देहाती पिता ने उसका लालन-पालन किया था।

लड़की को तो नहीं, लेकिन लड़की के पिता को शशि ने देखा था। ससुर साहब का वह प्रथम दर्शन शशि के हृदय पर अपनी भोंडी छाप छोड़ गया था। उन्होंने शशि को ऊपर-से-नीचे तक देखा, और शशि ने उन्हें—अजीब दहकानी सूरत, पाँव में चमरौधा जूता, ओठों पर माँ के दिए हुए पान की लाली। शशि कुढ़ कर रह गया,—इसकी लड़की से विवाह होगा!

इसके बाद जब कभी शशि के सामने विवाह का प्रस्ताव आता तो वही दहकानी सूरत उसकी आँखों के आगे घूम जाती। वह झुँझलाकर उत्तर देता, "माँ, तुमने फिर बहू का ज़िक्र छेड़ा। मैं कहता हूँ कि मैं ब्याह नहीं करूंगा—एक बार नहीं, सौ बार नहीं!"

लेकिन इस बार माँ ने एक दूसरी ही बात शशि के सामने रखी। वह कह रही थीं, "नहीं, मैं दूसरी ही बात कह रही थी, शशि! मैं सोच रही थी कि जब भी, जो कोई भी, तेरी बहू बनकर आएगी, उसका नाम मैं रखूंगी—कान्ता!"

"तुम भी खेल करती हो, माँ!" शशि ने कहा और पिताजी की आलमारी के पास जा उनकी पुस्तकों को उलटने-पलटने लगा।

× × ×

शशि पढ़ने में बहुत तेज़ था। समझदार भी वह कम नहीं था। अपने मास्टर को प्रभावित करने में उसने काफी सफलता प्राप्त करली थी। लेकिन मास्टर भी जब यह देखते कि इतना समझदार और तेज़ होते हुए भी शशि परीक्षाओं में वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं कर रहा है तो उन्हें बड़ी निराशा होती। उनको समझ में न आता कि आख़िर बात क्या है।

पिताजी की उलझन और भी गहरी थी। दिन-रात पुस्तकों में जीवन बिताने के बाद भी परीक्षाओं में पास होना कितना कठिन होता है, यह वह

जानते थे। लेकिन शशि था कि न तो उसकी पुस्तकों का ही कुछ पता था, न ही वह कभी पढ़ता दिखाई देता था।

पिताजी ने शशि के मास्टरों से जाकर उसकी शिकायत की। उन्होंने कहा—"दिन-भर मटरगश्ती करता है। न उसके पढ़ने का कुछ पता चलता है, न लिखने का।"

पिताजी की यह बात सुनकर पहले-पहल तो मास्टरों को आश्चर्य हुआ। फिर उन्होंने कहा, "नहीं ऐसी कोई बात नहीं है। पढ़ने में वह काफ़ी होशियार है।"

"नहीं साहब," पिता ने कहा, "आप उसे नहीं समझते। वह बहुत शैतान है!"

आखिर मास्टरों ने पिता को जैसे-तैसे आश्वासन देकर विदा किया कि आगे से वे शशि का और भी ज़्यादा ध्यान रखेंगे।

शशि पढ़ता था, इसलिए नहीं कि वह पढ़ना चाहता था, वरन् इसलिए कि कोई यह न कहे कि वह पढ़ नहीं सकता। पढ़ने की अपनी शक्ति-सामर्थ्य का वह परिचय-मात्र देना चाहता था। पढ़ने के बाद जो चीज़ शशि को सबसे अधिक अखरती थी, वह थी परीक्षा। शशि सब कुछ सह सकता था, लेकिन परीक्षा देना नहीं। यह एक ऐसी चीज़ थी जिससे आगे चलकर भी शशि का कभी समझौता नहीं हुआ। परीक्षाओं से उसकी कभी पटरी नहीं बैठी।

यह सब होते हुए भी परीक्षाएँ शशि ने दीं, और स्कूल के आनरबोर्ड पर सब से पहला नाम उसका ही लिखा गया। अपनी सफलता से उसने सब को चमत्कृत कर दिया। लेकिन शशि के जीवन का यह चमत्कार भी उसी ज़मीन पर खड़ा था,—कोई यह न कहे कि वह परीक्षा में उत्तीर्ण होना नहीं जानता!

शशि मात खाना नहीं जानता था। आगे चलकर ऐसे अवसर भी आये जब परीक्षा के उन्हीं परचों को शशि करता था जो सब से कठिन होते। उनमें प्रथम श्रेणी के नम्बर वह पाता। सहज हल हो जाने वाला परचा जब कभी सामने आता, शशि उसे हाथ से छूना भी अपना अपमान समझता! परीक्षाओं

की निरर्थकता और अपनी सार्थकता प्रकट करने के लिए शशि ने यह विचित्र तरीका अपनाया था ।

: ८ :

शशि का जीवन, तेज़ी के साथ, घर और स्कूल की सीमाओं को पार कर रहा था । पुस्तकों और परीक्षाओं के साथ उसका अभी भी कुछ वास्ता था, और इसके बाद भी काफी सालों तक रहा, लेकिन वाजिबी रूप में ही । कोई भी हलका-सा झोंका, भला-सा बहाना, शशि को स्कूल और स्कूली जीवन से बाहर रखने के लिए काफी था ।

पहले युद्ध को शशि पार कर चुका था । इस युद्ध की उसके शरीर पर कोई खरोंच लगी हो, ऐसा नहीं था । हाँ, सपने में लड़ाइयों के दृश्य वह अवश्य देखता था । खूब गोलियाँ चलती थीं, गोली खाकर वह गिरता था और खूब ऊंचाई से लुढ़कता हुआ नीचे आ रहता था । इसके बाद, ठीक उस समय जब उसे लगता कि अब उसके जीवन का दीप बुझने जा रहा है, उसकी आँखें खुल जातीं और वह चौंक कर उठ बैठता ।

फिर गांधी जी की आंधी । जिस नगर में शशि रहता था, वहाँ मुसलमानों की बस्ती थी । जहां भी वह जाता, उसे एक ही गीत की गूंज सुनाई देती— "कहती माता मोहम्मद अली की, जान बेटा खिलाफ़त पर दे दो ।"

लेकिन एक गीत और था जो शशि के मन में बस गया था और जिसे वह बहुधा गुनगुनाता रहता था । इस गीत की टेक थी— "ओल गई माई लाड, कूकड़ूं-कूं !"

इस गीत के पीछे शशि को गहरी मार खानी पड़ी । पिता ने नहीं, इस बार उसे मारा हैडमास्टर साहब ने ।

प्रिन्स आफ वेल्स आने वाले थे, बल्कि कहिए कि रेल में बैठे-ही-बैठे स्टेशन से गुज़रने वाले थे । हैडमास्टर से लेकर थानेदार और ज़िला मजिस्ट्रेट तक सब इस बात के लिए बेचैन थे कि स्टेशन पर लोगों की अपार भीड़ जमा हो । 'हे प्रभु, ज्ञान हमको दीजिए' प्रार्थना के सम्पूर्ण होते ही

हैडमास्टर साहब ने घोषणा की—"लड़को, कल नये कपड़े पहन कर आना। लड्डू मिलेंगे।"

तभी शशि ने, और उसके साथ साथ कुछ अन्य लड़कों ने, स्वर में स्वर मिलाकर ज़ोरों से कहा—"बोल गई माई लाड, कुकड़ू-कूं!"

हैडमास्टर साहब का पारा सातवें आसमान पर चढ़ गया। शशि पर वह मार पड़ी कि फरिश्ते याद आ गये।

लेकिन दूसरे दिन जब प्रिन्स आफ वेल्स आए तो स्टेशन पर कोई नहीं पहुँचा,—म्युनिस्पैल्टी के कुछ मेहतरों को छोड़कर जिन्हें पुलिस वाले डंडे से हांक कर और रोज़ी छिनने का डर दिखाकर स्टेशन ले गए थे।

स्पेशल आई और स्टेशन पर बिना रुके सर्र-से निकल गई।

दिन भी कितनी तेज़ी से बीतते और बदलते हैं, और उतनी ही तेज़ी से दृश्यपट भी। गांधी जी की आंधी के बाद दंगों की वह बाढ़ आई कि........!

शुद्धि और तबलीग। स्वामी श्रद्धानन्द की मृत्यु। शशि ने घर पर कोई सूचना नहीं दी। कुछ लड़कों के साथ दिल्ली पहुँचा। शव-यात्रा का जलूस क्या था, मालूम होता था जैसे मानव-सागर उमड़ा आ रहा हो। वैसा जलूस शशि ने दूसरा नहीं देखा,—एक महात्मा गांधी की शव-यात्रा को छोड़कर। लेकिन दोनों में कितना अन्तर था? एक जैसे प्रारम्भ था, और दूसरा उसकी पूर्ण आहुति!

दो-दो पैसे में स्वामी श्रद्धानन्द के हत्यारे के चित्र बिक रहे थे। शशि ने भी एक चित्र खरीदा। पास में ही एक अखबार वाला 'हिन्दू पञ्च' बेच रहा था। शशि ने उसे भी खरीदा। शशि को वह इतना पसन्द आया कि उसने घर से चोरी कर चन्दा भेजा, और उसका ग्राहक बन गया।

ये वह दिन थे जब "जान बेटा खिलाफ़त पर दे दो" और "बोल गई माई" लाड कुकड़ू-कूं" की आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। उसका स्थान रंगीला रसूल और "उठ हिन्दू पञ्च लगा रगड़ा" ने ले लिया था।

लेकिन 'हिन्दू पञ्च' से एक लाभ हुआ। वह यह कि उससे शशि ने लिखना सीखा। घर की खटपट और पुस्तकों तथा परीक्षाओं की घुटन, जो

शशि को जी का जंजाल मालूम होती थी, लेखों के रूप में प्रकट होने लगी।

इन्हीं दिनों बाढ़ आई। यह पहला, और शायद आखिरी भी, अवसर था जब शशि ने बाढ़ को इतने निकट से देखा। शशि का स्कूल पानी से घिर गया था, नगर के अस्पताल में पानी भरा था। हर मोहल्ले में दिन-भर चूल्हे जलते और मोहल्ले की स्त्रियां बाढ़ पीड़ितों के लिए रोटियां बनातीं। शशि और उसके स्कूल के अन्य साथी दल बांधकर घर-घर जाते, बाढ़-पीड़ितों के लिए आटा और कपड़े जमा करते।

शशि के लिए यह एक अद्भुत अनुभव था। ऐसा मालूम होता था मानों सारे नगर का चूल्हा एक हो, खाने-पीने और पहनने की चीजों का भण्डार एक हो। घर की खटपट, हर घड़ी बरतनों का खड़कते रहना, ज़रा-ज़रा-सी चीज़ के लिए पिता का मां को कोसना और तंग आकर मां का मायके के लिए पलायन करना,— शशि को ऐसा मालूम होता मानों ये सब वास्तविकता न होकर निरे दुःस्वप्न हों!

शशि के जीवन का एक दौर,— स्कूली जीवन का दौर, पूरा हो रहा था और दूसरे दौर में प्रवेश करने के लिए वह अब आगे बढ़ रहा था।

× × ×

स्कूली पढ़ाई पूरी करने के बाद शशि ने कालेज में प्रवेश किया। यह कालिज एक ऐसे नगर में था जो, अपने आप में बड़ा न होते हुए भी, भले और बुरे सभी कामों में अग्रणी था। सन् सत्तावन का ग़दर सबसे पहले यहीं शुरू हुआ, उसकी चिंगारियां लपटें बन दिल्ली की ओर लपकीं, और दूर दूर तक फैल गई। साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ शायद सबसे पहले यहीं से शुरू हुई और गरीबी की मार से त्रस्त पहाड़ी लड़कियां भी, बड़े नगरों में वेश्या बनने से पहले, यहां आकर ही वेश्या-जीवन का क-ख-ग सीखतीं।

इतना ही नहीं, इस नगर को एक और भी गौरव प्राप्त था। एक ऐसा गौरव जिसकी वजह से इस नगर का नाम अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी पहुँच गया। देश के और विदेशों के भी काले-गोरे मज़दूर नेताओं को पकड़ कर जेल में बन्द करने और उन पर मुकदमा चलाने के लिए विदेशी

सरकार ने इसी नगर को चुना था।

इसके बारे में यहां विस्तार से कुछ कह दें :

सन बीस की आँधी के बाद, विशेष रूप से सन चौबीस से लेकर सन सत्ताईस तक, देश का जन-जीवन दिन दिन बढ़ती हुई मुसीबतों साम्प्रदायिक दंगों और राजनैतिक निष्क्रियता की काली घटा से घिर गया। सन छब्बीस के मध्य में, गोरे सन्त लार्ड इर्विन के भारत में चरण पड़ते ही, कलकत्ता में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। कलकत्ता की सड़कें हिन्दू और मुसलमानों के खून से लाल हो गईं। मन्दिरों और मस्जिदों पर हमले हुए। जो कसर रह गई, उसे आगज़नी की घटनाओं ने पूरा कर दिया। एक-एक मुठ-भेड़ में सैंकड़ों मारे जाते, हज़ारों घायल होते।

१९२७ में साम्प्रदायिक दंगों ने एक अच्छी खासी बाढ़ का रूप धारण कर लिया। ऐसा मालूम होता था मानों देश आपस में ही कट-मर कर खत्म हो जाएगा। चारों ओर निराशा और विच्छिन्नता का गहरा अंधेरा छाया था।

गहरी निराशा और विच्छिन्नता के इसी काल में, अमावस्या की अंधेरी रात में जीवन के प्रकाश की भांति, देश में मज़दूरों और युवकों की शक्ति का उदय हुआ। समाज के निम्न स्तर से, मानो धरती फोड़कर, मज़दूरों की यह शक्ति प्रकट हुई और देश के राजनीतिक आकाश में, नये सूरज की भांति, अंधेरे को छिन्न-भिन्न कर उसकी लाली फैल चली।

सन अठाइस का साल, समूची पूंजीवादी दुनिया को अपने चंगुल में जकड़ने वाले अर्थ संकट का ही नहीं, मज़दूरों और युवकों की इस बढ़ती हुई शक्ति का भी साल था। बम्बई में कटौती और छंटनी के विरुद्ध डेढ़ लाख कपड़ा-मज़दूरों ने हड़ताल की,— एक-दो दिन तक नहीं, पूरे छः-सात महीने तक। कलकत्ता के जूट मज़दूरों की हड़ताल भी इतनी ही लम्बी थी। रेलवे-मज़दूरों की हड़ताल भी, देखते-देखते, बम्बई और भोपाल, नागपुर और झांसी तक फैल गई। साइमन कमीशन के बायकाट में भी उन्होंने आगे बढ़कर हिस्सा लिया।

इन्हीं दिनों कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। साइमन कमीशन

के बायकाट की पृष्ठ भूमि में इस अधिवेशन की शान देखते ही बनती थी। मोती लाल नेहरू इसके अध्यक्ष थे। वालंटियरों का इतना बड़ा दल संगठित किया गया था कि युवकों की एक अच्छी-खासी सेना की याद दिलाता था। सुभाष बोस इसके जी० ओ० सी० थे। मोती लाल नेहरू के रथ को देखकर तो साइमन कमीशन के सीने पर सांप ही लोट गया होगा,— एक-दो नहीं, पूरे छियासी घोड़े उनके रथ को खींच रहे थे!

लेकिन कलकत्ता कांग्रेस का महत्व केवल इस बात में ही नहीं था कि उसके अध्यक्ष के रथ में छियासी घोड़े जुते थे। बल्कि इस बात में भी था कि इस कांग्रेस में कलकत्ता के पचास हज़ार मज़दूरों ने अपनी संगठित और सुनियंत्रित शक्ति का परिचय दिया। नारे लगाते हुए वे आये, कांग्रेस के पंडाल पर वे छा गए और, कायदे के साथ, दो घंटे तक कांग्रेस के मंच से अपनी और देश की मांगों को पेश करते रहे।

उन्होंने मांग की कि आज़ादी की लड़ाई को समझौते की दलदल से निकाल कर उस समय तक चलाया जाए जब तक कि आज़ादी प्राप्त न हो जाय।

रेल्वे के मज़दूरों ने भी आवाज़ ऊंची उठाई कि एक आम हड़ताल के साथ आज़ादी की लड़ाई का श्री गणेश किया जाए।

लेकिन कांग्रेस ने आन्दोलन शुरू न करके, एक दूसरा ही काम किया। वह यह कि आन्दोलन को एक साल के स्थगित कर दिया। सरकार को पत्र लिखा कि हम आज नहीं, एक साल बाद लड़ाई शुरू करेंगे।

सरकार को जैसे मुंह मांगी मुराद मिल गई। उसका दमन-चक्र तेज़ी के साथ चलने लगा,— मज़दूरों के खिलाफ़, युवकों की उभरती हुई शक्ति के खिलाफ़।

बीस मार्च १९२९ को, रात के सन्नाटे में, देश के समूचे विस्तार में पुलिस ने धावे किए, मज़दूरों के नेताओं को पकड़-पकड़ कर मेरठ में जमा किया, वहां की जेल में उन्हें रखा और वहीं की अदालत में उन पर मुकदमा चलाया। उन पर आरोप था कि वे अंग्रेजी हुकूमत को उलटने का

षड्यन्त्र रच रहे थे।

शशि उन दिनों इसी नगर के कालेज में पढ़ रहा था,— सड़क की एक ओर कालेज था, और दूसरी ओर कचहरी।

अपराधियों में, हिन्दुस्तानी मज़दूर नेताओं के साथ-साथ, तीन अंग्रेज़ मज़दूर नेता थे। शशि को बड़ा अच्छा लगता जब वह कालों के साथ-साथ गोरे मज़दूर नेताओं को भी अपराधियों के कटघरे में खड़ा देखता। अंग्रेज़ी सरकार, काले-गोरे का भेद-भाव भूलकर उन पर भी मुकदमा चला रही थी।

कालेज में बैठकर जब पढ़ने और अध्ययन करने का समय होता, शशि कचहरी पहुँच जाता। कालेज और कचहरी के बीच एक पतली-सी सड़क थी, जो दोनों को एक-दूसरे से, ज्ञानार्जन को राजनीति से, अलग करती थी,— बल्कि कहिए कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करती थी।

शशि के लिये कचहरी ने ही कालेज का रूप धारण कर लिया। इससे बढ़िया शिक्षालय शशि को और कहाँ मिलता। सरकार ने पूरे बीस लाख रुपया इस पर खर्च किया था। सात सौ पौंड रोज़ पर सात समन्दर पार से सरकारी वकील को बुलाया था। गवाहों में स्काट लैण्ड यार्ड के जासूसों से लेकर फ्रान्सीसी पुलिस के अफसर भी थे। देसी गवाहों का तो कुछ कहना ही नहीं।

सरकारी वकील लौंग जेम्स फोर्ड अदालत रूपी इस विद्यालय के मुख्य सूत्रधार थे। वह इतने लम्बे थे कि देखने में पूरे बावन गजे मालूम होते थे। एक टांग से कुछ लंगड़े थे, और उन्हें देखकर तैमूर लंग की याद ताज़ा हो आती थी। उनके सहायक, छोटे-मोटे सरकारी वकील और गवाह, ऐसा मालूम होता था मानो शिवजी की पूरी बरात हो। उनमें गोरे थे, काले थे, नाटे और लम्बे, मोटे और दुबले, ऐंचकताने और कोतागरदन,— सरकारी गवाह के रूप में पूरी तलछट सरकार ने जमा की थी। एक के बाद एक, बीस बीसी से ऊपर गवाह सरकार ने पेश किये। चार साल तक मुकदमा चला और तैमूर लंग की जेब में सौ पौंड रोज़ समाते रहे।

अजीब दिन थे वे भी। साइमन कमीशन, उसका बायकाट और काले झंडों से स्वागत, जगह-जगह लाठी-वर्षा और गोलियां, लाठियों की चोट से लाला लाजपत राय की मृत्यु और उसका बदला लेने के लिए सायडर्स की हत्या, भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त, समूचे देश में सरफरोशी की तमन्ना की गूंज, देश का कण-कण जैसे भगतसिंह के स्वर-में-स्वर मिलाकर गा रहा था :

मेरा रंग दे बसंती चोला,
इसी रंग में रंग के शिवा ने
मां का बन्धन खोला !

जो कसर रह गई थी, उसे पूरा कर दिया जेल में चलने वाली लम्बी भूख हड़तालों ने। भारत में शायद ही कोई ऐसी जेल हो जिसमें, अमानवीय दुर्व्यवहार के खिलाफ, तीस-बत्तीस दिन से भूख हड़ताल न चल रही हो। चौंसठ दिन की भूख हड़ताल के बाद जब यतीन दास की मृत्यु हुई तो समूचा कालेज सड़क पर उमड़ आया। जलूस क्या था, एक जलता हुआ पलीता था, जो चिंगारियां छोड़ता आगे बढ़ रहा था। जिधर से गुज़रा, बाज़ार पटापट बन्द हो गये। मालूम हुआ, सिनेमा खुला है। जलूस सिनेमा की ओर मुड़ गया। बिजली के कुमकुमों की झालरें नीचे आ गिरीं, सिनेमा अंधेरे में डूब गया।

उत्तेजना और विस्फोट उन दिनों की विशेषता थी। जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जिसमें इस विशेषता ने प्रवेश न कर लिया हो।

एक दिन, दोपहर के समय, कालेज में इस खबर से सनसनी फैल गई कि नगर में बम फटा है। शशि ने साइकिल उठाई और घटना-स्थल पर पहुँचा। बाज़ार में, दूर-दूर तक, लोगों की भीड़ जमा थी। एक व्यक्ति, जिसके गले में लोटा पड़ा था और जो अपने एक हाथ में गेंदनुमा कोई चीज़ लिए था, जिधर अपना हाथ उठाता भीड़ काई की तरह फट जाती—और वह, तीर की गति से, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर लपकता हुआ अच्छी-खासी पैंतरे बाज़ी दिखा रहा था।

वह एक दर्जी था जिसे जुआ खेलने की आदत थी। जब पैसा चुक जाता था तो अपनी पत्नी को पीटता था। पत्नी के पास पैसा नहीं निकलता तो कहता — "जाकर अपने भाई से ला।"

पत्नी का मायका नगर में ही था। पति के हाथ में पड़ने से बचाने के लिये उसने अपने बचेखुचे- जेवर, चांदी के कड़े-छड़े और कानों की बालियां तथा बुन्दे, अपने भाई के यहां रख छोड़े थे। पति से पिटकर वह भाई के घर पहुँची और वहीं रह गई। पति का गुस्सा उबल पड़ा। मन्सल-पोटाश, कांच के टुकड़े और कील-कांटे मिलाकर उसने गोले बनाए, एक लोटे में उन्हें भरा, और पत्नी के मायके की ओर चल दिया।

पत्नी का भाई बाज़ार में ही जाता दिखाई दे गया। एक गोला निकाल कर पीछे से उसने प्रहार किया। विस्फोट के साथ पत्नी के भाई की खोपड़ी खील-खील हो गई। देखते-न-देखते सारा बाज़ार बन्द हो गया। बाज़ार में लोगों की भीड़ जमा हो गई और वह, भीड़ से घिरा, एक हाथ में बम उठाये पैंतरेबाज़ी दिखाने लगा।

पुलिस भी मौके पर मौजूद थी। लेकिन निकट जाकर उसे पकड़ने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। आखिर गोली चलाकर उसे पांव से ज़ख्मी किया गया। वह गिर पड़ा, और तब पुलिस ने उसे गिरफ़्तार किया।

उसकी पेशी के दिन अदालत में काफी भीड़ थी। मुकदमा अभी शुरू नहीं हुआ था। एक पेड़ के नीचे वह बैठा था। हाथों में हथकड़ी पड़ी थीं। चारों ओर भीड़ जमा थी।

भीड़ में से किसी ने उससे पूछा— "अदालत में क्या कहोगे ?"

एक बार आंखें उठाकर उसने भीड़ की ओर देखा। फिर महात्मा के अन्दाज़ में बोला— "खुदा जाने वह क्या पूँछे, कहे क्या-क्या ज़ुबां मेरी !"

इसके बाद खिलखिलाकर हंस पड़ा।

उसे न जाने कितने शेर याद थे। अदालत जब कोई सवाल करती तो वह शेरों में ही जवाब देता, और विचित्र प्रकार की हरकतें करता। ऐसा मालूम

होता मानो हत्या का मुकद्दमा न होकर अदालत के कमरे में कोई मुशायरा हो रहा हो।

शशि के लिए अदालत के इस कमरे में जो आकर्षण था, वह कालेज में नहीं। वे सभी तार जो उसे कालेज से बांधकर रखते, उत्तेजना की आंधी में उड़ चले।

और तभी, उस समय जबकि शशि पूर्णतया उन्मुक्त जीवन का अनुभव कर रहा था, विधाता ने उसके पर कैंच करने का षड़यंत्र रचा। शशि को तार मिला कि उसकी मां बीमार है।

तार पाकर शशि घर के लिये रवाना हो गया।

: ६ :

मां ने शशि को झूठा तार दिया था। वह बीमार नहीं थीं। असल में उनका मकसद दूसरा ही था। वह मकसद था, शशि का विवाह।

मां जानती थी कि शशि को आसानी से नहीं बुलाया जा सकता। उसे विवाह के लिये बुलाना तो और भी कठिन था। विवाह का नाम सुन वह इस प्रकार चौंक उठता था मानो उसका पांव अंगारे पर पड़ गया हो।

लेकिन सवाल अकेले शशि का ही नहीं था। अगर इतना ही होता तो शायद मां ज़ोर न भी देतीं। शशि के साथ-साथ उसकी बहन विमला का विवाह भी नत्थी था। अल्टे-पल्टे के विवाह का एक अच्छा-खासा चक्र था। तीन परिवार इसमें शामिल थे, और शशि इस चक्र की मुख्य कड़ी था।

शशि की पत्नी का नाम था आशा।

आशा के भाइयों में से एक का नाम था बालमुकन्द,— संक्षेप में जो बालू भैया कहलाते थे।

शशि की बहन के पति का नाम था कमलनाथ। कमलनाथ की बहनों में से एक थी कुन्तो।

तीन परिवारों ने मिलकर विवाह रूपी समुद्र का मन्थन किया। अन्त

में, समानता तथा जियो और जीने दो के आधार पर, तय हुआ :

शशि विवाह करेगा आशा से,

विमला का विवाह होगा कमलनाथ से,

और बालू भैया ब्याह कर लायेंगे कुन्तो को।

इन तीनों में शशि और आशा की जोड़ी सबसे अच्छी थी। शशि के लिये पत्नी का चुनाव करने में मां ने मुख्य रूप से दो बातों का ध्यान रखा था। एक तो यह कि वह सुन्दर हो, दूसरे यह कि वह गरीब घर की हो।

आशा में यह दोनों बातें थीं। वह सुन्दर भी थी, अत्यन्त सुन्दर। वह गरीब भी थी, अत्यन्त गरीब। उसकी गरीबी की वास्तविकता से अगर शशि की मां परिचित होतीं तो पूजा करते समय अपने ठाकुर जी से अवश्य यह बिनती करतीं— "हे भगवान्, इतनी गरीबी किसी को न देना।"

गरीब घर की लड़की से विवाह करने की मां की धुन भी खूब थी। एक के बाद एक, बड़े घरों की कई लड़कियों को वह रद्द कर चुकी थी। अन्त में उसकी नज़र जाकर टिकी आशा पर, और उन्होंने निश्चय कर लिया कि बस यही ठीक है।

शशि की मां उन दिनों अपने मायके में थी। तभी एक दिन चमरौधा जूता, घुटनों तक धोती और कोहनी पर से फटा हुआ बन्द गले का कोट पहने एक सज्जन आये। उनका हुलिया विचित्र था। उलझी हुई सी मूछें, खिचड़ी बाल, आंखों में सुरमा।

मां आस्तिक थीं। उन्हें कुछ ऐसा विश्वास था कि कलियुग में भगवान् ऐसे ही अटपटे और फटे हाल रूप में दर्शन देकर अपने भक्तों को परखा करते हैं।

मां ने बड़े प्रेम से उन्हें बैठाया, पान-पत्ते से उनका स्वागत किया। इसके बाद बातें शुरू हुईं।

"मैं गरीब आदमी हूँ," उन्होंने कहा— "लड़की के सिवा मेरे पास और कुछ लेने-देने के लिये नहीं है। मां उसकी बहुत पहले ही मर गई

थी। तभी से, इन मोटे-झोटे हाथों से, मैंने उसे पाला है,—बल्कि सच तो यह है कि खुद उसने मुझे, और अपने छोटे भाई-बहनों को, पाला है। अगर वह न होती तो सारा घर तीन-तेरह हो जाता .....हे, भगवान्!"

लम्बी सांस खींचकर, और अन्त में 'हे भगवान्' कहकर, वह चुप हो गये। कुछ क्षण रूककर उन्होंने अपने बड़े लड़के बालू भैया का ज़िक्र किया, जिसकी लाट साहबी का कोई अन्त नहीं था। कहने लगे—"बाप को तो टाट के भी कपड़े नसीब नहीं होते, बेटे को मखमली बाड़ की विलायती धोती चाहिए। इस लाटसाहब को भी मेरे ही घर में जन्म लेना था,—हे भगवान्!"

लम्बी सांस और हर बात के बाद 'हे भगवान्' की पुनरावृत्ति उनके व्यक्तित्व का, बल्कि कहिए कि जीवन का, अंग बन गई थी। गांव के लोग, बच्चे भी और बड़े बूढ़े भी, उन्हें 'हे भगवान्' ही कहते थे।

बालू भैया का ज़िक्र सुन मां को अपने शशि की याद हो आई। कुछ मुसकरा कर बोली: 'बालू भैया को आप मेरे पास भेज दीजिये। एक शशि तो है ही, दूसरे वह भी हो जायेंगे।"

उन्होंने फिर हे भगवान का जाप किया, लम्बी सांस खींची, और बोले— "हे भगवान्, आप किस-किस को अपने पास रखेंगी। मेरी लड़की को आप अपना लें, यही बहुत है। मैं तिर जाऊंगा।"

काफी देर तक दोनों बातें करते रहे। लड़के की खोज में 'हे भगवान्' ने अच्छी खासी तीर्थ-यात्रा की थी, और अजीब-अजीब लोगों से उनका वास्ता पड़ा था।

इनमें एक साहब सबसे विचित्र थे। उन्होंने, एक के बाद एक, आधी दरजन लड़कियों से अपने लड़के की सगाई की, लेकिन विवाह एक से भी नहीं किया। सगाई करने के बाद वह भूल जाते थे कि उन्हें विवाह भी करना है। वह उन लोगों में से थे जो आदमी को नौकर तो रख लेते हैं, लेकिन इसके बाद उन्हें याद नहीं रहता कि जिसे नौकर रखा है, उसे वेतन भी देना चाहिए। वेतन का सवाल उठते ही खटपट शुरू हो जाती है।

सगाई और विवाह के मामले में भी वह इसी नीति का पालन करते थे। पैसे वाले थे, इस लिये लड़कियों के पिता उनके चारों ओर मंडराते रहते थे। सगाई के बहाने एक-न-एक लड़की को फंसाए रखने का उन्हें चस्का पड़ गया था। प्रतीक्षा करते-करते जब लड़की वाले हार जाते तो अन्त में कहते— "बहुत दिनों तक हम आपके आसरे बैठे रहे। हमारी लड़की सयानी हो चली है। उसे अधिक दिनों तक नहीं रोका जा सकता। अगर आप विवाह नहीं कर सकते हैं तो.......''

बीच में ही बात काटकर वह कहते— "हां-हां, आपकी लड़की है। चाहे जिसके हाथ आप उसे सौंप सकते हैं। मेरे लड़के के लिए लड़कियों की कमी नहीं है। चाहूँ तो झौवा-भर लड़कियाँ इसके लिये ला सकता हूँ''

और अन्त में, कुछ मुलायम पड़कर, वह अपनी बात को सम्पूर्ण करते— "अरे भाई, हमें अपने लड़के का विवाह करना है, इसलिये कि वह सुखी हो। लड़की वाले की छाती का बोझ हलका करना हमारा उद्देश्य नहीं है। अगर ऐसा करने लगें तो एक मुसीबत खड़ी हो जाए। न जाने कितनी लड़कियां अपने पिता की छाती का बोझ बनकर बैठी हैं। अगर आपकी बात मानकर चलूं तो इन सब लड़कियों को बटोर कर मुझे अपने लड़के के लिये एक अच्छा-खासा हरम खोलना पड़ जाएगा।"

शशि की मां के लिए जीवन का यह सर्वथा नया अनुभव था। शशि के लिए बहू की और शशि की बहन विमला के लिये वर की खोज में उन्हें भी अनेक अनुभव हुये थे, लेकिन ऐसे नहीं। हे भगवान् ने उनकी आंखों के सामने एक दूसरी ही दुनियाँ का चित्र खड़ा कर दिया।

"न जाने अपने-आपको क्या समझते हैं।" सगाई करने के बाद विवाह न करने वाले सज्जन को लक्ष्य कर शशि की मां ने कहा— "उन्हें घमण्ड है कि वे अपने लड़के के लिए झौवा भर लड़कियां ले आयेंगे। लेकिन मैं कहती हूँ कि उन्हें अपने लड़के के लिए एक चुहिया भी नहीं मिलेगी। उनका लड़का जीवन भर कुंवारा ही रहेगा।"

शशि की मां और 'हे भगवान्' कुछ देर तक और बातें करते रहे

जिनका नतीजा, आगे चलकर, अल्टे-पल्टे के विवाह के रूप में प्रकट हुआ।

विदा होने से पहले 'हे भगवान्' ने शशि को देखने की इच्छा प्रकट की। शशि उस समय घर में ही था। सामने आने पर उसने हे भगवान् की ओर कुछ इस प्रकार भौंहें चढ़ाकर देखा मानो वह किसी अजायबघर का जन्तु हो, और जब उसे यह मालूम हुआ कि 'हे भगवान्' अपनी लड़की को उसके गले मढ़ने के लिए यहां आये हैं तो वह कलाबत्तू बनकर रह गया।

"आपसे मेरी एक ही बिनती है", चलने से पहले 'हे भगवान' ने शशि की मां से कहा— "एक बार मेरी लड़की को देख अवश्य लें।"

शशि की मां, अपने भाई के साथ, लड़की को देखने गईं। 'हे भगवान' का घर निपट देहात में था। निकटतम स्टेशन गांव से अठारह मील दूर था। रास्ते के दोनों ओर, समूचे विस्तार में नागफनी की घनी झाड़ियां थीं, जो सांझ के झुटपुटे में बड़ी भयावह मालूम होती थीं। आधा रास्ता पक्का था,— देहातों में जैसे पक्के रास्ते होते हैं, ठीक वैसा ही,— और आधा कच्चा, ऊबड़-खाबड़ और गढ़ों की भरमार। बरसात के दिनों में गांव में पहुंचने के लिए अच्छी-खासी वैतरणी पार करनी पड़ती थी। अन्य दिनों में भी, हनुमान चालीसा का पाठ किये बिना, रास्ता पार करना टेढ़ी खीर था। बैलगाड़ी में इतने धचकोले लगते थे कि अंजर-पंजर ढीले हो जाते थे,— 'झुलत सिर, टूटत रीढ़, कमर झोंका खावै!'

जब गांव पहुंचे तो सांझ हो आई थी। 'हे भगवान्' साथ में थे। वह स्टेशन पर ही लिवाने आ गये थे। रास्ते के धचकोले खाते और धूल फांकते-फांकते शशि की मां का गला सूख गया था। शशि की मां ने पानी मांगा। 'हे भगवान' ने आवाज़ दी— "एक गिलास पानी तो ले आ, आशा बेटी!"

आशा सिमटती-सकुचाती एक गिलास पानी ले आई। आशा के हाथ से पानी का गिलास लेना भूल मां उसके मुंह की ओर देखती रह गईं। आशा के सौन्दर्य ने उसे मंत्र-मुग्ध कर लिया।

"यह पानी..."

आशा ने दबी आवाज़ में कहा और शशि की मां ने जैसे चौंक कर उसके हाथ से गिलास ले लिया। गिलास मुंह से लगाकर अभी एक घूंट पानी पिया भी नहीं था कि मां ने इस तरह मुंह बिचकाया मानो वह पानी नहीं, कड़ुवा ज़हर पी रही हो।

"यह कैसा पानी है?"

"पानी तो मीठे कुएं का है," हे भगवान् ने कहा— "बस्ती से बाहर वाले कुंवे से मंगवाया है।"

शशि की मां ने कुछ नहीं कहा। चुप रहीं। लेकिन मन-ही-मन सोचा, जब मीठे कुंवे का यह हाल है तो फिर खारी कुंवों की तो बात करना ही बेकार है।

गांव के सभी कुंवे खारी थे और जिन्हें मीठा कहा जाता था, उनके पानी में भी एक अजब प्रकार का चरपरापन था।

"कम्पनी बहादुर के ज़माने में," हे भगवान ने बताना शुरू किया— "इन कुवों के खारी पानी से नमक बनाया जाता था। गांव से बाहर अंग्रेजों की एक चौकी थी और जिस सड़क से हम आये हैं न, उसके द्वारा यहां का नमक दूर-दूर तक जाता था।"

गांव में जाटों की बस्ती अधिक थी, दूसरा नम्बर बाम्हनों का था। चार चौपालों में से तीन जाटों की थीं और एक बाम्हनों की। पहले विश्व-युद्ध में उन्होंने जमकर हिस्सा लिया था और ऐसा मालूम होता था मानों इस गांव में जमींदार और सूबेदार ही बसते हैं। सबके पास ज़मीनों के मुरब्बे थे, जो उन्हें इनाम में मिले थे।

"गांव तो बुरा नहीं है," हे भगवान् ने कहा— "बड़े-बड़े नामी लोग यहां रहते हैं। लेकिन यहां का रास्ता बड़ा खराब है। एक बार सरकार ने रास्ता बनाने की मंजूरी भी दे दी थी। लेकिन जाटों ने पंचायत करके उसे रद्द करा दिया।"

"सो क्यों?" शशि की मां ने पूछा।

"जाट अफसरों से डरते हैं,"। हे भगवान् ने कहा—"गांव में एक डाक

बंगला पहले ही बन गया था, और जब सड़क बनने की बात उठी तो जाट बड़े घबराये कि अब क्या हो, तीजे बुखार की भांति अफसर हर तीसरे दिन आ धमकेंगे। इसके अलावा उन्हें यह भी डर था कि अगर पक्की सड़क बन गई तो गांव की बैल गाड़ियां बेकार हो जायेंगी— और लोग भूखों मरने लगेंगे। सो उन्होंने सड़क नहीं बनने दी।"

"और उस डाक-बंगले का क्या हुआ ?" शशि की मां ने पूछा।

"बहुत दिनों तक तो वह वैसे ही पड़ा रहा। बाद में उसका नीलाम हुआ और एक खाती ने उसे खरीद लिया।"

चौपालें पक्की और इतने ऊंचे चौंतरे पर बनी थीं कि गांव में केवल उन्हीं का अस्तित्व दिखाई देता था। लड़कियों और लड़कों के स्कूल की इमारतें भी पक्की और इतनी बड़ी थीं कि किसी भी अच्छे नगर के स्कूलों की इमारतों से होड़ लेती थीं। गांव को नगर से भी बड़ा बनाने में जाटों ने कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी। लेकिन, केवल सड़क न होने से, गांव ने एक बंद पोखर का रूप धारण कर लिया था और उसकी पक्की चौपालों तथा स्कूल की इमारतों पर हर घड़ी मनहूसी की काली छाया मंडराती रहती थी।

लेकिन शशि की मां ने गांव की मनहूसी को नहीं, आशा को देखा, जिसका सौन्दर्य मनहूसी के सारे आवरणों को बेधकर फूटा पड़ रहा था।

: १० :

मां की बीमारी का तार पाते ही शशि चल दिया। उसका हृदय अनेक आशंकाओं से घिरा था। रास्ते-भर वह उल्टी-सीधी कल्पनायें करता रहा। मां के मरने की कल्पना आज तक कभी उसके मस्तिष्क में नहीं आई थी। वह यह सोच तक नहीं सकता था कि मां उसे छोड़कर कभी उससे अलग हो सकती है।

मां की बीमारी के तार ने शशि की इस कल्पना को, माँ में उसके इस सहज विश्वास को, एक ही झटके में छिन्न-भिन्न कर दिया। रास्ते-भर एक ही विचार उसके हृदय को कुरेदता रहा— पता नहीं, मां को वह जीवित

भी देख पायेगा या नहीं।

लेकिन घर पहुँचने पर शशि ने देखा कि उसकी मां बीमार नहीं हैं। झूठा तार देने के लिये उसे मां पर झुंझलाहट भी आई, लेकिन साथ ही सन्तोष का भी उसने अनुभव किया।

"तुम्हारे तार ने तो मेरी जान ही लेली होती मां!" शशि ने कहा—"अगर मेरा हार्ट फेल हो जाता तो तुम क्या करतीं?"

मां ने शशि को हृदय से लगा लिया, और उसके बालों को सहलाते हुये बोली—"पगला कहीं का। तूने मां को समझा क्या है? मर जाता तो यम के हाथों से तुझे छुड़ा लाती!"

शशि ने कुछ नहीं कहा। मां के हृदय से लगा कुनमुनाता रहा। मां भी चुपचाप उसके बालों को सहलाती रही।

रात को, भोजन करने के बाद, मां ने विवाह का प्रस्ताव रखा। बोली—"इसीलिये मैंने तुम्हें वह झूठा तार दिया था।"

शशि ने विरोध किया। विवाह का नाम सुनते ही चमरौधा जूता, कोहनी-फटा बन्द गले का कोट और होटों पर मां के दिये पान की लाली। हे भगवान् का चित्र उसकी आँखों के सामने मूर्त हो उठा। बोला—"मैं विवाह नहीं करूंगा, मां!"

मां ने शशि के विरोध पर ध्यान नहीं दिया। अपनी बात को दोहराते हुए बोली—"सो कुछ नहीं। तुम्हें विवाह करना होगा। तुम्हारी वजह से विमला का विवाह भी रुका हुआ है।"

बात सही थी। अल्टे-पल्टे के विवाह का जो जाल मां ने रचा था, शशि उसकी मुख्य कड़ी था। सब उसी की ओर आंखें लगाये थे कि वह विवाह का श्री गणेश करे तो सबके कारज सम्पन्न हों।

शशि को यह अनुभव करते देर नहीं लगी कि इस बार मामला आसानी से नहीं टलेगा। एकाएक गम्भीर होकर वह बोला, "सच बताओ मां, क्या तुम यह चाहती हो कि मेरा जीवन भी तुम्हारी ही भांति घिस-घिस में बीते?"

मां ने एक बार शशि की ओर देखा। शशि के मुंह से इस तरह का प्रश्न सुनने की उसे ज़रा भी आशा नहीं थी। मां को यह भी अनुभव करते देर नहीं लगी कि इस बार शशि लगी-लिपटी बातों में संतुष्ट न होगा।

कुछ क्षण रुक कर मां ने कहा—"नहीं शशि, तुमने जीवन की घिस-घिस को ज़रा कम करके आंका है। तुम्हें मेरे जीवन के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा कटुता का सामना करना पड़ेगा, और मैं चाहती हूँ कि तुम इसके लिए तैयार रहो।"

शशि चुप रहा। वह जानता था कि माँ की बात अभी ख़त्म नहीं हुई है। कुछ सांस लेने के लिये ही जैसे वह रुक गई है।

"मेरा जीवन तो फिर भी अच्छा बीता," अगले ही क्षण माँ ने कहना शुरू किया—"मायके के रूप में मेरे पास एक घोंसला था। जब ज़्यादा परेशान होती थी तो उड़ कर उस घोंसले में पहुँच जाती थी। लेकिन तुम्हें कोई सहारा नहीं मिलेगा। अपने पिता को तुम जानते ही हो। और जिस लड़की से मैं तुम्हारा विवाह करने जा रही हूँ, वह भी इस सहारे से वंचित है। उसके लिए मायके का होना-न-होना बराबर है। किसी स्त्री के जीवन में मायके का सहारा न होने के क्या मानी होते हैं, इसकी मैं अच्छी तरह से कल्पना कर सकती हूँ। अगर मेरे जीवन में मायके का सहारा न होता"

शशि से अब नहीं रहा गया। हाथ बढ़ा कर माँ के मुँह पर रखते हुए बोला—"बस करो, माँ! मुझसे ग़लती हुई। जीवन की घिस-घिस की अब मैं कभी शिकायत नहीं करूंगा।"

शशि भी अब चुप था और माँ भी। दोनों निश्चल बैठे थे। ऐसा मालूम होता था मानों हवा का एक तेज़ झोंका था जो आया और पत्तों को खड़खड़ाकर चला गया।

"नहीं शशि" माँ ने शान्त स्वर में कहा—"शिकायत करने की अगर कोई बात हो तो ज़रूर शिकायत करनी चाहिए। मेरा मतलब वह नहीं था जो तुमने समझा। मैं दूसरी ही बात कहना चाहती थी। वह यह कि मैं मायके जाकर कभी ख़ुश नहीं हुई। मायका मेरी शक्ति का नहीं, पंगुता का

सूचक था। कितना अच्छा होता अगर मैं लड़-झगड़ कर इसी घर में,—यह भी न होता तो घर से बाहर इस दुनियां में,—अपनी जगह बनाती। मायके के सहारे ने मुझे उस सुख से वंचित कर दिया और मेरा मन, सब कुछ होते हुए भी, एक विचित्र प्रकार की कुण्ठा से दबा रहा, वह कभी उबर कर नहीं दिया। एक तरह से मैं खोटा सिक्का सिद्ध हुई।"

इसके बाद कुछ देर रुक कर, माँ ने अपनी हार्दिक कामना प्रकट की, "मैं चाहती हूँ कि तुम इस सुख से वंचित न रहो। किसी भी ऐसे मोह में न पड़ो जो इस सुख से वंचित करने वाला हो। अपने लिए जगह बनाने और इसके लिए लड़ने-झगड़ने से बढ़ कर इस दुनिया में दूसरा और कोई सुख नहीं है।"

शशि को लगा जैसे वह अपनी माँ को पहली बार ही देख रहा हो। माँ का इतना निखरा हुआ रूप उसने पहले कभी नहीं देखा था। चेहरे की एक-एक रेखा स्पष्ट दिखाई दे रही थी, कहीं भी कोई धुँधलापन नहीं था।

"अन्त में एक बात और," माँ ने कहा—"इस भुलावे में भी न रहना कि अपने लिए जगह बनाने का यह संघर्ष केवल एक-दो दिन या साल की बात है। यह बिल्कुल सम्भव है कि जीवन-भर हाथ-पांव पटकने पर भी तुम्हें कहीं पाँव रखने की जगह न मिले, या जिस चीज़ को तुम पांव रखने की जगह समझते हो, वह निरा धोखा सिद्ध हो। लेकिन इस तरह के धोखे तुम्हें खण्डित नहीं करेंगे, अपनी शक्ति बटोर कर तुम फिर आगे बढ़ोगे, जीवन की प्रत्येक हार तुम्हें जीत का सन्देश देगी,—तुम्हारा मस्तक कभी नीचा नहीं होगा।"

इसके बाद माँ ने और कोई बात नहीं की। विवाह की तैयारियां वह पहले से ही कर रही थीं। देहाती ससुर आए और तिलक चढ़ा गए। फिर विवाह हुआ। बधु के साथ बरात विदा हुई। शशि और उसकी पत्नी एक बैलगाड़ी में, जिसे देहात का रथ कहना चाहिए, सवार हुए। गाड़ी-वान ने टिक-टिक के साथ बैलों की पूंछ मरोड़ी और रथ, धचकोले खाता बढ़ चला। 'झुकत सिर टुटत रीढ़ कमर झोंका खावे' का दृश्य फिर प्रस्तुत

हुआ, लेकिन इस बार पुलक और सिहरन की भी कमी नहीं थी।

शशि ने पत्नी को देखा और देखता ही रह गया। शहरी माता के गर्भ से देहाती सौन्दर्य इतने आकर्षक रूप में फूट कर निकलेगा, इसकी उसने स्वप्न तक में कल्पना नहीं की थी।

पत्नी के सौन्दर्य ने शशि को मंत्रमुग्ध कर लिया और उसका अधिकांश समय, सौन्दर्य प्रतियोगिता में नम्बर एक रहने के लिए, अपनी पत्नी को स्वर्ण-पदक प्रदान करने में बीतने लगा। घर की चहार दीवारी के भीतर ही शशि की यह प्रतियोगिता चलती थी।

संध्या समय शशि घूमने जाता। चलती-फिरती युवतियों के चित्र अपने हृदय पर अंकित करता, घर लौट कर अपनी पत्नी के सौन्दर्य से उन की तुलना करता और अन्त में, सौन्दर्य-प्रतियोगिता में सब को मात करने वाली अपनी पत्नी को स्वर्ण पदक प्रदान करता।

शशि के शब्द-कोष में स्वर्ण-पदक का अर्थ था—एक मधुर चुम्बन।

शशि इसी खेल में डूबा रहता। माँ उसे देखती और मुस्करा कर रह जाती। एक दिन माँ ने शशि को बुलाया—"यहां आओ, शशि !"

"क्या है, माँ ?" शशि ने माँ के निकट जाते हुए पूछा।

"कहो शशि," माँ ने पूछा—"बहू कैसी लगी ?"

"तुम्हारी पसंद क्या कभी बुरी होती है, माँ ?" शशि ने कहा—"उस का सौन्दर्य मुझे जीवन की कुरूपता से लड़ने की प्रेरणा देगा।"

जीवन की कुरूपता से लड़ने के लिए शशि को अधिक इन्तजार नहीं करना पड़ा। दो-चार दिन भी नहीं बीते होंगे कि पिता ने उसे बुलाया। बिना किसी भूमिका के बोले—"अब तुम अकेले नहीं हो।"

"जी हाँ।"

"दो से तुम तीन भी हो सकते हो।"

शशि चुप रहा।

"और फिर तीन से चार।"

शशि ने अब टोका। बोला—"आप कहना क्या चाहते हैं ?"

"यही कि मैं तुम्हारा और तुम्हारे बच्चों-कच्चों का जन्म-भर ठेका नहीं ले सकता। अपना काम-धाम देखो, और मुझे छुट्टी दो।"

शशि पिता के कमरे से बाहर आगया। ओट में माँ खड़ी थी। माँ को मुस्कराते देख शशि भी मुस्कराने लगा।

"देखा अपने पिता जी को," माँ ने कहा—"तुम्हारे बच्चों-कच्चों का अभी कुछ पता नहीं है, लेकिन उनके सिर पर बाकायदा बोझ सवार है।"

"लेकिन उनका कहना भी तो ठीक है, माँ," शशि ने कहा—"आखिर वह कब तक मेरा दोज़ख़ भरते रहेंगे।"

"मैं तो उनकी सूझ-बूझ देखकर दंग रह गई," माँ ने कहा—"जीवन में शायद यह पहला अवसर है जबकि उन्होंने इतने कटु प्रसंग को इतने सहज रूप में सामने रखा है। मैं तो डर रही थी कि अगर मेरी तरह उन्होंने तुम्हारे कपड़े-लत्ते भी उठा कर फेंकने शुरू कर दिए तो क्या होगा।"

"यह पहली चेतावनी थी, शायद इसीलिए," शशि ने कहा—"उन्होंने सोचा, लड़का समझदार है। इशारे से ही समझ जायगा। कपड़े-लत्ते उठा-कर फैंकने की हद तक सुन्दर-काण्ड रचना की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

बात चाहे जितने सहज रूप में कही गई हो, उससे स्थिति की गम्भीरता दूर नहीं होती।

"अपने लिए ठिकाना खोजने में तो दिक्क़त नहीं होगी, माँ," शशि ने कहा—"लेकिन आशा का क्या होगा?"

"आशा मेरे पास रहेगी," माँ ने कहा—"वह घर की लक्ष्मी है। उसे घर से निकाल कर वह खुद भी इस घर में नहीं रह सकेंगे, यह मैं अभी से कहे देती हूँ।"

अपनी माँ का आङ्गन, आशा को स्वर्ण-पदक प्रदान करना और कालेज की पढ़ाई छोड़ कर शशि ने अब भारत-माता के आङ्गन में, सत्याग्रह-आश्रम के जीवन में प्रवेश किया। देश के समूचे ओर-छोर में नमक आन्दोलन ज़ोर-शोर से चल रहा था

खण्ड दो

गुरु एक चेले अनेक

: १ :

अपना घर छोड़ने के बाद शशि ने जिस घर में प्रवेश किया उसकी बनावट विचित्र थी। भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों का समन्वय करने के बाद जैसे उसका निर्माण किया गया था, और अपने जीवन के इतिहास में अनेक उतार-चढ़ाव वह देख चुका था।

पुराने ज़माने के किसी कोमल-हृदय तथा दूर दृष्टि रईस ने यह मकान बनवाया था। बनवाने से पहले उन्होंने सोचा कि घर ऐसा हो जो उनके पूर्वजों की याद को अमर रखे। इस के लिए उन्होंने अपने घर के सभी सदस्यों, सगे-सम्बन्धियों, अमीर-ग़रीब नातेदारों, आनेवाले अतिथियों तथा उनके भिन्न सामाजिक स्तरों का लेखा-जोखा तैयार किया। शायद ही कोई बात हो जो उनकी कल्पना से छूटी हो। रात की नींद और दिन का चैन छोड़ कर इस चित्र को उन्होंने पूर्णता तक पहुँचाया।

इसके बाद उन्होंने इन्जीनियर को बुलाया। मकान में क्या-क्या रहेगा, किन-किन बातों का ध्यान रखना होगा, यह सब उसे समझा दिया। इन्जीनियर पहले तो आँखें फाड़े सुनता रहा। उसकी समझ में नहीं आया कि यह किसी मकान का नक़शा बनाने का आदेश दिया जा रहा है अथवा उपन्यास का। लेकिन वह चुप रहा। बड़े आदमी के सामने मुँह खोलना शोभा भी नहीं देता।

भावी मकान के उत्साही मालिक ने कहा,—"हाँ, तो सब बातों का ध्यान रखना। कौन जाने किस वक़्त क्या होजाए। परमात्मा न करे, पुराने जन्म के किन्हीं पापों के कारण यदि इस वंश का ही नाम मिट जाए, तो भी यह घर बना रहे। इसे कुछ इस तरह का बनाना कि ऐसा होने पर, सहज ही, इसे धर्मशाला के रूप में भी परिवर्तित किया जा सके!"

दूर-दृष्टि रईस ने सोचा था कि उनका यह घर एक स्मरणीय घर सिद्ध होगा। पूर्वजों की याद में वह एक अच्छे-खासे प्रेमाश्रम का निर्माण करना चाहते थे। विधाता ने उनकी यह इच्छा पूरी भी की, लेकिन ज़रा दूसरे तरीके से। ज़माने के साथ-साथ इस घर ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। प्रेमाश्रम इस घर को बनना था, लेकिन—दुनिया ही तो है—बन गया वह विधवाश्रम।

यहां तक तो ठीक। अनेक विधवाओं तथा विधुरों ने इस घर में शरण ली। लेकिन बस यहीं पर नहीं हुई। धीरे-धीरे विधवाश्रम व्यवसाय का केन्द्र बन गया। हाँ, उसमें विधवाओं का लेन-देन होने लगा। बहुत दिनों तक प्रेमाश्रम पापागार बना रहा। आखिर एक दिन इसका भी भांडा फूटा। प्रेमाश्रम पर पुलिस का धावा हुआ और प्रेमाश्रम, इसके बाद, बहुत दिनों तक खाली पड़ा रहा।

राष्ट्रीय भावनाओं के उत्थान के साथ-साथ इस मकान के भी भाग जागे, और यह सत्याग्रहाश्रम बन गया। भारत का उद्धार होने में चाहे जो कसर हो, लेकिन इस घर का उद्धार अवश्य हो गया।

घर की, बल्कि कहना चाहिये कि आश्रम की, सब से बड़ी विशेषता उसके दरवाजे थे। वे इतने छोटे थे कि सहज ही ध्यान आकर्षित करते थे। बाहर के दरवाजे को देख कर कोई अनुमान नहीं लगा सकता था कि भीतर से यह इतना बड़ा होगा। कमरों के दरवाज़ों का भी यही हाल था! वे भी काफ़ी छोटे थे। चौखट को पार करने के बाद ही कमरे की बड़ाई, उसमें बनी दो छत्तियों, बैठ कर मुजरा देखने योग्य झरोकों और इस बात का पता चलता था कि कमरा अपने-आप में अकेला नहीं है, उसके भीतर और भी

कमरे तथा तहख़ाने हैं ।

आँख मिचौनी या हमें पकड़ो तो जानें, खेल खेलने के लिये यह घर बहुत ही उपयुक्त था। शशि ने जब पहली बार इस घर को भीतर-बाहर से देखना शुरू किया तो उसे ऐसा मालुम हुआ मानो वह कोई तिलस्मी उपन्यास पढ़ रहा हो। घर में इतने मोड़ थे और हर दरवाज़ा एक ऐसा गलियारा मालूम होता था जिसे पार करने पर हम किसी तहखाने में भी पहुँच सकते थे, और खुले आंगन में भी। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता कि अमुक मोड़ को पर करते ही, कोई राजकुमारी वहां छिपी हुई मिलेगी, या कोई जासूस ऐयारी का बटुवा कंधे पर डाले आता दिखाई देगा, अथवा घुंघरुओं की झङ्कार या किसी कोकिल-कण्ठ का मधुर स्वर सुनाई देगा। लेकिन असल में वहां झींगुरों की झङ्कार और कबूतरों की गुटरगूं के सिवा और कुछ सुनाई नहीं देता था, अबाबीलों ने अपने घोंसले बना रखे थे जो पांव की आहट पाकर निकल-भागने के प्रयत्न में सिरों पर मंडराने लगती थीं।

आश्रम में रहनेवालों की संख्या इतनी अधिक नहीं थी कि उसका हर कोना आबाद हो सकता। उसका बाकी हिस्सा सुनसान रहता था। कबूतरों तथा अबाबीलों की उस में महफ़िल जमती थी और छतों से उलटी लटकी हुई चमगादड़ें मानों प्राणायाम किया करती थीं।

कभी-कभी आश्रम में खूब चहल-पहल रहती थी, और इतने सत्याग्रही जमा हो जाते थे कि आश्रम में उन सब को समेट कर रखना सम्भव नहीं होता था। लेकिन यह चहल-पहल अस्थाई होती थी, कुछ-कुछ वैसी ही जैसी कि किसी जंकशन स्टेशन पर गाड़ी बदलने के समय मुसाफिरों की चहल-पहल होती है।

सच पूछा जाए तो आश्रम की हैसियत भी वही थी जो कि किसी जङ्कशन स्टेशन की होती है। सत्याग्रही वहां आते थे, रहने के लिए नहीं, बल्कि गिरफ्तार होकर जेल का रास्ता नापने के लिए। आश्रम तो जैसे घर और जेल के बीच एक पड़ाव था जहां कुछ देर बैठ कर सुस्ताया, या थोड़ा बहुत कलेवा किया जा सकता था।

शशि की स्थिति इन से भिन्न थी। लिखने-पढ़ने का उसे शौक था, और ऐसा ही काम उसे सौंपा गया। उसका काम था कांग्रेस बुलेटीन के लिये सामग्री जमा करना, बाहर के समाचार पत्रों के लिये ज़िले की खबरें भेजना। इसलिए करीब-करीब स्थाई रूप से, आश्रम ही उसका हेडक्वाटर था।

आश्रम का आङ्गन काफी बड़ा और अच्छा था। ऐसा मालूम होता था मानो दरबार या मेहफ़िल सजाने के लिए वह बनाया गया हो। उसके बीचोंबीच एक बल्ली लगी थी जिस पर विश्व-विजयी तिरंगा प्यारा फहराता था। रोज़ सवेरे, अंधेरे-मुंह, बिगुल बजता था और सब लोग प्रार्थना के लिये झंडे के चारों ओर खड़े हो जाते थे।

शशि को इतने सवेरे उठने की आदत नहीं थी, या यह कहिए कि रात को वह देर से सोता था और इतने सवेरे उठ नहीं पाता था। बिस्तर पर पड़ा वह कुनमुनाता रहता था और सब के मन हर्षाने वाले झंडा-गायन की ध्वनि उसे जगाने का प्रयत्न करती थी। अन्त में, मानो हथौड़े की चोट बनकर, उसके कानों से आवाज़ टकराती:

"तिरंगे झंडे की!"

"जय!"

"महात्मा गांधी की!"

"जय!"

"क़ौमी नारा!"

"वन्दे मातरम्!"

शशि के लिए अब बिस्तरे पर पड़े रहना असम्भव हो जाता। उठकर वह आङ्गन में आता, लज्जा और झुंझलाहट से उसका मुँह लाल हो उठता। मन-ही-मन वह प्रतिज्ञा करता कि कल वह सबके साथ उठेगा, प्रार्थना में शामिल होगा। लेकिन कल आती और उसकी प्रतिज्ञा मीठी नींद के झकोलों में झूलती रह जाती!

आश्रम को देखकर शशि को बहुधा राजा भोज के सिंहासन का ध्यान हो आता। अगले क्षण ही वह सोचता, राजा भोज का नहीं, वह विक्रमादित्य

का सिंहासन था। वह एकाएक निश्चय न कर पाता कि सिंहासन असल में था किस का। राजा भोज का, अथवा राजा विक्रमादित्य का। जो हो, धरती में गड़े रहने पर भी उसकी महानता का लोप नहीं हुआ था। जिस टीले के नीचे वह दबा था, उस पर गड़रियों के कुछ लड़के खेला करते थे।

लड़के वह गड़रियों के थे, लेकिन उनका खेल गड़रियों का नहीं था। जब भी वह खेलते, राजाओं का ही खेल खेलते। न जाने कब से यह खेल चला आरहा था। आखिर एक दिन कोई दूर दृष्टि सज्जन उधर से गुज़रे। गड़रियों के लड़कों का खेल देख कर वह धक् से रह गए। उन्होंने सोचा: "निश्चय ही इस टीले में कोई बात है। अन्यथा यह कैसे होता कि लड़के तो गड़रियों के, और खेल उनके राजाओं के!"

टीले की बात सोच कर शशि मन-ही-मन हंसा। पास में ही आश्रम के एक साथी तकली घुमा रहे थे। शशि को अपने-आप हंसता देख पूछा, "क्या बात है?"

सिंहासन और गड़रियों के लड़कों के खेल की कहानी सुनाने के बाद शशि ने कहा—"हमारे बुजुर्ग भी कैसी-कैसी टीला-बेधी कल्पनाएँ किया करते थे। टीले के गर्भ में तो उनकी दृष्टि प्रवेश कर गई, राजा भोज के सिंहासन को भी वे बाहर निकाल लाए, लेकिन टीले पर खेलने वाले गड़रियों के लड़कों की शक्ति को वह नहीं पहचान सके। वे नहीं जानते कि ये लड़के न जाने कितने राजा भोज के सिंहासनों का निर्माण कर सकते हैं, राजाओं के खेल खेलने की ही नहीं, बल्कि सचमुच का राज करने की क्षमता भी उन में मौजूद है, और उनकी यह क्षमता ऐसी है कि उसे कभी किसी टीले या पहाड़ी के गर्भ में मुंह छिपाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी!"

शशि की बात सुन कर तकली घुमाने वाले आश्रम के साथी का हाथ रुक गया और शशि की ओर विचित्र दृष्टि से देखा। कामदेव को भस्म करने के लिये शिवजी ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर सम्भवतः ऐसी ही दृष्टि से देखा था।

गम्भीर स्वर में बोले—"तुम अपनी बात सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते?"

"बात तो कुछ भी नहीं है," शशि ने कहा—"मुझे तो एक पुरानी कहानी याद आगई। उसी को थोड़ा तोड़-मरोड़ कर कह रहा था।"

"इतना भोला बनने की कोशिश न करो" उन्होंने कहा— "मैं जानता हूँ कि तुम्हारी इस पुरानी कहानी का असली मक़सद क्या है?"

शशि को, सचमुच, उस समय तक ख़ुद पता नहीं था कि उसकी कहानी का असली मक़सद क्या है, और तकली चलाने वाले इन साथी के हृदय के तार क्यों इस हद तक झनझना उठे हैं। संघर्ष के उस चहुँमुखी रूप से शशि उस समय तक अपरिचित था,—या उतनी गहराई के साथ परिचित नहीं था जितना कि उसे होना चाहिये था,—जोकि उन दिनों देश के जन-जागरण के साथ-साथ बड़े बूढ़ों और छोटों के बीच, आन्दोलन को चलाने-वालों और उनके साथ चलने वालों के बीच, सिर उठा रहा था।

इस चहुँमुखी संघर्ष को, स्पष्ट ही, तकली पर लिपटने वाले कच्चे सूत की भांति अपनी चुटकी के वश में रखना सम्भव नहीं था।

शशि ने तकली चलाने वाले साथी की ओर इस तरह देखा मानो वह समझ में न आने वाली कोई पहेली हो। बोला—"आप तो पहेली बुझा रहे हैं।"

"पहेली मैं नहीं बुझाता," उन्होंने कहा—"जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ, साफ़-साफ़ कहना चाहता हूँ। तुम्हारी तरह पुरानी कहानियों की तोड़-मरोड़ करना मेरा धंधा नहीं है। हमारे अपने नगर में भी ऐसा ही एक टीला मौजूद है जिस पर, नौजवान सभा की या ऐसी ही कोई और तख़्ती लगाकर गड़रियों के कुछ खेल कर रहे हैं। अनुशासनहीनता और अनियंत्रण उनकी विशेषता है। समझते हैं कि........"

तकली चलाने वाले आश्रम के यह साथी भी, शशि की ही भांति, आश्रम के स्थाई निवासियों में से थे। उनका नाम क्या था, यह शशि को मालूम नहीं हुआ, मालूम करने की आवश्यकता भी नहीं थी। उन्हें सब तकली बाबा कहते थे। अनुशासन हीनता और अनियंत्रण के वह जानी-दुश्मन थे। आश्रम के भीतर हो चाहे बाहर, जहां कहीं भी उन्हें उसके चिह्न

दिखाई देते, बूढ़े गिद्ध की भांति उस पर टूट पड़ने के लिए तय्यार होते।

तकली बाबा के प्रति शशि के हृदय में पहले तो खीज और चिढ़ ने, और इसके बाद घृणा ने प्रवेश किया जो उत्तरोत्तर बढ़ती तथा घनी होती गई।

: २ :

तकली बाबा निषेधों की साकार प्रतिमा थे। उनका वश चलता तो वह आश्रम को जेल बनाकर छोड़ते, और अगर देश के नहीं तो कम-से-कम नगर के सभी युवकों और युवतियों को अपने आश्रमी खूंटे से बांध कर रखते। उनसे अगर कोई पूछता कि स्वराज्य से आपका क्या मतलब है तो बिना किसी दुविधा के वह तुरन्त उत्तर देते—"आश्रम राज्य !"

तकली बाबा की सूझ-बूझ निराली थी। नगर में घर-घर उन्होंने हण्डियां रखवा दी थीं जिन में घर वाले प्रतिदिन कुछ आटा डाल देते थे। सप्ताह में एक दिन वह आटा जमा कर लिया जाता था। इस पंचमेली आटे की रोटी सब खाते थे। जब कोई हाज़मे की शिकायत करता तो कहते—"अरे, तुम इस आटे को हज़म नहीं कर सकते हो। जानते हो, नगर के निवासी कितने प्रेम से यह आटा जमा करते हैं। बड़े भाग्य से ही ऐसी रोटियां नसीब होती हैं।"

तकली बाबा की किफ़ायतशारी भी देखते ही बनती थी। आश्रमवासी नीम की दतउन किया करते थे और इसके बाद उसे चीर कर फेंक देते थे। तकली बाबा ने कहा—"दांत साफ करने के बाद दतउन फैंकना ग़लत है। उसे धोकर सुखालो और जमा करते जाओ। एक महीने के भीतर ही ईंधन का इतना बड़ा ढेर जमा हो जाएगा कि उस से सात दिन का खाना पक सकता है।"

साग-भाजी की समस्या भी उन्होंने सहज ही हल करली। बोले—"गृहस्थ लोग साग-भाजी छील कर बनाते हैं और उनके छिलके बेकार फेंक देते हैं। डाक्टरों का मत है कि सारे विटामिन छिलकों में ही रहते हैं।"

इसके बाद आटे की भांति साग-भाजी के लिये छिलके और पत्ते भी जमा होने लगे। मसालों की आश्रम के भोजन के लिये यों ही ज़रूरत नहीं

होती। यह बात दूसरी है कि आश्रम-वासी, कभी-कभी, नज़र बचाकर इतनी मिर्चें झोंक देते थे कि एक बार में ही महीने भर की कसर निकल जाती थी।

सावन और भादों का, जाड़े और ताप का, तकली बाबा पर कोई असर नहीं होता था। अपने बदन को मौसम-प्रूफ़ बनाने के लिए जाड़ों में वह नंगे बदन रहते थे और गर्मियों में ऊनी कम्बल लपेट लेते थे। उनके चहरे पर सदा मुस्कराहट खेलती रहती थी, ठीक वैसे ही जैसे कुछ लोगों के चेहरे पर स्थाई विषाद की रेखा स्थाई रूप से चिपक जाती है। जब वह बोलते थे तो उनकी आवाज़ कुंवे की उस चर्खी की आवाज़ की भांति मालूम होती थी जिस में न जाने कब से तेल नहीं पड़ा था। तकली तो उनके व्यतित्व का अंग ही बन गई थी। जिस के बारे में प्रसिद्ध था कि उनका तार कभी नहीं टूटता। कृष्ण के पीछे दीवानी मीरा की भांति वह भी चरखे के,—बल्कि कहना चाहिए कि तकली के,—पीछे दीन-दुनिया को भूल चुके थे।

उनके अन्य गुणों को अगर छोड़ दें तब भी कभी न बदलने वाली उनके चेहरे की हंसी, और कभी न टूटने वाला उनकी तकली का तार, ये दोनो विशेषताएँ उन्हें अमर बनाने के लिए काफ़ी थीं। यह बात अलग है कि उनके चहरे की इस हँसी पर भी अब तनाव पड़ने लगा था, और तकली का तार भी जब-तब टूट जाता था।

जीवन के किसी बीते युग में वह हिंसावादी थे। उन के जिन हाथों में आज तकली घूमती थी, उन दिनों इन हाथों से वह रिवालवर का अचूक निशाना साधते थे। अपने परिवार में एक तो वह स्वयं थे, दूसरे उनकी माँ, बूढ़ी और चिर रोगिणी।

एक दिन बूढ़ी माँ का जी बहुत खराब हो चला। बचने की कोई आशा नहीं रही। तकली-बाबा बहुत व्यथित हुए। एक ओर मृत्यु शैया पर छटपटाती बूढ़ी माँ थी, और दूसरी ओर बन्धनों में जकड़ी भारत-माता। एक माँ कहती थी कि नहीं, तुम मेरे सिरहाने बैठे रहो और दूसरी माँ—

भारत माता ममता के सभी दुनियावी बन्धनों को तोड़-फेंकने का आदेश दे रही थी।

उसी समय, कहते हैं कि स्वयं भारत माता ने आकर उन्हें दर्शन दिए। गहरे अंधकार में प्रकाश की एक किरण उन्हें दिखाई दी। शरीर में उनके चेतना आई और अपने अन्य हिंसा-वादी बन्धुओं को बुला कर उन्होंने कहा,—"मैं एक आवश्यक काम से बाहर जा रहा हूँ। माँ को तुम लोगों पर छोड़े जाता हूँ। इनकी देख-भाल करते रहना।"

लेकिन, जाने से पूर्व वह स्वयं अपनी माँ का प्रबन्ध कर गए थे। उन्मुक्त होकर भारत माता की सेवा करने के लिए उन्होंने अपनी माँ को विष दे दिया था। वस्तुतः माँ की देख-भाल करने का नहीं, वरन् उसकी मिट्टी ठिकाने लगाने का काम उन्होंने अपने मित्रों को सौंपा था। शेष जो कुछ था, उसकी पूर्ति वह कर ही चुके थे।

"लेकिन विष उन्होंने कहाँ से और कब में प्राप्त किया" तकली बाबा के प्रति सन्देह प्रकट करते हुए शशि ने पूछा, "सम्भवतः विष भी भारत-माता ने स्वयं अपने हाथों से ही उन्हें प्रदान किया होगा!"

"तकली बाबा के जीवन के उस दौर से परिचित नहीं हो, इसीलिए तुम ऐसा कहते हो। वह उन व्यक्तियों में से थे स्वतन्त्र रहने के लिये जो जन्म लेते हैं। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि वह सदा स्वतन्त्र ही रहेंगे, और जीते जी पुलिस की कोई भी शक्ति उनके शरीर का स्पर्श नहीं कर सकेगी। इसीलिए........................."

"इसीलिए वह सदा अपने पास विष रखते थे" शशि ने बीच में ही बात काट कर कहा—"और उसका सबसे पहला प्रयोग..........."

"पहला ही नहीं, अन्तिम भी। देख तो रहे हो कि रिवाल्वर के स्थान पर अब उन्होंने तकली को ग्रहण किया है।"

तकली बाबा के जीवन की इस घटना ने सब को स्तब्ध कर दिया था। भयमिश्रित श्रद्धा के साथ सब उन्हें देखते थे— जैसे वह बहुत पहुँची हुई आत्मा हों। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता था मानो आश्रम का सम्पूर्ण

जीवन तकली बाबा में ही समा कर रह गया हो !

अवसर पाकर शशि एक दिन तकली बाबा के पास पहुँचा और गम्भीर मुद्रा में बोला—"रिवाल्वर छोड़कर जो आप तकली बाबा बन गए हैं, सो कुछ लोग आपके इस परिवर्तन पर मुग्ध हैं। कहते हैं, तकली यदि श्रेष्ठ न होती तो आप इसे क्यों अपनाते ? इसके अतिरिक्त भारत माता की सेवा करने के लिए बूढ़ी माँ को आपका विष-दान भी उन्हें एक वीर कृत्य मालूम होता है। वे सोचते हैं कि ...."

शशि की अपूरी बात सुनकर तकली बाबा ने कुछ नहीं कहा। वह अपना सूत निकालने में मग्न थे। कुछ रुक कर शशि ने फिर कहा—"लेकिन मैं आपको महात्मा नहीं समझता, न ही कोई असाधारणता आप में देखता हूँ। इसके साथ-साथ एक ओर जहां आपको महात्मा नहीं समझता, वहां दूसरी ओर हत्यारा भी नहीं मानता। अपनी माँ को जो आपने विष दिया, वह उसके प्राण लेने के लिये नहीं, वरन् माँ की वेदना के क्षणों को कम करने के लिए। माँ बूढ़ी हो गई थी, रोगने बुरी तरह पकड़ लिया था। विष न देने पर भी वह बचती नहीं। बच जाने पर भी, मैं समझता हूँ, वह किसी काम नहीं आती। जवानी जिस देश में दाने-दाने को मोहताज हो, बुढ़ापे का मुर्दा बोझ ढोते रहने के वहां कोई मानी नहीं होते। ऐसी स्थिति में आपने विष का जो प्रयोग किया, वह समझ में आ जाता है। मरने की सुध जिसे नहीं रही है, ऐसा बुढ़ापा आपके इस विष-प्रयोग से, चाहे तो, कुछ शिक्षा भी ले सकता है !"

तकली बाबा फिर भी चुप रहे। ओठों पर न बदलने वाली मुसकराहट लिए पूर्ववत तकली चलाते रहे। शशि ने अब उनकी कमज़ोर रग को छेड़ा।

"तकलियों को चलते हुए जब मैं देखता हूँ" शशि ने कहा—" तो उन दिनों की याद मुझे हो आती है, घर के आँगन में लट्टू जब मैं घुमाया करता था और माँ, बड़े उत्साह से, मेरे लट्टू का घूमना देखा करती थीं।"

बचपन में लट्टू घुमाना शशि के प्रिय खेलों में से एक था। और उसे ऐसा मालूम होता था कि बचपन का वह खेल ही जैसे अब आश्रम के आँगन

में मूर्त्त हो उठा है। तब के और अब के खेल में अन्तर इतना ही था कि इस बार, खेल का जहाँ तक सम्बन्ध था वह तो बच्चों का ही था, लेकिन इस खेल में भाग लेने वाले बच्चे नहीं थे। इसके अतिरिक्त इस खेल को खेलने का उद्देश्य, बच्चों की तरह, केवल मन बहलाना नहीं, वरन् बन्दिनी भारत माता को मुक्त कर जीवन की चेतन शक्तियों का विकास करना था।

तकली बाबा को चिढ़ाने के लिये शशि ने खादी के अर्थशास्त्र के वजन पर, लट्टू के एक अर्थशास्त्र का भी निर्माण कर लिया था। इस अर्थशास्त्र का क्षेत्र काफ़ी व्यापक था। तकली बाबा को निरुत्तर करने के लिए शशि कहता "देखिए, इस लट्टू में कील लगती है, रंग लगता है और लकड़ी लगती है। फिर इसे बनाने के लिए लकड़हारा चाहिए, कुल्हाड़ी चाहिए, बढ़ई और उसके औज़ार चाहियें। यदि प्रत्येक भारतवासी लट्टू नचाना शुरू करदे तो कितने बेकार बाकार हो जायेंगे, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।"

लट्टू को लेकर शशि ने अच्छी-ख़ासी लट्टू-पुराण की रचना कर ली थी। आगे बढ़ कर वह कहता, "लट्टू का क्षेत्र खादी से कहीं अधिक व्यापक है। लट्टू नचाते-नचाते हम सम्पूर्ण संसार को नचा सकते हैं। इसकी उपयोगिता और नाच-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है। विदेशों की प्रत्येक मिस स्लेड को मीरा बहिन बनाने में तो अड़चन पड़ सकती है, लेकिन प्रत्येक विदेशी बालक को लट्टू पर लट्टू करने में कोई अड़चन नहीं पड़ेगी!"

लट्टू का सूत्र पकड़ कर शशि आगे बढ़ता। भारत-माता विश्वमाता में परिणत हो जाती और उस के आंगन में सभी देशों के वासी लट्टू नचाते नज़र आने लगते। उसे ऐसा मालूम होता मानो लट्टू के सहारे मानवजाति के सर्वाधिक प्रिय स्वप्न विश्व बन्धुत्व को भी सार्थक किया जा सकता है। शिक्षा-प्रसार के लिए भी लट्टू कुछ कम उपयोगी नहीं था। धरती किस प्रकार अपनी कीली पर घूमती है, किस प्रकार दिन-रात होते हैं, ऋतुएँ बदलतीं हैं, सभी को शिक्षा लट्टू के द्वारा दी जा सकती है।

शशि मन-ही-मन सोचता, तकली बाबा को अगर लट्टू बाबा कहा जाय तो कैसा रहे। फिर प्रत्यक्ष रूप में कहता—"अच्छी बात है। आपने

आश्रम में बैठ कर आप चाहे जितना तकली घुमाइये, लेकिन आन्दोलन-आश्रम में नहीं, आश्रम से बाहर चल रहा है।"

अब तकली बाबा चौंके। बोले—"आश्रम में रहकर भी तुम आश्रम की उपेक्षा करते हो। आश्रम के प्रति तुम्हारे मन में ज़रा भी श्रद्धा नहीं है।"

"आश्रम के प्रति तो मेरे मन में श्रद्धा है," शशि ने कहा—"लेकिन आपकी तकली के प्रति नहीं है, जो कभी आराम करना नहीं जानती। और यह बात तो आप भी मानेंगे कि आन्दोलन आश्रम में नहीं, आश्रम से बाहर चल रहा है।"

तकली बाबा चुप होगए। आन्दोलन आश्रम से बाहर चल रहा है, इसे शायद वह शशि से भी ज़्यादा जानते थे। खुद आश्रमवासी भी उसकी रौ से नहीं बचे थे। नमक बनाने से लेकर थाने, कोतवाली और कचहरी पर धावों तक में वे हिस्सा लेते थे। ताड़ी-शराब और विदेशी कपड़ा बेचने-वालों की दुकानों पर ही नहीं, उनके घरों पर भी धरना देते थे, उनका सामाजिक बायकाट करते थे। पुलिस अधिकारियों, सरकारी अफ़सरों और अमन-सभा में काम करने वालों के घरों पर जाकर जब वे 'विदेशी कपड़ा हाय-हाय,' 'सरकार के पिट्ठू हाय-हाय' का शोर मचाते या उनके कल्पित शवों की अर्थी निकालते थे तो तकली बाबा को ऐसा मालूम होता था मानो यह उन्हीं का स्यापा मनाया जा रहा हो। सत्याग्रह का भला इस से बड़ा उप-हास और क्या हो सकता था।

लेकिन क्या करते, मन मसोस कर रह जाते। नक्कारखाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता। उनकी आशा का अब एक ही आधार था। वह यह कि जब जोश कुछ ठण्डा पड़ जाएगा तब ये लोग खुद अपने आप उनके पास आयेंगे और कहेंगे—

"बताइये अब क्या करें?"

यह सोच कर मन में कुछ ढाडस बंधता और तकली की गति में फिर तेज़ी आजाती, टूटा हुआ तार जुड़ जाता और उस दिन की प्रतीक्षा करते जब देश के सिर पर से पेशावर, चटगांव और कराची की घटनाओं का

बुखार उतर जाएगा ।

शशि को इस बुखार में ही जीवन दिखाई देता, और वास्तव में जीवन था भी। तकली बाबा से भिन्न वह सोचता,—यह एक ऐसी बाढ़ है जिसे कोई नहीं रोक सकता, जो तकली बाबा को और उन जैसे दूसरे लोगों को या तो अपने साथ बहा कर ले जायगी या उन्हें किनारे पर अथवा किसी कूड़े के ढेर पर फेंक देगी।

: ३ :

सागर की तरंगो को, विशेष रूप में जन-सागर की तरंगों को, किस ने रोका है। काल की अनिवार्य गति की भांति ये पैदा होती हैं, बढ़ती और फैलती हैं, तरंग से उत्ताल लहरों और उत्ताल लहरों से प्रचण्ड थपेड़ों का रूप धारण करती हैं। न उन्हें सूत के कच्चे धागों से बांध कर रखा जा सकता है, न लोहे की जंजीरों से ।

कलकत्ता की शाही कांग्रेस ने, शाही ढंग से, सरकार को अल्टीमेटम क्या दिया, मानो उसे दमन करने की पूरी छूट देदी। सरकार ज़ुल्म करती और जनता मुँह से आवाज़ निकलती—"नहीं रखनी, सरकार विदेशी नहीं रखनी !"

लाहौर-कांग्रेस में इस अल्टीमेटम की अवधि समाप्त हुई । दिसम्बर का अन्तिम सप्ताह था और कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी । शरीर और हृदय को गरमाने के लिए कांग्रेस के पण्डाल में, विशेष कर मञ्च पर जहां नेता जमा थे, अंगीठियों की भरमार थी, फिर भी न हाथ-पांवों का कांपना बंद होता था, न दांतों का किटकिटाना। बर्फीली ठण्ड शरीर को सुन्न करने पर तुली थी।

लेकिन लाहौर में शरीर को सुन्न करने वाली ठण्ड नहीं थी, गर्मी भी थी। लाहौर-युवक-आन्दोलन का गढ़ था। भगतसिंह आदि पर यहीं मुकद्मे चल रहे थे । चौंसठ दिन के अनशन के बाद यतीनदास ने यहीं अपने प्राण त्यागे थे। इन्क़लाब-ज़िन्दाबाद और साम्राज्यवाद का नाश हो के नारे लगाने पर युवकों को खुले आम इतना पीटा जाता था कि वे बेहोश

हो जाते थे।। लाहौर-षड्यन्त्र के अभियुक्तों को, जेल की बात जाने दीजिए, खुली अदालत तक में घसीटा और बुरी तरह पीटा जाता था।

बावजूद इस दमन के और दिसम्बर की कड़ाके की ठण्ड के रावी के तट पर ठीक आधी रात के समय जबकि अल्टीमेटम का वर्ष विदा हो रहा था और जन-सागर की तरंगों से उद्वेलित नया वर्ष प्रवेश कर रहा था, तिरंगा झण्डा फहराया गया और पूर्ण आजादी की घोषणा के ये शब्द आकाश में गूंज उठे—"ब्रिटिश शासन को और अधिक सहन करना मनुष्य और परमात्मा, दोनों के प्रति अपराध है।"

इकत्तीस दिसम्बर के इसी दिन जब कि रात के बारह बजे रावी के तट पर पूर्ण आज़ादी का झण्डा फहराया गया, सांझ के समय एक जलूस निकला। सुभाष बोस इस जलूस का नेतृत्व कर रहे थे और 'इनक़लाब ज़िन्दाबाद' तथा 'साम्राज्यवाद का नाश हो' की ध्वनि आकाश में गूंज रही थी। तभी जलूस पर मार पड़ी और सुभाष बोस को बुरी तरह पीटा गया। अधिकारी इतने उत्तेजित हो गए थे कि उन्होंने असहयोग-८ दिन के चित्र को भी ज़ब्त कर लिया।

और इस के कुछ ही दिन बाद, २६ जनवरी को, दमन और आतंक की धज्जियां बखेरते हुए, समूचा देश पूर्ण आज़ादी का दिवस मनाने के लिए उमड़ पड़ा। जन-सागर की तरंगें, उत्ताल लहरों और इस से भी आगे बढ़ कर प्रचण्ड थपेड़ों का रूप धारण करने के लिए उमड़ने-घुमड़ने लगीं।

जन-सागर की इन तरंगों ने, उत्ताल लहरों और प्रचण्ड थपेड़ों ने, लहरों पर राज्य करने वाली अंग्रेज़ी सरकार के पांव डगमगा दिए।

कांग्रेस की नैया भी इन थपेड़ों को देख कर अनेक आशंकाओं से घिर गई। यात्रा कठिन, नाव कमज़ोर, समुद्र तूफ़ानी, आकाश मेघाच्छादित, चारों ओर कुहरा और केवट नौ सिखुये।

गांधी जी इस नैया के खेवनहार थे। सरकारी दमन से लोहा लेने का बल उनके हृदय में मौजूद था। लेकिन जन-सागर की उत्ताल तरंगों का

वे क्या करें,—क्या वे उन्हें भी अपने वश में रख सकेंगे, कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि ये तरंगें ख़ुद उन्हें ही लील जायं.......

और गांधी जी, जन-साधारण की इन तरंगों से बचने के लिए अपना दामन समेट कर, आन्दोलन शुरू करने की बात सोचने लगे।

लाहौर-कांग्रेस में गांधी जी भी मौजूद थे। ठीक उस समय जबकि पूर्ण आज़ादी को और देश का सर्वनाश करने वाली अंग्रेज़ी सरकार को और अधिक सहन न करने तथा उसे खत्म करने के लिए करों की अदायगी बंद करने की रावी के तट पर घोषणा की जा रही थी, गांधी जी किसी और ही चिन्ता में लीन थे।

इस चिन्ता के कारण वह लाहौर कांग्रेस में भी अन्त तक शामिल नहीं हो सके। पूर्ण-स्वतंत्रता का प्रस्ताव पास होते ही वह साबरमती आश्रम चले आए।

कुछ ने कहा—"लाहौर की ठण्ड उनके लिए असह्य थी, इसलिए उन्हें वहां से चले जाना पड़ा।

कुछ ने कहा—"नहीं, वहां की गर्मी—युवकों के हृदय की गर्मी—उन्हें असह्य हो उठी, इसलिए चले आए!"

जो हो, लाहौर से वह चल दिए, और साबरमती आश्रम पहुँचे।

उस समय रात काफ़ी हो आई थी। गांधी जी की शांति भंग न हो, इसलिए आश्रम-वासियों ने उनके स्वागत आदि का कोई इन्तज़ाम नहीं किया था। सब भारी उत्सुकता से दूसरे दिन सवेरे प्रार्थना के समय की प्रतीक्षा करने लगे।

प्रार्थना सुबह के चार बजे होती थी। सभी आश्रमवासी प्रार्थना-भवन में जमा हो गए। चारों ओर सन्नाटा छाया था। वातावरण गम्भीर आतंक से पूर्ण था। सब के कान गांधी जी की ओर लगे थे।

आखिर गांधी जी के कण्ठ से ध्वनि प्रकट हुई, एक ऐसी ध्वनि जो सन्नाटे को, गम्भीर आतंक के वातावरण को, भंग करने के बजाय उसे और घना करती मालूम होती थी!

प्रवचन में गांधी जी ने आश्रम के ही एक ज़िम्मेदार निवासी का ज़िक्र किया। यह आश्रमवासी एक तरह से, गांधी जी के दाहिने हाथ थे। गांधी जी के साथ वह भी लाहौर कांग्रेस में गए थे और ठीक उस समय जबकि आज़ादी का प्रस्ताव पास किया जा रहा था, उन्होंने गांधी जी को एक पत्र दिया। पत्र क्या था, पूरा एक पोथा था जिसमें उन्होंने अपने एक नये पाप का ज़िक्र किया था।

आश्रम के यह निवासी विवाहित थे। पर एक कुमारी बहन के साथ कुछ दिनों तक उनका अनुचित सम्बन्ध चला था। यह अनुचित सम्बन्ध भी स्पर्श-आदि तक ही सीमित था, लेकिन विकार तो वह था ही। गांधी जी ने कहा, हमारा व्रत बहुत ही पवित्र है। गन्दगी नहीं चल सकेगी। हमें अपना हृदय निर्मल बनाना होगा। कहीं ऐसा न हो कि मुट्ठी में आया स्वराज्य हाथ से निकल जाए।

गांधी जी की वेदना का, और उनकी आशंकाओं का, कोई अन्त नहीं था। उनके चहरे पर वह हंसी भी अब नहीं दिखाई देती थी जिससे कि हम सब इतना परिचित हैं। सन बीस का आन्दोलन उन्होंने इसलिए बन्द कर दिया था कि चौरीचौरा के किसानों ने, ज़मींदारों की ज़्यादतियों और सरकार की संगठित हिंसा से तंग आकर, पुलिस के एक थाने में आग लगा दी थी। इस बार आशंका यह थी कि यहां ब्रह्मचर्य का स्खलन या किसी युवती को देख कर हृदय में वासनाओं की हलकी या भारी उद्रेक ही आन्दोलन पर आन्दोलन चलाने के गांधी जी के उत्साह पर, तुषारापात न करदे।

आश्रम के नियमों में और भी कड़ाई बरती जाने लगी। रोज़ सुबह के साढ़े चार और साढ़े छः बजे प्रार्थना में शामिल होना लाज़मी हो गया। जो चूका सो गया,—उसके लिए आश्रम से निकालने की सज़ा नियत कर दी गई। प्रार्थना के लिये पांच मिनट तक घंटी बजती। घंटी बजना बंद होते ही प्रार्थना-भवन के दरवाज़े भी बंद हो जाते, और जो ग़ैर हाज़िर रहता था उसका आश्रमी ढंग से कोर्टमार्शल किया जाता।

सांझ की प्रार्थना तो किसी तरह निभ जाती। मुसीबत था सुबह साढ़े

चार बजे उठना। कभी-कभी नींद में घंटी की आवाज़ तक सुनाई नहीं देती। आख़िर तय हुआ कि सब लोग अपने सिरहाने थाली और चम्मच लेकर सोएं। जिसकी आंख पहले खुलें, वह चम्मच से थाली बजाना शुरू कर दें।

इसी बीच, उस समय जब कि डांडी-यात्रा की तैयारियां चल रही थीं, एक और मुकदमा पेश हुआ। आश्रम के एक निवासी, नियत परिमाण में सूत कात कर नहीं दे सके थे। इस घटना ने भी गांधी जी को अत्यन्त व्यथित किया। गांधी जी के ही शब्दों में, सूत कात कर न दे सकने वाले यह सज्जन ऐसे थे जिनके लिए वह, अर्थात गांधी जी, फांसी तक चढ़ सकते थे।

जब इस सज्जन का नाम प्रकट किया गया तो सब दंग रह गए। वह सचमुच गांधी जी के परम-भक्त और आश्रम के संस्थापक सदस्यों में से थे। उनकी अहिंसा भी मशहूर थी। एक बार चोर के आने पर वह उसके सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए। कहने लगे—"भाई, चोरी छोड़ दो। बुरा काम है। फिर तुम तो आश्रम में चोरी करने आए हो जिसका उद्देश्य लोगों की सेवा करना है।"

चोर पर उनकी बातों का कोई असर नहीं हुआ,—कहें कि उलटा ही असर हुआ, उसने उन्हें खूब पीटा और उनकी आंखों के सामने ही, आश्रम का माल उठा कर चम्पत हो गया।

आश्रम का यह वातावरण कितना भिन्न था उस वातावरण से जो रावी तट पर, और उसके बाद देश के समूचे ओर-छोर में, हिलोरें ले रहा था। कहां जन-सागर की उन्मुक्त हिलोरें और कहां बंद पोखर का निश्चल पानी जिसमें, कंकर फेंकने पर भी, मुश्किल से ही तरंगें उठती हैं।

चाहते तो गांधी जी भी जन-सागर की इन उन्मुक्त हिलोरों को साथ लेकर चल सकते थे! लेकिन उन्होंने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। देश की छत्तीस करोड़ जन-संख्या में से उन्होंने चुना केवल आश्रम के मुट्ठी-भर निवासियों को,—जिनकी संख्या कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष के रथ में जुते

घोड़ों की संख्या से भी कम थी !

आन्दोलन शुरू करने का गांधी जी एक ही तरीक़ा जानते थे। यह उनका पेटेन्ट तरीक़ा था,—बहुत ही भला और बहुत ही सीधा-सादा। वह यह कि सब से पहिले अधिकारियों को सूचित कर देते कि मैं अमुक दिन, अमुक समय, अमुक गैर क़ानूनी काम करने जा रहा हूँ। फिर नियत समय पर, अधिकारियों और देसी-विदेशी समाचार-पत्रों के संवाददाताओं तथा फोटोग्राफरों की मौजूदगी में गिरफ्तार होते और मोटर में बैठकर जेल पहुँच जाते।

इसके बाद जनता आगे बढ़ती, लाठी-गोलियों से लोहा लेती और आन्दोलन को सही मानी में आन्दोलन बनाती।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिखा। एक अंग्रेज के हाथ गांधीजी ने यह पत्र वाइसराय के पास भेजा। वाइसराय ने पत्र को ठुकरा दिया। गांधीजी का हृदय वेदना से कराह उठा:

"दस्त-बस्ता रोटी का सवाल मैंने किया था, और पत्थर मुझे मिले !"

वाइसराय का जवाब क्या था, चोर ने उलट कर कोतवाल को डांटनेवाली कहावत को पूरा किया था। वाइसराय ने जैसे गांधीजी के मर्म पर आघात किया। उनके पत्र का एक-एक अक्षर जैसे कहता प्रतीत होता था—"ब्रिटिश शासन की हिंसा, उसके दमन और शोषण की बात करना बेकार है। पहले अपने देश की हिंसा को ख़त्म करो।"

गांधीजी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और हिंसा के पेड़ में अहिंसा के फल उगाने के असम्भव प्रयोग शुरू कर दिए,—दूसरे शब्दों में यह कि आन्दोलन शुरू हो गया।

गांधीजी की निश्चिन्तता और फ़ुरसत का भाव देखते ही बनता था। मोटर, रेल और वायुयान के इस युग में, साबरमती आश्रम से लेकर डाण्डी गांव तक दो सौ मील का रास्ता, पैदल ही तय करने का निश्चय किया। साबरमती नदी के चौड़े पाट को भी, बावजूद इसके उस पर पुल मौजूद था, पैदल ही पार किया गया। गर्मियों के दिन थे, नदी में पानी घुटनों से अधिक नहीं था, सहज ही वैतरणी पार हो गई।

इस यात्रा का लक्ष्य था दाण्डी-तट पर जाकर नमक-कानून भंग करना।

आश्रम के उन्नासी लोगों को गांधीजी ने इस कूच के लिए चुना। बारह मार्च सन् ३० की सुबह यात्रा शुरू हुई। कूच के सैनिकों में सभी प्रान्तों के निवासी थे। उनकी भाषाएं भिन्न थीं, वेश-भूषा भिन्न थी। केवल एक ही चीज़ ऐसी थी जो उनमें कुछ समानता का संचार करती थी। वह चीज़ थी गांधी टोपी जिससे वे अपने सिरों को ढके थे। उनमें कुछ के चेहरे सफाचट थे, कुछ के चेहरों पर लम्बी दाढ़ी फहरा रही थी और कुछ ऐसे भी थे जिनके चेहरों पर मूंछ-दाढ़ी के कोई चिह्न तक नहीं दिखाई देते थे, एकदम किशोर-वयस्क। बदन पर कुछ चप्पल, धोती-कुरता और टोपी पहने थे, कुछ लुंगी और उसके ऊपर ढीला-ढाला कुरता डाले थे। कुछ पूरी धोती पर नंगे बदन थे, और कुछ कुरते की जगह चादर लपेटे थे। कुछ बिलकुल नंगे पैर और खुले बदन थे,—कमर के नीचे लुंगी और सिर पर बगुले के परों की भांति सफेद टोपी पहने थे, जो ढीली होने के कारण, बार-बार आंखों को ढक लेती थी।

कूच के इन सैनिकों के पास कोई झण्डा नहीं था, बैज नहीं था। जवाहरलाल नेहरू को यह अखरा और उन्होंने एक बैज तैयार कराया जिस पर भारत का नक्शा बना था। यात्रा शुरू होने के कुछ दिन बाद यह बैज कूच के सैनिकों के पास भी पहुँच गया। किसी ने इसे टोपी के दाहिनी ओर लगाया, किसी ने बाईं ओर, किसीने कुरते के दाहिनी ओर छाती पर और किसी ने बाईं ओर। जो कुरता नहीं पहने थे, उन्होंने अपनी चादर पर ही इसे लगाया। गांधी जी की चादर पर भी, खुद जवाहरलाल ने, यह बैज लगाया। गांधी जी को यह अच्छा नहीं लगा। बैज तो उन्होंने नहीं उतारा लेकिन अपनी चादर को पलट कर ओढ़ने लगे,—बैज अब दिखाई नहीं देता था, लेकिन उनके हृदय के अधिक निकट पहुँच गया था!

सेना के कूच का तरीका भी निराला था। कभी दो-दो की पांतें बनाकर चलते थे, जब मार्ग कुछ चौड़ा होजाता था तो चार-चार की पांतों में हो जाते थे और खुला मैदान आने पर उन्हें बिखरते भी देर नहीं लगती

थी। कभी-कभी इसका उल्टा भी होता था। खुले मैदान में दो-दो की पांतों में चलते थे, सकरे मार्गों में चार-चार की पांतों में या बिल्कुल ही बिखर कर। गांधी जी चलने में तेज़ थे, और पीछे फिर कर एक बार भी नहीं देखते थे कि कोई उनका साथ दे पारहा है या नहीं। कूच के सैनिक दोनों कंधों से दो छोटे-छोटे थैले लटकाए, चादर ओढ़े और लुङ्गी कसे, पांत के फेर में न पड़ गांधी जी के साथ रहने का प्रयत्न करते थे।

साबरमती नदी आश्रम से चार मील दूर थी। सड़क के इस-उस ओर हज़ारों लोग जमा थे। नदी के उस पार सिनेमा कम्पनी वाले साज़-सामान से लदी अपनी लारियों के साथ मौजूद थे। हर पहलू और कोण से: सामने से, पीछे से, अगल और बगल से,—वे यात्रा को फिल्म-बद्ध करना चाहते थे। लारियां धूल उड़ाती, कभी इधर से उधर दौड़तीं, कभी उधर से इधर। सारा वातावरण धूल से अट गया। धूल में ताकते-ताकते सैनिकों की आंखें लाल होगईं, सांस लेने में हवा की जगह धूल फेफड़ों में प्रवेश करने लगी।

तभी चारमील के रास्ते में शायद पहली बार, गांधी जी खड़े होगये। घूम कर उन्होंने पीछे आने वाले सैनिकों की ओर, और सैनिकों ने उनकी ओर, देखा। शरीर का जितना हिस्सा खुला हुआ था उस में चमड़ा कहीं भी नजर नहीं आता था। ऐसा मालूम होता था मानो मिट्टी के तैयार किये हुये जीवित पुतले खड़े हों!

पास में एक बट वृक्ष था। उसी के नीचे गांधी जी ने पड़ाव डाला। कुछ ही दूर एक तालाब था। उसके पानी से सैनिकों ने धूल से मुक्ति प्राप्त की। साथ आने वाली भीड़ के सम्मुख गांधी जी ने एक छोटासा भाषण दिया, और यात्रा फिर शुरू हो गई

मार्ग में पड़ने वाले गांव बन्दनवारों से सजे थे। गाजे-बाजे के साथ नर-नारी गांधी जी का स्वागत करते, स्त्रियाँ उनकी आरती उतारतीं, तिलक-चन्दन लगातीं, गले में माला डालतीं और नारियल भेंट करतीं।

गांवों को, उनकी बन्दनवारों और गांव की स्त्रियों द्वारा भेंट किए गए

नारियलों को, पीछे छोड़ गांधी जी आगे बढ़े। सूरत पहुँचे। रात को तापी नदी की रेती पर एक सभा हुई।

नगर की आबादी एक लाख से अधिक नहीं थी, लेकिन सभा में दो लाख लोग जमा थे। आस-पास के देहातों के लोग भी आगए थे। ऐसा मालूम होता था मानो तापती की रेती पर जन-सागर हिलोरें ले रहा हो। बीच में ऊंचा मञ्च था जिस पर गांधी जी बैठे थे। लेकिन वह बोल नहीं सके। लाउड स्पीकर ऐन वक्त पर खराब हो गया, और गांधी जी की वाणी जन-रव में विलीन हो गई।

सभा के अन्त में, नारियलों के बजाय धन की वर्षा होने लगी। स्त्रियों ने अपने आभूषण भेंट किये,—मंच पर अंगूठियों, कर्णफूलों, गले के हारों, बाजूबन्दों और कंगनों का ढेर लग गया। सेठों में से एक ने एक हज़ार की थैली की घोषणा की, दूसरे ने दो हज़ार की। सूरत के सेठों ने अहमदाबाद के सेठों को चुनौती दी, अहमदाबाद के सेठों ने बम्बई के सेठों को। इन चुनौतियों के बाद अंगूठियों और कर्णफूलों का नीलाम हुआ।

दूसरे दिन सबेरे का दृश्य और भी अद्भुत था। रात-भर जाग कर लोगों ने, स्त्रियों और पुरुषों ने, अशोक और आम के पत्तों की बन्दनवारों तथा सतरंगी झण्डियों से अपने घरों को सजाया। समूचे नगर ने सोलह सिंगार किए नयी दुलहिन का रुप धारण कर लिया। हर घर से फूलों की वर्षा हो रही थी। गुलाब की कोमल पंखुड़ियों को अपने कपड़ों पर से झाड़ते और अपने पांवों से उन्हें कुचलते सैनिक आगे बढ़े।

नवसारी में जो गांधी जी की दांडी-कूच का अंतिम पड़ाव था, उन्होंने घोषणा की—"या तो मैं इच्छित फल लेकर लौटूंगा या सागर में मेरा मृत-शरीर तैरता हुआ नजर आएगा।"

पच्चीस दिन बाद यात्रा समाप्त हुई और गांधी जी दाण्डी-तट पर पहुँचे। सबेरे का समय था। गांधी जी ने न जाने कितने वर्षों बाद स्नान करने के लिए समुद्र में प्रवेश किया। दुबला-पतला शरीर, समुद्री लहरों की टक्कर भला कैसे बरदाश्त करता। गांधी जी के पांव डगमगाने लगे। सैनिकों ने

बांह में बांह डालीं और गांधी जी के चारों ओर घेरा बना लिया। ऐसा मालूम होता था मानो वे मच्छी-मच्छी कित्ता पानी वाला खेल खेल रहे हों।

इसके बाद वह क्षण भी आया जिस के लिए दो सौ मील का रास्ता तय कर, आश्रम के परखे हुये उनासी सैनिक यहां आये थे।

समुद्र के किनारे एक गढ़ा था जिसका पानी काफी खारी था। गांधी जी ने उसे चखा और एक पात्र में भर लिया। अन्य सैनिक भी, पानी सूख जाने के कारण आस-पास में जहां नमक बना पड़ा था, उसे उठा लाए।

नमक कानून टूट गया। लेकिन सरकार में कोई जुम्बिश पैदा नहीं हुई, उसने गांधी जी को गिरफ्तार नहीं किया।

सांझ को सभा हुई। गांधी जी का बनाया नमक नीलाम हुआ। अहमदाबाद के एक सेठ ने, दो-तीन माशे नमक की उस पुड़िया को, पांच सौ पच्चीस रुपये में खरीदा।

सरकार ने अब भी कोई जुम्बिश नहीं ली।

गांधी जी गैर कानूनी नमक बनाते रहे, नमक का यह पहाड़ ऊंचा होता रहा और गांधी जी सूनी आंखों से आकाश की ओर ताकते रहे।

दांडी का जन-शून्य समुद्र तट जन-शून्य ही बना रहा। अपनी मोटरों में बैठकर समुद्र तट पर आए सेठों के हाथ नमक की पुड़ियां नीलाम करने का आकर्षण भी शीघ्र ही समाप्त हो गया।

गांधी जी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करें। निस्तब्धता को भंग करने के लिये उन्होंने आदेश दिया कि ताड़ी वृक्ष काटे जाएं। लेकिन यह काम भी बस्ती से दूर जंगलों में ही होता था। ताड़ी के वृक्षों पर पड़ने वाली चोटों ने निस्तब्धता को भंग करने के बजाय उसे और भी अधिक घनीभूत कर दिया। कुल्हाड़ी की चोटों ने जंगल के पशु-पक्षियों को भले ही आतंकित किया हो, सरकार को परेशान नहीं किया।

सरकार चुप थी, और चुप ही बनी रही। मानों वह कानों में तेल डालकर सो रही हो!

लेकिन नहीं, सरकार चुप नहीं थी, वह कानों में तेल डालकर भी

नहीं सो रही थी, बल्कि वह व्यस्त थी उस जनता से लोहा लेने में जिस ने, सच्चे मानी में, पूरे जोश के साथ देश के दूसरे हिस्सों में नमक आन्दोलन शुरू कर दिया था।

दमन का कोई अस्त्र ऐसा नहीं था जिसका वह प्रयोग न कर रही हो: गिरफ्तारियां हो रही थीं, लाठी-गोलियां चल रही थीं, फौजों और बख्तर-बन्द गाड़ियों से नगरों और बस्तियों को घेरा जा रहा था।

: १४ :

गुरू एक, चेले अनेक और प्रचारक असंख्य........!

सरकार ने इस बार गुरू को तो दांडी के जनशून्य तट पर नमक बनाने या जंगल में ताड़ के वृक्षों को काटने के लिए छुट्टा छोड़ दिया, और उनके चेलों तथा असंख्य प्रचारकों पर खुलकर आक्रमण किया।

पांच अप्रैल को गांधीजी ने नमक कानून तोड़ा। इसके बाद, पहले सप्ताह में ही, गांधीजी के निकटतम साथियों को सरकार ने चुन लिया,—गुजरात में सरदार पटेल पहले ही गिरफ्तार हो चुके थे, इलाहाबाद में जवाहरलाल नेहरू, कलकत्ता में सेनगुप्त, बम्बई में नरीमान और कराची में चोइथराम गिडवानी गिरफ्तार हो गए। इनका स्थान ग्रहण किया युवकों की युद्ध-परिषदों और सेवा-दल के फौजी संगठनों ने। स्त्रियां भी पीछे नहीं रहीं। दादा भाई नौरोजी की पोती ने, अन्य स्त्रियों के साथ, सीने पर लाठियों की मार सही, पर पुलिस को नमक की कड़ाहियों तक नहीं पहुँचने दिया।

सप्ताह के अन्तिम दिन चौपाटी पर नमक कानून का रावण बना कर जलाया गया। एक लाख से भी ऊपर लोग सभा में जमा हुए। लाठी प्रहार सहन करना जैसे उनके लिए सम्मान का प्रश्न था। पुलिस बार-बार लाठी चार्ज करती, और भीड़ छंटने का नाम नहीं लेती।

इसी दिन, उस समय जबकि कलकत्ता में नेहरू और सेनगुप्त की गिरफ्तारी के विरोध में हड़ताल कराई जा रही थी, युवकों के प्रयत्नों को विफल करने के लिए फौज का पूरा ताम-झाम जुटाया गया, बख्तर बंद गाड़ियां बाज़ारों में घूमने लगीं। ऐसा मालूम होता था मानो नगर फौजी

घेरेबन्दी में हो । फिर भी हड़ताल हुई—न ट्राम चल सकीं, न ट्राली बसें, स्कूल भी बन्द रहे, और कालेज भी।

युवकों और छात्रों को सरकार ने विशेष रूप से अपने बर्बर दमन का निशाना बनाया।

बंगाल में नमक बनाने की घटनाएं कम हुईं। युवकों और सेवा-दल के सैनिक हाथों में झन्डा लेकर निकलते, उसे छीनने में पुलिस पूरी पाशविकता का परिचय देती। युवकों की कलाइयां टूट जातीं, पर झंडों की गिरिफ्त ढीली न होने देते।

युवकों ने एक सभा में जमा होकर ज़ब्त साहित्य का पाठ किया। देसी पुलिस पर अंग्रेजों को शायद भरोसा नहीं था। गोरों ने युवकों की इस निहत्थी भीड़ पर लाठी चार्ज किया।

एक दिन, विश्व विद्यालय के सामने वाली सड़क पर, पुलिस ने लोगों पर निर्मम लाठी प्रहार किया। कुछ लड़कों से यह नहीं देखा गया। उन्होंने आवाज़ लगाई: "कायर........कमीने।" इसके दो घंटे बाद एक अंग्रेज आफिसर पुलिस लेकर विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ। कक्षाओं में घुस कर पढ़ते छात्रों पर इस हद तक लाठी प्रहार किया कि दीवारें खून से रंग गईं।

लाहौर में कुछ छात्र दुकानों पर धरना दे रहे थे। पुलिस ने देखा और उनसे बदला लेने के लिए एक कालेज पर टूट पड़ी। अध्यापकों तक को न छोड़ा। धरना देने वाले छात्र किसी दूसरे कालेज के थे, और लाठियों की मार सहने वाले ये छात्र तथा अध्यापक किसी दूसरे कालेज के!

कराची में चोइथराम गिडवानी को गिरफ्तार कर पुलिस ने अदालत में पेश किया। बीस हज़ार लोगों की भीड़ ने अदालत को घेर लिया, खिड़की के चौखटों और शीशों को तोड़ डाला। लोगों ने पुलिस की गोलियां खाईं, अपना खून बहाया, लेकिन न्याय का वह नाटक नहीं होने दिया जोकि सरकार करना चाहती थी।

इसी बीच एक ऐसी घटना घटी जिसने समूचे देश को चकित कर

दिया, जिसका साहस कल्पनातीत था और संगठन-शक्ति अद्भुत ।

यह घटना थी चटगांव शस्त्रागार पर युवकों के एक दल का धावा ।

रात का समय था । युवकों के सधे हुये हाथों ने एक साथ टेलीफ़ोन, ऐक्सचेन्ज के सम्बन्ध काटे, कलकत्ता और ढाका को जोड़ने वाली तार की लाइनों को विच्छिन्न किया, धूम और जयराजगंज के बीच रेल की पटरियों को उखाड़ा, आसाम-बंगाल रेलवे हैडक्वार्टर पर धावा किया और वहां से राइफलें तथा गोली-बारूद अपने कब्जे में की, रिज़र्व पुलिस के सन्तरियों को बेकाम कर कितनी ही बन्दूकों पर अपना अधिकार किया और बारूद घर में आग लगादी, और जिन बन्दूकों को वे अपने साथ नहीं ले जा सके उन्हें हथौड़े मारकर चकनाचूर कर दिया।

यह सब आनन-फ़ानन में होगया । लेकिन इस से भी अधिक अद्भुत साहस का युवकों ने परिचय दिया बाद में, उस समय जब पुलिस से उनकी मुठ-भेड़ हुई । लगभग पचास युवकों ने इस धावे में हिस्सा लिया । हिमांशु सेन गारद-रूम में आग लगाते समय मर गया, उसकी लाश इतनी झुलसी हुई थी कि पहिचानना मुश्किल था । अगले दिन, पुलिस से लोहा लेते समय, उन्नीस युवक अपनी जान पर खेल गए । पुलिस उन्हें जीवित गिरफ्तार नहीं कर सकी । दो दिन बाद फिर पुलिस से आमने-सामने का युद्ध हुआ जिस में बारह आदमी मारे गये । एक ने आत्म-हत्या करली, दो सप्ताह बाद फिर आमने-सामने का युद्ध हुआ जिसमें छै युवकों ने अपनी जान की बलि दी । एक अन्य युवक जो पुलिस की गोली से घायल होगया था, पुलिस के हाथों में पड़ने के बजाय भाग कर तालाब में कूद गया ।

जान देना उन्हें मंजूर था, जीते जी पुलिस के हाथों में पड़ना नहीं । ऐसे जां-बाज़ों को पकड़ना आसान नहीं था । सूचना मिलते ही ज़िला मजिस्ट्रेट घटना स्थल की ओर लपके, लेकिन वहां तक पहुँच भी नहीं सके । रास्ते में ही किसी युवक की गोली ने उन्हें ठंडा कर दिया । मशीनगनों के निरन्तर चलने की ध्वनि कई दिनों तक सुनाई देती रही । गिरफ़्तार करने-वाले आते, और घायल होने के बाद अस्पताल पहुँचा दिये जाते । युवक

क्या थे, मानो एक छलावा थे जो टूट पड़ना ही जानते थे, गिरफ्तार होना या आत्मसमर्पण करना नहीं !

कराची में हज़ारों की संख्या में लोगों ने जमा होकर समुद्री घाटों पर धावा किया, हज़ारों मन नमक उन्होंने बटोरा और पुलिस के गहरे आतङ्क के बावजूद उसे बाज़ारों में लेजाकर बेचा। कराची से उठी हुई लपटें अन्य नगरों में भी पहुँचीं और नमक के प्रकृत ज़खीरों तथा सरकारी डिपुओं पर साहसपूर्ण धावे होने लगे।

सीमा प्रान्त में घटनाओं ने और भी उग्र, किन्तु सर्वथा नया, रूप धारण किया।

बात कोई बड़ी नहीं थी। तेईस अप्रेल से पेशावर में शराब की दुकानों पर धरना देने का कार्य-क्रम था। बाईस तारीख़ को पुलिस की ज़्यादतियों की जांच करने के लिये, कांग्रेस का एक डेप्यूटेशन भी पेशावर के लिये रवाना हो गया। उसे पुलिस ने अटक में ही रोक लिया। इसके विरोध में पेशावर में एक जलूस निकला, शाही बाग में विराट सभा हुई। अगले दिन, तड़के ही, नौ नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इसके कुछ घन्टे बाद, नौ बजे, दो नेताओं को पुलिस ने और गिरफ़्तार किया। जिस लारी में बैठा कर पुलिस उन्हें थाने लेजा रही थी, रास्ते में उसने सत्याग्रह कर दिया,—वह बिगड़ गई। नेताओं ने पुलिस से कहा—"आप घबराएं नहीं। हम अपने आप थाने पहुँच जाएंगे।"

पुलिस मान गई। नेता थाने की ओर चले। जब बाज़ार में से गुज़रे तो एक जलूस बन गया। जलूस के साथ नेता काबुली दरवाज़े की ओर चले। थाना वहीं था।

जब जलूस अपनी मंज़िल पर पहुँचा तो देखा कि थाना बन्द है। पता नहीं, थाना क्यों बंद था। शायद पुलिस ने, डर के मारे, भीतर से बंद कर लिया था। हो सकता है, अन्य किसी कारण से भी बंद हो।

तभी एक पुलिस अफ़सर घोड़े पर आया। जलूस ने उसे देख कर नारे लगाए। वह ग़ायब हो गया। कुछ देर बाद बख्तरबन्द गाड़ियां आईं

और भीड़ में घुस गईं। कई आदमी कुचल गए। इसी बीच एक अंग्रेज़ अफ़सर, बदहवास, मोटरसाइकिल पर आरहा था। वह बख्तरबंद गाड़ी से टकरा गया। उसकी साइकिल चकनाचूर हो गई। फिर क्या था, बख्तरबंद गाड़ियों से अंधाधुंध गोलियां चलने लगीं। तीन घन्टे तक निरन्तर गोली वर्षा होती रही। उत्तेजित भीड़ ने एक बख्तरबन्द गाड़ी में आग लगादी।

गोलियों की इतनी अंधाधुंध वर्षा शायद ही कभी हुई हो। एक साहब जो पत्नी और बच्चों के साथ तांगे पर जा रहे थे, गोलियों ने उन्हें भी नहीं छोड़ा। नौ साल की उनकी लड़की और सोलह साल का लड़का मारा-गया। तांगे से वे इस प्रकार गिरे जैसे चिड़िया के घोंसले से उसके बच्चे गिरते हैं। माँ की बांह और छाती में भी गोली लगी,—उसका एक स्तन बिलकुल ही उड़ गया।

मृतकों का इसके बाद जलूस निकला। जलूस पर भी गोली वर्षा हुई। जो अर्थियां उठाते, उन पर पुलिस गोली चलाती। वे मरजाते तो अर्थियां उठाने के लिए दूसरे आगे आते। उन पर भी गोलियां चलतीं। इस तरह, एक के बाद एक, सत्रह बार गोलियां चलीं.........!

लेकिन यह तो अभी शुरूआत ही थी। जनता का उभार कम होते न देख गढ़वाली सैनिकों की दो टुकड़ियों को बुलाया गया। उन्हें आदेश मिला कि भीड़ पर गोली चलाएं।

गढ़वाली हिन्दू थे, और भीड़ के लोग मुसलमान। अंग्रेज़ों का विश्वास था कि हिन्दू सैनिक, तिस पर भी गढ़वाली जिनकी अंग्रेज़-भक्ति बेदाग थी, मुसलमानों को भूनने में ज़रा भी आना-कानी नहीं करेंगे। लेकिन गढ़वाली सैनिक थे कि उन्होंने गोली चलाने से इन्कार कर दिया, गोली चलाने के बजाय वे भीड़ से जा मिले।

इसके बाद, करीब करीब दस-बारह दिन तक, पेशावर से अंग्रेज़ी राज्य के सभी चिन्ह मिट गए, और उस पर फिर से कब्ज़ा करने के लिए हवाई सेना का उपयोग किया गया। गढ़वाली सैनिकों का फिर कोर्टमार्शल हुआ, और भारी सज़ाएं उन्हें दी गईं।

गढ़वाली सैनिकों का अपराध यह था कि अंग्रेज़ उन्हें हिंस्र जन्तु बनाना चाहते थे, और उन्होंने हिंस्र जन्तु बनने से इन्कार कर दिया था।

सक्रिय अहिंसा की इस घटना से समूचे देश में बिजली की एक लहर सी दौड़ गई, अद्भुत साहस का उसने संचार किया।

दांडी का जन शून्य तट भी इन घटनाओं के असर से नहीं बच सका। गांधी जी ने भी, मानो चटगांव धावे के वज़न पर, धरसाना धावे का कार्यक्रम बनाया। इस धावे का लक्ष्य था, धरसाना के नमक के सरकारी कारखाने पर कब्ज़ा करना।

गांधी जी ने वाइसराय को एक और पत्र लिखाः

"मुझे अब और भी साहसपूर्ण कदम उठाना होगा............मैं देखना चाहताहूँ कि तुम्हारे ख़ूनी पंजों में कितना बल है........?"

देश के नाम गांधी जी ने सन्देश दियाः

"आज एक मुट्ठीभर नमक में ही भारत का सम्मान निहित है। मुट्ठियां टूट भले ही जाएं, खुलने न पायें।"

सरकार अब चुप नहीं बैठी। रात के अंधेरे में, एक बजे के करीब, गांधी जी के कैम्प पर उसने धावा किया और यरवदा जेल में लेजा कर उन्हें बन्द कर दिया।

गांधी जी के गिरफ्तार होते ही बम्बई, कलकत्ता और शोलापुर में भारी हड़तालें हुईं। इन हड़तालों में मज़दूर सब से आगे थे। बम्बई में अस्सी में से चालीस मिलें बन्द थीं। भारी जलूस निकला। शाम को इतनी बड़ी सभा हुई कि कई मंचों से भाषण देने पड़े। सभा में अकेले मज़दूरों की संख्या पचास हजार से ऊपर थी।

मज़दूरों के गढ़ शोलापुर में तो जैसे अंग्रेजों का राज्य ही खत्म होगाया। एक सप्ताह तक मज़दूरों का उस पर कब्ज़ा रहा। पुलिस का स्थान सेवा दल के सैनिकों ने ले लिया। दमन और शोषण की छावनियों को,पुलिस-चौकियों और थानों को,--जला दिया। बाद में फ़ौज आई और नगर पर फ़ौजी शासन कायम हुआ। लोगों को पकड़-पकड़ कर खुले आम फांसियों

पर लटकाया जाने लगा। कई आदमी फांसी पर लटकाए गए जिनमें मज़-दूरों के अलावा एक सेठ भी था।

गांधी जी के बाद उनका स्थान ग्रहण किया तैयब जी ने,—छियत्तर वर्ष की आयु, दीर्घकाय, सन की भांति सफेद फहराती हुई दाढ़ी, चेहरे पर झुर्रियों का जाल, कमर झुकी हुई, लेकिन लाठियां खाने और गिरफ्तार होने के लिये तैयार!

धरसाना साल्ट वर्क्स के चारों ओर फ़ौज का घेरा पड़ा था। सत्याग्रही इस घेरे को तोड़कर भीतर घुसना चाहते, उन पर लाठियों की वर्षा होती, घोड़सवार उनके बदन को कुचलते हुये दौड़ते, घोड़ों की टापों से घायलों की रक्षा करने के लिये स्त्रियां तक आगे बढ़ आतीं।

उन्नासी सैनिकों को लेकर गांधी जी आश्रम से चले थे। लेकिन अब उनकी संख्या तेज़ी से बढ़ती गई,—दो सौ, चार सौ, हजार, ढाई-हज़ार, पन्द्रह हज़ार, और इसके बाद गिनती करना मुश्किल हो गया। लाठियां टूट जाती थीं, पर सत्याग्रहियों की मुट्ठियां नहीं टूटती थीं।

सरकारी दमन का अन्त नहीं था। रोटी चाहे न भी मिले, पर लाठियों और गोलियों की कमी नहीं थी। बम्बई के पुराने कमिश्नर हिन्दुस्तानी थे, उन्हें हटा दिया गया। उनका क़सूर यह था कि वह केवल बदन पर लाठी बरसाते थे। उनकी जगह गोरे कमिश्नर नियुक्त हुये जो सीधे सिर पर लाठियां बरसाते थे।

लाठी वर्षा ने जनता के साहस को और भी मुंहज़ोर बना दिया। एक भीड़ में केवल पांच हज़ार जनता थी। लाठी वर्षा के बाद वह पच्चीस-हज़ार होगई। फिर गोली वर्षा हुई। इसके बाद वह एक लाख हो गई, पूर्ण आज़ाद मैदान में निरन्तर गोली वर्षा के बीच स्वतंत्रता का प्रस्ताव उसने पास किया।

देहातों में दमन चक्र और भी ज़ोरों से चला। किसानों की हालत दिन-दिन बिगड़ती जा रही थी। आर्थिक सङ्कट के चंगुल में वे फंसे थे, और पैदावार के दाम दिन-दिन गिरते जा रहे थे। उन्होंने लगान देना बन्द कर

दिया,—देना चाहते, तब भी न दे पाते। बदले में सरकार ने उनके खेत, ढोर-डंगर और खेती तथा सिंचाई का सामान ज़ब्त करना शुरू कर दिया। चालीस रुपये की वसूली में किसान का सर्वस्व बिक जाता। बन्दूक-लाठियों से लैस पुलिस समूचे गांव को घेर लेती, जो सामने आता, उसी को पीटती। पिटने वालों में लगान न देने वाले ही नहीं, लगान देनेवाले भी होते, लगान न देनेवाले अपने पड़ौसियों के लिए उन्हें मार खानी पड़ती। एक गांव में कांग्रेस के इश्तहार और राष्ट्रीय झण्डे पुलिस ने घरों और पेड़ों पर से नोंच कर फाड़ दिए। कितने ही किसानों को पीटा। यह इसलिए कि ये इश्तहार और झण्डे उनके घरों के निकट लगे थे। गांधी-टोपी पहनना सब से बड़ा गुनाह था। एक जगह एक आदमी पर जम कर लाठी वर्षा की गई। जब उस से सात बार पुलिस की सलामी करा ली गई, तब उसका पिण्ड छोड़ा।

लाठी वर्षा तो जैसे पुलिस के लिए एक साधारण विनोद की चीज़ थी। विनोद में वह कहती—"स्वराज्य चाहिए?—यह लो!" और लाठियों की वर्षा होने लगती।

बोरसद में, ज़ेर तजवीज़ कैदियों के लिए, पिंजरे बनवाए गए। लोहे के सींखचे, तीस फीट लम्बे-चौड़े। इन में अठारह कैदी रात-दिन बन्द रहते। एक कैदी तो इनमें डेढ़ महीना बिता चुका था। पिंजरे खचाखच भरे रहते। दिन में कैदियों को बाहर निकाला जाता, पौन घंटे के लिए। शौच आदि से निवृत्त होने के बाद उन्हें फिर पिंजरे में बंद कर दिया जाता।

यहीं, बोरसद में ही, एक घटना और घटी। जनता ने जलूस निकालने का निश्चय किया और पुलिस उसे रोकने के लिए कटिबद्ध हो गई। जलूस वालों को पानी पिलाने के लिए स्त्रियों ने मार्ग में कई जगह पानी के बड़े-बड़े गोल रख छोड़े थे। पुलिस ने पहले इन गोलों को ही तोड़ा। स्त्रियों को तितर-बितर करने के लिए बल का प्रयोग किया कितनी ही स्त्रियां गिर गईं। फिर घुड़ सवार आए और उनके सीनों को कुचलते हुए निकल गए।

स्त्रियां इस आन्दोलन की एक बहुत बड़ी और सब से कारगर, शक्ति थीं।

स्त्रियों को, मुख्यतः, धरना देने का काम सौंपा गया। विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानें उनके ज़िम्मे थीं। शुरू शुरू में इस बात को लेकर काफी बहस और छेड़-छाड़ भी चली कि विदेशी कपड़ा पहनने वाले छैल-चिकनियों और शराब में डूबे रहने वाले मतवालों के सामने भले घर की स्त्रियां कैसे टिक सकेंगी। धरना देना तो अलग, उन्हें अपनी लाज बचाना भी मुश्किल हो जायगा।

लेकिन यह शंका निर्मूल सिद्ध हुई। घर के धंधों तथा बच्चों-कच्चों की चिन्ता और घूंघट की ओट में जीवन बिताने वाली स्त्रियां बाहर निकल आईं। इन में विवाहित भी थीं और अविवाहित भी, पढ़ी-लिखी भी थीं और बे-पढ़ी-लिखी भी। विधाता ने जिनके सुहाग का सिंदूर पोंछ लिया था, वे भी किसी से पीछे नहीं रहीं। युवक संगठनों की भांति उनके संगठन भी कायम हो गए, और केसरिया बाने ने देश के राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया।

विदेशी कपड़ों और शराब की दूकानों पर धरनों तथा उनके सामाजिक बहिष्कार ने देखते-देखते समूचे विदेशी व्यापार पर सीधे और चहुँमुखी आक्रमण का रूप धारण कर लिया।

विदेशी व्यापारियों के चेहरों पर हवाइयां उड़ने लगीं। उनके घुटने टूट गए। विदेशी कपड़ों की गांठें बन्दर पर आई पड़ी रहतीं, पर उन्हें उठाने वाला कोई नहीं था। बाज़ारों में गश्त लगाने वाली पुलिस और फ़ौज भी उन्हें ढारस नहीं बंधा सकी। लाठियों की वर्षा होती सत्याग्रहियों के सिरों पर, लेकिन उसकी चोट जाकर पड़ती विदेशी व्यापारियों के सिरों पर!

: १५ :

समूचे देश में जो हो रहा था, उससे वह नगर भी अछूता नहीं बचा जहाँ कि शशि रहता था। देश के अन्य हिस्सों की भांति वहां भी कांग्रेस के सत्याग्रह आश्रम के अलावा, युवकों और स्त्रियों के स्वतंत्र संगठन भी कायम हो गए। विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों पर धरनों, जलूसों और

लाठियों-गोलियों की बौछारों के अवसरों की भी कोई कमी नहीं थी। तिरंगे झन्डे को देखकर तो पुलिस के जैसे होश-हवास ही गायब हो जाते। और उसे लेकर निकलना या किसी सर्वजनिक इमारत पर लगाना अच्छे-खासे संघर्ष को जन्म देता।

युवकों और युवतियों के दल, विभिन्न गलियों से निकल कर बाज़ार में आते और देखते-देखते एक अच्छे-खासे जलूस का रूप धारण कर लेते। जलूस फिर आगे बढ़ता। लाठियों गोलियों में लैस पुलिस उनका रास्ता रोकती। जलूस में बिजली की एक लहर सी दौड़ जाती। एक दूसरे से सट कर सब लोहे की दीवार का रूप धारण कर लेते। हज़ारों कण्ठों से फिर आवाज़ निकलती: "पेशावर ज़िंदाबाद! गढ़वाली सैनिकों की भांति अपने ही भाइयों पर लाठी-गोली चलाने में इन्कार कर दो!"

स्त्रियों के कण्ठ से आवाज़ आती:

"सरकार के पिट्ठू हाय-हाय! पेट के गुलाम हाय-हाय!"

एक बार बात आगे बढ़ गई। पुलिस ने गोलियां चलाईं। गोलियों की तड़ातड़ की आवाज़ सुन लोगों को न जाने कैसे धोबी घाट पर कपड़े पछाड़ने की आवाज़ का ध्यान हो आया। उधर पुलिस गोलियां चलाती और इधर आवाज़ ऊंची उठती:—"धोबी है!"

लोगों का, विशेष रूप में स्त्रियों और युवकों का, अनुशासन देखते ही बनता था।

विदेशी कपड़ों और शराब की दूकानों पर धरनों ने और भी उग्ररूप धारण कर लिया। धरना देने वाली स्त्रियों में विदेशी कपड़ा और शराब बेचने वालों की घरों की स्त्रियां भी होती थीं। कब किस व्यापारी या पुलिस अधिकारी की स्त्री, बेटी या मां स्त्रियों के इस दल में दिखाई पड़ने लगेगी, यह कोई नहीं जानता था। मालूम यही होता था कि ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो इस दल की पकड़ से बाहर हो।

स्त्रियों के इस दल में एक युवती सबसे आगे थी। उसका नाम क्या था, यह तो पता नहीं, पर उसे सब कोतवाल कहते थे। शशि के हृदय पर

उसने गहरा प्रभाव डाला। जीवन में पहली बार जब शशि ने उसे देखा तो देखता ही रह गया और फिर, भुलाने का प्रयत्न करने पर भी, उसे नहीं भुला सका।

हाथ की कती-बुनी चीज़ों के प्रति सर्वसाधारण का ध्यान आकृष्ट करने के लिए स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था। यह पहली स्वदेशी प्रदर्शनी थी जो शशि ने देखी थी। विभिन्न स्टालों को देखता-भालता वह एक जगह जाकर खड़ा हो गया। यहाँ एक बाड़ा-सा बँधा था और बाड़े के चारों ओर भीड़ जमा थी। भीतर अखंड चरखा यज्ञ हो रहा था।

भीड़ का कारण थी एक युवती जो बाड़े के भीतर चरखा कात रही थी और बाहर खड़े व्यक्तियों में से कुछ उसे छेड़ रहे थे:

"देखना बहिन जी, कहीं तार न टूट जाए!"

बहिन जी को छेड़ने का एक कारण और भी था। वह यह कि चरखा कातते समय उनके मुंह से जिस गान का स्वर निकल रहा था। विशुद्ध स्वदेशी होते हुए भी वह राष्ट्रीय न था। वह गा रही थी:

"सैयाँ भए कोतवाल, अबडर काहे का!"

रह-रह कर, एक बँधे हुए अन्तर पर, बाड़े के अन्दर की अखण्ड ध्वनि को जैसे राष्ट्रीय रंग में रंगने के लिए, बाड़े के बाहर का स्वर भी सुनाई पड़ रहा था:

"झण्डा ऊँचा रहे हमारा!"

प्रदर्शनी से लौट आने के बाद भी बाड़े का स्वर शशि के मस्तिष्क में गूंजता रहा। उस युवती की मूर्ति जैसे शशि की आँखों में समाकर रह गई। उसका मूल नाम क्या था, इसका पता नहीं चला, पता लगाने की शायद किसी को ज़रूरत भी नहीं थी। न ही उसके मां-बाप के बारे में किसी को कुछ पता था। ऐसा मालूम होता था मानो वह अकेली ही, हाथ में केवल एक कमची लिए, इस दुनिया में आई हो। कोतवाल कह कर सब उसे पुकारते, और उसे भी जैसे यह सम्बोधन सबसे अधिक प्रिय मालूम होता।

कोतवाल नाम के पीछे, और उस गीत के पीछे जिसे वह बाड़े के भीतर

गा रही थी, एक छोटी-सी कहानी थी।

धरना देने में, विदेशी कपड़ों और विलायती शराब के प्रेमियों को पानी-पानी करने में, पुलिस अधिकारियों तथा सरकारी अफसरों को जली-कटी सुनाने और उनके घरों में घुस कर उनकी पत्नियों को फोड़ने में वह पूरे नारद मुनि का काम करती थी। उसके लिए कोई घर अभेद्य नहीं था। कोई जगह ऐसी नहीं थी जहां वह सेंध न लगा सकती हो।

सचमुच के नगर कोतवाल के घर में घुसना, उसकी पत्नी तथा पुत्री को "सैयां भये कोतवाल...अब्बा भये कोतवाल" सुनाना और धरना तथा सत्याग्रह की कला में उन्हें दीक्षित करना उसी का काम था।

उस दिन नगर कोतवाल के घर में ही विदेशी कपड़ों की होली जली। पत्नी ने अपने कपड़े जमा किए, पुत्री भी कुछ कपड़े निकाल लाई, कोतवाल की बुढ़िया मां भी पीछे नहीं रही। आङ्गन में कपड़ों का एक अच्छा-ख़ासा ढेर लग गया।

कपड़ों के इस ढेर को उसने देखा मन ही मन खुश हुई, फिर एक क्षण सोचकर बोली।

"इसमें कोतवाल साहब का तो एक भी कपड़ा नहीं है?"

"क्या उनका कपड़ा भी लाऊं....?" नगर-कोतवाल की पत्नी ने अचकचा कर कहा।

"क्यों, डर लगता है?" उसने कहा—"मुझे बताओ, मैं खुद जाकर उठालाऊं!"

"अरे, मैं लाती हूं!" कोतवाल की लड़की ने उछाह से कहा। इस समूची घटना में वह सब से अधिक रस ले रही थी। 'अब्बा भये कोतवाल' गुनगुनाती वह लपककर भीतर गई और कई कपड़े उठा लाई।

दियासलाई दिखाते ही होली जलने लगी। कितनी आसानी से, और कितनी तेज़ी से, जलते हैं ये विदेशी कपड़े भी! गाढ़े में आग लगाओ तो इतना धुंआ उठता है कि आँखें कड़ुवाने लगती हैं। लेकिन विलायती कपड़ा.... बस, चुटकी बजाते राख हो जाता है!

"सब कुछ हुआ, लेकिन एक कसर रह गई!"

"वह क्या?" कोतवाल की लड़की ने उत्सुकता से पूछा।

"यह कि लाठी चार्ज नहीं हुआ। ऐसी होली किस काम की जिसके साथ लाठी चार्ज न हो। गोलियों की तड़ातड़ न सुनाई दे।"

"हां, यह कमी रह गई," कोतवाल की लड़की ने कहा—"पहले से पता होता तो कुछ पटाख़े ही मंगा लेती....।"

बिना पटाख़ों की यह होली भी काफी कारगर सिद्ध हुई। इसकी खबर तेज़ी के साथ समूचे नगर में फैल गई। कोतवाल साहब का बुरा हाल था। सब यही कहते थे कि अब वह नौकरी से बरखास्त कर दिए जाएंगे। कुछ यहां तक कहते थे कि कोतवाल साहब सत्याग्रहियों में नाम लिखाने वाले हैं। लेकिन न तो वह बरखास्त हुए, न उन्होंने सत्याग्रहियों में नाम लिखाया। उन्हें बदल कर दूसरी जगह भेज दिया गया, और उनकी जगह पर एक नया कोतवाल आ गया जो पूरा ज़ालिम था।

इस घटना का दूसरा फल यह हुआ कि "सैंया भये कोतवाल.....अब्बा भये कोतवाल" ने भी राष्ट्रीय गीतों की पांत में स्थान ग्रहण कर लिया। जलूसों में विशेष कर उस समय जब पुलिस से मुठभेड़ होती, यह गीत अपने आप हवा में गूंजने लगता।

तीसरा काम जो इस घटना से हुआ वह सब जानते ही हैं। इसके बाद उस युवती का नाम भी कोतवाल ही पड़ गया। कोतवाल के सिवा वह और कुछ भी हो सकती है, इसका किसी को सपने में भी ध्यान नहीं आता था।

गेहुँआ उसका रंग था, गठा हुआ और चुस्त बदन, हाथ में सदा किसी वृक्ष की टहनी या कमची, बड़ी अल्हड़ और मस्त। आश्रम जैसे उसके लिए नटखट बालकों की एक नर्सरी (शिशुशाला) था। बालक शैतानी करते और वह अपनी कमची से उनकी खबर लेती। लेकिन उसकी यह मार भी बड़ी मीठी होती। ऐसी ही वह कुछ थी कि उसकी इस हिंसा में भी अहिंसा के दर्शन होते।

उसके बारे में अधिक जानकारी पाने के लिए शशि उत्सुक था। एक

दिन, मौका देखकर, शशि ने उससे पूछा—"तुम्हारी मां है ?"

"नहीं, वह बचपन में ही मर गई थीं।"

"और पिता जी ?"

"पिताजी थे, लेकिन अब उनका भी पता नहीं।"

"क्यों, कहां गए वह ?"

"उन्हें एक स्त्री भगा ले गई।"

"मज़ाक न करो," शशि ने कहा—"सच सच बताओ।"

"सच ही तो बता रही हूँ," कोतवाल ने कहा—"उन्हें एक स्त्री भगा ले गई। बड़ी दबंग स्त्री थी वह। इतनी लम्बी कि उसका सिर छत से टकराता था। जब चलती थी तो मालूम होता था मानो भूकम्प आगया हो। मोहल्ले के सभी लोग उससे डरते थे। पता नहीं, मेरे पिता पर वह कैसे रीझ गई। एक दिन आई और बोली, यहां पड़े-पड़े क्यों अपने कर्मों को रोते हो। चलो मेरे साथ।"

"अजब बात है," शशि ने कहा—"क्या उसका अपना पति नहीं था ?"

"नहीं, वह बाल विधवा थी," कोतवाल ने कहा—"कब शादी हुई, कब वह विधवा हुई, यह खुद उसे भी मालूम नहीं था, उसने फिर विवाह नहीं किया। लेकिन अब, जीवन के तीसरे पहर में जब कि वह प्रवेश कर रही थी, उसने मेरे पिता का हाथ पकड़ा और उन्हें लेकर जाने कहां भाग गई।"

"और तुम्हारी ओर दोनों में से किसी ने ध्यान नहीं दिया ?" शशि ने कहा—"तुम अकेली ही रह गई ?"

"अकेली क्यों रह गई ?" कोतवाल ने कहा—"मेरे इन हाथों को नहीं देखते। इनसे मैं अपना पेट भी भर सकती हूँ, और चाहूँ तो किसी की मरम्मत भी कर सकती हूँ।"

शशि की नज़र अनायास ही पेड़ की उस टहनी या कमची पर चली गई जो सदा उसके हाथ में रहती थी।

शशि ने अब प्रसंग बदला। पूछा—"तकली बाबा तुम्हें कैसे लगते हैं?"

"तकली बाबा मुझे कैसे लगते हैं ?" कोतवाल ने मन-ही-मन इस प्रश्न को दोहराया। फिर एक क्षण रुक कर बोली—"तकली बाबा मुझे कैसे लगते हैं इसे छोड़ो, बल्कि यह पूछो कि मैं तकली बाबा को कैसी लगती हूँ ?"

"अच्छा, ऐसे ही सही," शशि ने कहा—"तकली बाबा को तुम कैसी लगती हो ?"

"मुझे देख कर तकली बाबा तकली घुमाना भूल जाते हैं, उनके कच्चे धागों का तार टूट जाता है। एक दिन मुझ से प्रेम भी जताने लगे...."

"यह क्या बकती हो ?" शशि ने कहा—" तकली बाबा तो तकली-बाबा, उनके पुरखों ने भी कभी प्रेम न किया होगा। तकली बाबा तो पूरे बबूल हैं। उन में कांटे भले ही लगें, प्रेम के फल नहीं लग सकते।"

बबूल की बात सुन कर कोतवाल हंसी। फिर बोली—"लेकिन बबूल के कांटे भी तो नर्म खाल खोजते हैं। पत्थर को छूते उन्हें भी डर लगता है।"

"तुम्हारी खाल तो इतनी नर्म नहीं मालूम होती," शशि ने कहा—"बबूल के कांटों की दाल नहीं गली होगी।"

"नर्म क्यों नहीं है ?" कोतवाल ने कहा और अपने हाथ की खाल में चिकोटी काट कर दिखाते हुए बोली—"यह देखो, कितनी लाल होगई है। असल में बात यह है कि मेरे हाथ में कमची रहती है।"

"तो क्या तुमने तकली बाबा का कमची से स्वागत किया ?" शशि ने उत्सुकता से पूछा।

"नहीं, उन्हें मेरे हाथ की कमची खाने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ," कोतवाल ने कहा—"उस का प्रयोग करने से पहले ही वह मेरे पांवों पर गिर पड़े। बोले, मुझ से पाप हो गया। जब तक इस का प्रायश्चित नहीं कर लूंगा, मेरी आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी।"

"प्रायश्चित में उन्होंने क्या किया,—कुछ सिर-विर घुटाया या योंही..........."

"उन्होंने सात दिन के लिए बोलना और खाना छोड़ दिया," कोतवाल ने कहा—"आश्रम में जब कोई पूछता कि तकली बाबा को क्या हो गया

है तो मैं कहती, उनकी नानी मर गई है, उसका सोग मना रहे हैं।"

सहसा कोतवाल को कोई बात याद हो आई, शशि से उसने विदा ली और उठकर कमची हिलाती चली गई। उस समय भी वह अपना प्रिय गीत गुनगुना रही थी—"सैयां भए कोतवाल........अब्बा भए कोतवाल !"

यह गीत इस बात का सूचक था कि उसके दिमाग में कोई नई मंज़िल सर करने की बात घूम रही है।

कोतवाल के अलावा आश्रम के निवासियों में एक और व्यक्ति था जो शशि को बहुत अच्छा लगता था। उसका नाम था मुख्तयार। कोतवाल को वह बहुत चाहता था, और देवता की भांति उसकी पूजा करता था। आश्रम वासियों में वही एक ऐसा था जो कोतवाल को कोतवाल न कहकर देवी जी कहा करता था।

जब कभी कोतवाल आश्रम में आती तो मुख्तयार उसे बड़े आदर से बैठाता और अनुरोध-भरे स्वर में कहता—"देवीजी, अभी जाना मत !"

इसके बाद वह भाग कर बाज़ार जाता। किसी हलवाई से मांग कर जलेबी के दो-चार टुकड़े और पड़ौस के एक मन्दिर में से देवता पर चढ़े दो-चार फूल उठा लाता और कोतवाल पर चढ़ा कर बहुत खुश होता।

मुख्तयार बज्र देहाती था। अभी पिछले दिनों सत्याग्रहियों के एक जत्थे के साथ वह देहात से आया था। ऐसी-ऐसी हरकतें वह करता था कि उसने शीघ्र ही आश्रम में जोकर का स्थान ग्रहण कर लिया।

सत्याग्रहियों के जत्थे योंही, अपने-आप, देहात से नहीं आते थे। उन्हें लाया जाता था, उनकी भर्ती करने के लिये देहात में बाक़ायदा केन्द्र खुले थे। भर्ती के केन्द्र तो नगर में भी थे। लेकिन नगर की नई पौध को हवा लग चुकी थी। ऐसा मालूम होता था मानो नौजवान सभा ने उनकी इजारेदारी संभाल ली हो। यों दोनों में विशेष अन्तर भी नहीं था। जब आन्दोलन का ज़ोर बढ़ता तो दोनों एकाकार हो जाते, तब ये भूल जाते कि कौन किसका नेतृत्व कर रहा है।

सत्याग्रहियों के जत्थे में भर्ती होने से पहले,—या कहिए कि भर्ती

किए जाने से पहले,—मुख्तयार देहात में निठल्ला घूमता था। उसके जीवन की एक ही सब से बड़ी साध थी। वह यह कि उसका विवाह हो जाय। भर्ती होने के समय उसने पूछा—"स्वराज्य मिलने पर क्या मेरा विवाह हो जाएगा?"

"क्यों नहीं," भर्ती करने वाले सज्जन ने कहा—"स्वराज्य मिलने पर चाहे जितने विवाह तुम करना।"

सत्याग्रहियों के इस जत्थे को लारी में भर कर नगर के लिए रवाना करने से पहले उन्हें हार पहनाये गये, माथे पर तिलक लगाए गये। मुख्तयार के माथे पर भी तिलक लगा, गले में फूलों का हार पड़ा। इसके बाद जब लारी रवाना हुई तो उसे ऐसा मालूम हुआ मानो उसके विवाह की बरात जा रही है।

भारत माता की जय का नारा लगाना उसने भर्ती होने के समय ही सीख लिया था। रास्ते में उसका और भी अभ्यास हो गया।

मुख्तयार जब आश्रम पहुँचा तो सांझ हो आई थी। दूसरे दिन, सवेरे ही सवेरे, झण्डाभिवादन का दृश्य देख कर उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। नगर की अनेक देवियां, केसरिया साड़ी पहने, झंडे के चारों ओर खड़ी थीं। देहात से नया जत्था आया था, इसलिये उन्हें विशेष रूप से बुलाया गया था। आश्रम में जत्थे का आगमन अपने-आप में एक महत्वपूर्ण घटना होना था और इस अवसर पर सभी उपस्थित रहना चाहते थे।

मुख्तयार के लिये यह एक नया अनुभव था,—बल्कि कहना चाहिए कि यह एक ऐसा अनुभव था जो कभी पुराना नहीं पड़ा। केसरिया साड़ी पहने इतनी स्त्रियों को एक साथ झंडे के चारों ओर खड़ा देख उसका हृदय फूला नहीं समाता। जब और कुछ नहीं सूझता तो कलाबाज़ी सी खाकर उसका रोम-रोम पुलक उठता—"भारत माता की जय!"

जब कभी भी झण्डाभिवादन होता, मुख्तयार के हृदय का समूचा उल्लास बांध तोड़ कर इसी रूप में अपने को व्यक्त करता।

मुख्तयार को देखकर सब हंसते, मगर कोतवाल इस हंसी में कभी शामिल

नहीं होती। पहले ही दिन से कोतवाल ने मुख्तयार को अपने संरक्षण में लेलिया, उसे बाकायदा ट्रेनिंग दी, और उसका जौहर दिन-प्रति-दिन निखरने लगा।

लेकिन अपने हृदय के उल्लास को, झण्डाभिवादन के दिन, वह अभी भी उसी रूप में व्यक्त करता। केसरिया साड़ियों को देख कर वह फूला-नहीं समाता, और कलाबाज़ी सी खाकर उसका रोम-रोम पुलक उठता—"भारत माता की जय!"

: ६ :

सात दिन का उपवास और मौन व्रत रखने के बाद भी तकली बाबा के हृदय की जलन शान्त नहीं हुई। कोतवाल को लेकर उनके मन में जो कांटा चुभा था, वह उन्हें रह-रह कर कुरेदता। कोतवाल उन्हें एक अच्छा-खासा बवाल मालूम होती और सोचते कि जितनी जल्दी वह आश्रम से निकल जाए, उतना ही अच्छा। खीझ कर वह कहते —"कम्बख्त गिरफ्तार भी तो नहीं होती!"

तकली बाबा के अलावा जो कोतवाल के प्रच्छन्न विरोधी थे, उसका विरोध करने में सब से आगे बढ़ी उसकी ही एक स्वजातीय। तकली बाबा भी उसे शह देने में पीछे नहीं रहते।

उसका नाम था शांति। कोतवाल पर सीधा आरोप वह करती:।

"आश्रम की पवित्रता को यह एक दिन नष्ट करके रहेगी।"

शशि ने जब पहली बार शान्ति को देखा तो उस समय वह, भौंहों में बल डाले, एक स्वयं सेवक से रिहर्सल करा रही थी कि बहनजी न कह कर वह उन्हें देवी जी कहा करे।

देवीजी वह थीं भी। वह इतनी उज्जवल और पवित्र थीं कि उन्हें बहन कहते भी संकोच होता था,—कहिए कि बहन सम्बोधन भी उनकी पावन उज्जवलता के साथ फिट नहीं बैठता था। निर्मल और एकदम स्वच्छ दृष्टि से देखने पर भी ऐसा मालूम होता था, मानो कोई पाप कर्म करने जा रहे हों। आंखें बचाकर ही उनसे बातें की जा सकतीं थीं। कुछ इस तरह कि

मानों उनसे नहीं, किसी दूसरे से हम बातें कर रहे हों।

सामने आने पर सब उन्हें देवी जी कहते थे और उनके चले जाने पर राष्ट्र-कन्या। देश के लिए देवी जी ने बड़ा त्याग किया था। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा, बालों में तेल नहीं पड़ेगा, सदा गेरुआ रंग की धोती पहनी जायगी, जमीन पर सोया जायगा और भारतवर्ष के प्रत्येक युवक को वह अपना भाई समझेंगी—ऐसा भाई जो बहिन जी न कह कर देवी जी उन्हें कहा करेगा।

देवी जी के संसर्ग-स्पर्श में जो भी आते, वे सब उनकी इस प्रतिज्ञा का ध्यान रखते। उन्होंने भी जैसे प्रतिज्ञा कर ली थी कि चाहे जो कुछ हो जाए, देवी जी के साथ विवाह करके उनकी राष्ट्रीय प्रतिज्ञा का वह अपमान नहीं करेंगे। नतीजा यह कि राष्ट्र-कन्या देवी जी हो सकती थीं, चूक जाने पर राष्ट्रमाता बनने की भी सम्भावना थी, लेकिन राष्ट्र-पत्नी नहीं। राष्ट्रीय निषेध की तख्ती जैसे उनके गले में लटकी हुई थी।

आश्रमवासिनी वह नहीं थीं। अपने पिता के साथ ही रहती थीं। पिता का साथ छोड़ने पर वह नेताओं के साथ घूमती थीं। देश के लिए पति का ही त्याग उन्होंने किया था, पिता या पितावर्ग के लोगों का नहीं। ऐसे सुख का त्याग उन्होंने किया था जिसका कि, प्रतिज्ञा करते समय, कोई अस्तित्व नहीं था।

लेकिन यह त्याग भी बहुत बड़ा था, और इसका फल भी शान्ति को तुरत प्राप्त हुआ। देश का काम तो वह प्रतिज्ञा करने से पहले भी करती थीं, लेकिन जैसे एक बंधन में रहकर। जहाँ कहीं भी वह जातीं, पिताजी सदा साथ लगे रहते। शान्ति के लिए उनके हृदय में बड़ा स्नेह था, और एक क्षण के लिए भी वह उसे अपनी आँखों की ओट नहीं करना चाहते थे।

शान्ति को यह अच्छा नहीं लगता था कि वृद्ध पिता व्यर्थ ही उसके साथ-साथ इतना कष्ट उठाएँ। कई बार उसने अपने पिताजी को समझाया भी, लेकिन बात बनी नहीं। शान्ति की समझ में नहीं आता था कि वह क्या करे। जैसे एक बोझ-सा था जो उसकी छाती पर धरा रहता था। लेकिन यह

एक ऐसा बोझ था जिसके साथ शान्ति का जीवन, और इस जीवन की मधुरतम स्मृतियाँ सम्बद्ध थीं।

अपने पिता को शान्ति आदर और श्रद्धा के साथ देखती थी। माँ के मरने के बाद पिता जी ने ही माता के हृदय से उसका लालन-पालन किया था। चाहते तो दूसरा विवाह कर लेते, सगे-सम्बन्धियों ने इसके लिए बहुत ज़ोर भी दिया, लेकिन शान्ति के लिए घर में विमाता लाना उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

ऐसे पिता को सहज ही छोड़ना शान्ति के लिए सम्भव नहीं था। फिर भी उसे लगता कि देश के लिए उसे अपने प्रिय-से-प्रिय सम्बन्धी का त्याग करना पड़ेगा। त्याग की यह भावना दिन-दिन प्रबल होती गई। रात-भर जाग-जाग कर वह अपने को इस त्याग के लिए तैयार करती और अन्त में एक दिन उसने प्रतिज्ञा कर भी ली। शान्ति ने त्याग किया— पिता का नहीं बल्कि एक ऐसी चीज़ का जो पिता से भी कहीं अधिक प्रिय समझी जाती है, जिसके चरणों की धूल बनकर नारी अपना जीवन सार्थक करती है।

रात को ही वह उठी। कमरे में उसने रोशनी की। दीवार पर दो चित्र लगे थे। एक भारत माता का, दूसरा गांधी जी का। गांधी जी के चित्र को उसने अपने हाथ के कते सूत की माला पहनाई। राष्ट्रीय झंडे की भांति माला भी तीन-रंगी थी। फिर घुटने टेक कर चित्र के सामने बैठ गई, हृदय की सम्पूर्ण शक्ति और भक्ति बटोर कर उसने प्रतीज्ञा की—"जब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा, मैं किसी भी पुरुष से विवाह नहीं करूंगी।"

शान्ति ने निश्चय किया कि इस प्रतिज्ञा को वह अपने मन में ही रखेगी, किसी पर प्रकट नहीं करेगी। लेकिन इसका क्या इलाज कि उसके पिता झूट-मूट आंखें बंद किए पड़े थे और अपनी लड़की का सारा कौतुक देख रहे थे। इसके बाद शान्ति की प्रतिज्ञा का प्रचार करने में उन्होंने चलते-फिरते विज्ञापन का काम किया।

शान्ति की इस प्रतिज्ञा ने सबसे अधिक खुशी प्रदान की तकली बाबा को। बड़े प्रेम से उन्होंने शान्ति को बधाई दी। कहा—"तुम्हारी जैसी देवियां

ही राष्ट्र की सच्ची धुरी हैं ।"

मुख्तयार ने जब इस प्रतिज्ञा को सुना तो उसकी समझ में नहीं आया कि विवाह जैसी चीज़ से भी कभी कोई इन्कार कर सकता है। उसका वश चलता तो वह स्वराज्य से पहले ही विवाह कर लेता ।

शशि ने शान्ति की प्रतिज्ञा को भी पकड़ा और तकली बाबा की इस बधाई को भी कि तुम्हारी जैसी देवियां ही राष्ट्र की सच्ची धुरी हैं । एक ही ढेले से दो शिकार करने का जैसे उसे मौका मिल गया । जब कोतवाल से भेंट हुई तो बोला—

"क्या तुम्हारा इरादा राष्ट्र की धुरी बनने का नहीं है ?"

कोतवाल शशि की बात एकाएक नहीं समझ सकी । अपनी बात को ज़रा और स्पष्ट करते हुए बोला—"सुना है कि शान्ति ने स्वराज्य मिलने तक विवाह न करने का एक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया है । जिस पर नगर की सभी अविवाहित लड़कियों के दस्तखत कराए जाएंगे । मेरी राय है कि तुम भी ताड़ी-शराब की दुकानों या पुलिस अधिकारियों के घरों पर धरना देना बंद कर अब उन घरों पर धरना देना शुरू करो जहां शहनाई बजती सुनाई दे । ज़रा सोचो तो, कितना भारी नुकसान हो रहा है, प्रत्येक विवाह के साथ राष्ट्र की दो सच्ची धुरियां खण्डित हो जाती हैं । विश्वास न हो तो तकली बाबा से पूछ लो ।"

कोतवाल ने शशि की बात को जैसे सुना अन-सुना कर दिया । उसके चेहरे पर हंसी की ज़रा-सी भी रेखा प्रकट नहीं हुई । गम्भीर स्वर में बोलीः-

"क्या तुम सचमुच यह विश्वास करते हो कि शान्ति विवाह नहीं करना चाहती ?"

शशि भी गम्भीर हो गया । बोला—"नहीं, मेरा ऐसा विश्वास नहीं है । विवाह करने या न करने की समस्या से शान्ति का अभी तक कोई वास्ता नहीं पड़ा है । जब कोई विवाह का प्रस्ताव करने वाला ही नहीं है तो विवाह करने या न करने का सवाल भी कोई मानी नहीं रखता । असल में उसने यह प्रतिज्ञा की है अपने पिता से पीछा छुड़ाने के लिए जो लटकन की भांति हर जगह

उसके साथ लगे रहते हैं, मानो वह कोई सोने की गठरी हो, अगर अकेली छूट गई तो उसे कोई उठा ले जाएगा।"

"तुम भले ही उसे सोना न समझो," कोतवाल ने कहा—"लेकिन उसके पिता तो समझते हैं।"

"समझा करें," शशि ने कहा—"मुझे तो उसमें कोई सौन्दर्य नहीं दिखाई देता— न शरीर का, न आत्मा का, और सब से बढ़कर यह कि न तो वह खुद उम्र भर पिता के गले का लटकन बनी रह सकती है, न पिता उम्र भर उसके गले का हार बन कर रह सकते हैं।"

शशि की बात सही थी। शान्ति ने हृदय का सौन्दर्य जितना पाया था, उतना शरीर का नहीं। और उसके हृदय के पारखियों में अपने पिता को छोड़ अब तक अन्य किसी से उसका वास्ता नहीं पड़ा था, न ही उसने कभी इसकी ज़रूरत का अनुभव किया था। पिता की भांति उसे भी अपने हृदय के सौन्दर्य पर गर्व था। सहज भाव से वह विश्वास करती थी कि उसके जीवन में उपयुक्त पारखी का अभाव नहीं रहेगा। हृदय के आन्तरिक सौन्दर्य के सामने भला शारीरिक सौन्दर्य की क्या बिसात? शारीरिक सौन्दर्य की भांति उसे आईने तथा शृङ्गार के दूसरे प्रसाधनों की शरण नहीं लेनी पड़ती। गरदन झुका कर हृदय की ओर देखने से ही काम चल जाता। बड़ी गुदगुदी सी होती जब, गरदन झुका कर, आन्तरिक उभार के अपने आकर्षण को वह देखती।

हृदय के सौन्दर्य के सामने शरीर के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली लड़कियों के प्रति शान्ति के हृदय में एक प्रकार का उपेक्षा-जन्य व्यंग घर कर चला। इस उपेक्षा-जन्य व्यंग की सबसे पहली चोट पड़ी उसकी अपनी माँ के शृंगारदान पर। उठा कर एक दिन अपनी मेहतरानी को उसे दे दिया। एक आईना तक उसने अपने पास नहीं रखा।

माँ के मरने के बाद शान्ति को यह शृंगारदान प्राप्त हुआ था। शृंगार-दान के अलावा माँ की अनेक साड़ियाँ भी शान्ति को मिली थीं। माँ का ट्रंक खोलते समय पिता की आँखों में आँसू भर आए थे। शान्ति भी पास ही खड़ी

थी। पिता जी ने भरे हुए गले से शान्ति को हृदय से लगाया। फिर बोले:—

'मेरे और कौन है बेटी, सब तेरे ही काम आएगा।"

लेकिन शान्ति ने कुछ भी अपने पास नहीं रखा। शृंगारदान उसने मेहतरानी को दे दिया, और विदेशी कपड़ों की जिस दिन होली जलाई गई, सबसे पहले माँ की साड़ियों का दान ही उसने किया था। इन सब चीज़ों की शान्ति को जैसे अब ज़रूरत नहीं थी। शरीर के सौन्दर्य से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी प्रसाधन थे, सभी का उसने त्याग कर दिया था, करती जा रही थी।

लेकिन, इस त्याग के साथ ही साथ, किसी ऐसे पारखी की प्रतीक्षा भी उसके हृदय में प्रबल होती जा रही थी जो उसके वास्तविक मूल्य को पहचान कर उसे अपना सके। रूप की चमक पर जान देने वाले परखियों को वह अपने पास फटकने देना भी नहीं चाहती थी।

राष्ट्रीय उत्थान के साथ-साथ शान्ति के हृदय की यह दोनो भावनाएँ—शरीर के सौन्दर्य की उपेक्षा और हृदय के आन्तरिक सौन्दर्य की साधना, अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गई। एक दूसरे से विरोधी दिशा की होने पर भी राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति ने इन दोनों का समन्वय करने की चेष्टा की। यह समन्वय प्रकट हुआ उसकी प्रतिज्ञा के रूप में—वह किसी पुरुष से विवाह नहीं करेगी।

उसकी यह प्रतिज्ञा जैसे बालू की ज़मीन पर खड़ी थी। कोतवाल के सामने आते ही उसने ठोकर खाई। हृदय के अन्ततम प्रदेश में छिपी आशङ्का प्रकट हो गई। पुरुषों का त्याग करने पर भी उसे यह अखरा कि कोतवाल को ही सब घेरे रहते हैं। चित्र का दूसरा पहलू उसके सामने आ गया। वह यह कि विवाह करने अथवा न करने की उपेक्षा का प्रारम्भ अकेले उसकी ओर से नहीं, वरन दूसरी ओर से भी हुआ है।

प्रतिज्ञा शान्ति ने की थी—जैसे यह प्रकट करने के लिए कि उससे विवाह करने वालों की कमी नहीं है। उसका जो अब तक विवाह नहीं हुआ, इसका कारण कुछ और न होकर स्वयं उसकी प्रतिज्ञा ही है। कोतवाल के

सामने आने पर चित्र का दूसरा पहलू सामने आया। देखते हुए भी शान्ति ने उसे नहीं देखा, या देखना नहीं चाहा। स्थिति के सत्य को स्वीकार न कर उसने कोतवाल का विरोध करना शुरू कर दिया, सीधा आरोप वह पेश करती:—

"कोतवाल एक दिन आश्रम की पवित्रता को नष्ट करके रहेगी।"

शान्ति के इस विरोध से आश्रम का वातावरण अशान्त हो उठा। जैसे शान्ति का विरोध पढ़ता, वैसे आश्रम की अशान्ति भी बढ़ती जाती। कोतवाल को देखकर आश्रम वासी जहां नटखट बन कर ही रह जाते, शान्ति को देख कर इतनी उल्टी-सीधी कल्पनाएं करते कि कुछ ठिकाना नहीं। उनका नट-खट-पन शान्ति की निर्मल स्वच्छता को, संयमी निषेधों की उसकी तख्ती को, तीन तेरह करने पर उतर आता।

शान्ति को लेकर अशान्त हो उठने वाले आश्रम वासियों की बैठक जमा थी। कोतवाल, सुख्तयार और शशि सभी उसमें थे। जब भी इस तरह की बैठक जमती, विचित्र और अटपटी कल्पनाओं का अम्बार लग जाता। उस दिन की बैठक का विषय भी अपने अटपटेपन में कम नहीं था। तय किया गया कि सब अपने जीवन की सबसे बड़ी ग़लती का विवरण दें। अपनी ग़लती स्वीकार करने से हिमालय जितने बड़े पापों का बोझ भी हलका हो जाता है।

बेंत की भांति दुबला एक आश्रमवासी सबसे पहले खड़ा हुआ। वह कहने लगा: "मैंने तो नहीं, लेकिन मेरे पूज्य पिताजी ने सबसे बड़ी ग़लती यह की कि उन्होंने मुझे पैदा किया। यह थी ग़लती नम्बर एक। इसके बाद दूसरी ग़लती उन्होंने यह की कि वह बहुत-सा धन छोड़कर नहीं मरे!"

बीच में से ही रोक कर दूसरे ने कहा, "यह सब कुछ नहीं। दूसरों के नहीं, अपने जीवन की ग़लती बताओ। आज की बैठक का यही विषय है।"

"जी, ठीक कहते हैं आप", उसने कहा, "मेरे पिताजी बिना धन छोड़े मरने को इतनी भारी ग़लती कर गए हैं कि मैं छोटी-सी ग़लती करने योग्य भी नहीं रहा। धन के अभाव में ग़लती करने की मेरी इच्छा अन्तिम साँसें गिन रही है!'

कुछ ने उसकी बात को समझा, कुछ ने नहीं। स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया गया। स्पष्टीकरण आया कोतवाल की ओर से। वह बोली, "ठीक कहा इसने। एक दिन मुझसे भी कहता था कि कहीं से बहुत सारा धन मिल जाए तो मुझे लेकर भाग जाए!"

बैठक का प्रारम्भिक विषय बदल कर इसके बाद दूसरा होगया। बदला हुआ दूसरा विषय था—"यदि मेरे पास धन होता तो मैं क्या करता।"

एक बोला—"नहीं बाबा, कोतवाल को लेकर भागना तो एक मुसीबत है। कौन रोज़-रोज़ इसकी कमची खायगा। मेरे पास धन हो तो नीम के पेड़ों का एक जंगल लगा कर उसमें तकली बाबा को छोड़दूं। मज़े से घूमा करेंगे, और नीम की पत्ती खाया करेंगे।"

"यह ठीक है," दूसरे ने कहा—"शान्ति को भी उसी जंगल में छोड़ देना। फिर देखना, जंगल में क्या मङ्गल होता है। समूचा देश उसी जंगल की ओर प्रस्थान करने लगेगा।"

"लेकिन जंगल में प्रवेश करने की अनुमति उन्हीं को मिलेगी जो इस बात की प्रतिज्ञा करेंगे कि जब तक नीम के पेड़ों में नई कोंपलों का फूटना बन्द नहीं होता, वे विवाह से दूर रहेंगे।"

"अगर ऐसा हुआ तो लोग भगवान से यही प्रार्थना किया करेंगे कि हे चराचर के स्वामी, हमें अगले जन्म में नीम का पेड़ बनाना जिसमें नयी कोंपलें तो फूटती हैं........"

"पागल हो तुम तो," शशि ने कहा—"मानव जाति कभी ठूंठ नहीं बनेगी। हमारे ब्रह्मा बहुत ही चतुर हैं। अपनी सृष्टि-रचना को वह कभी बन्द नहीं होने देंगे। एक उन्हीं की फ़ैक्टरी तो ऐसी है जिसमें कभी हड़-ताल नहीं होती। अगर लोग विवाह नहीं करेंगे तो हमारे विधाता सृष्टि-रचना के जायज़-नाजायज़ और बहुत से तरीके निकाल लेंगे........"

"इसका मतलब यह कि शान्ति........"

शान्ति का नाम अभी पूरी तरह ज़ुबान से निकला भी नहीं था कि कोतवाल की कमची हवा में सनसनाई और सब इस प्रकार चुप होगये जैसे

उन्हें सांप सूंघ गया हो ।

पता नहीं क्या बात थी कि कोतवाल शान्ति को लेकर उल्टी-सीधी बातें सुनने के लिए कभी तैयार नहीं होती थी । लेकिन शान्ति थी कि कोतवाल को ही सब रोगों की जड़ समझती थी, और इस बात पर जैसे तुली बैठी थी कि कोतवाल को आश्रमी जीवन से निकाल कर ही वह चैन लेगी।

लेकिन इसमें वह सफल नहीं हो सकी ।

मार खाकर भी आश्रमवासी कोतवाल को प्यार करते, और शान्ति का प्यार पाकर भी वे उस से दूर भागते, । न केवल इतना ही, वरन कोतवाल की कमचियों का कोर्स पूरा करने के बाद पुलिस की लाठियों की मार भी उनके लिये न कुछ हो जाती थी । कोतवाल में यह एक ऐसी बात थी जिस के सामने शान्ति का विरोध ठहर नहीं पाता था । प्रयत्न करके भी वह आश्रमी जीवन से कोतवाल का बहिष्कार नहीं करा सकी ।

नगर की कचहरी पर राष्ट्रीय झण्डा फहराने का आयोजन था । कच-हरी की ओर बढ़ने वाले जत्थे में कोतवाल सब से आगे थी । पुलिस की लाठियों की सबसे पहली चोट उसी पर पड़ी,—उसके शरीर को रोंदने के बादही पुलिस अन्य सत्याग्रहियों तक पहुँच सकी ।

शान्ति भी आई, लेकिन उस समय जब कि लाठीचार्ज समाप्त हो गया था,—आहत सत्याग्रहियों के सिरों को गोदी में रखकर पंखा झलने के लिये । लेकिन सत्याग्रहियों ने शान्ति की शीतल सेवाओं को स्वीकार नहीं किया ।

शान्ति कट कर रह गई । कपड़े झाड़कर वह उठी और दूर खड़े नेताओं के पास जाकर बोली—"सत्याग्रहियों में बड़ा जोश है । वे अध-मरे हो गये हैं, लेकिन फिर भी उनका अन्तर्मन चेतन है ।"

सत्याग्रहियों के अन्तर्मन का इस सीमा तक चेतन होने का सम्बन्ध जितना अधिक कोतवाल से था, उतना शान्ति से नहीं । कई दिन तक शान्ति को नींद नहीं आई । आश्रम में आना भी उसने छोड़ दिया, और नेताओं के बीच ही अब वह रहने लगी ।

: ७ :

नगर की कचहरी पर राष्ट्रीय झण्डा फहराने के दिन पुलिस की लाठियों की मार तो पड़ी कोतवाल के शरीर पर, लेकिन चोट जाकर लगी शशि के हृदय पर। एकाएक वह समझ नहीं सका कि यह क्या हो रहा है और उसकी आंखों के आगे अंधेरा-सा छा गया। पुलिस, कोतवाल के शरीर को रौंदती, आगे बढ़ गई।

शशि की विचित्र अवस्था थी। चोट तो शशि को भी लगी थी, लेकिन कोतवाल की वेदना के सामने अपनी चोट को वह भूल गया था। उसे कुछ सुझाई नहीं देता था। भीतर ही भीतर घुमड़ कर वह रह जाता था। शशि के मुंह से बात तक नहीं निकलती थी, निकलती भी थी तो अधूरी और कुछ अटपटे रूप में।

कोतवाल को लेकर नगर में काफ़ी जोश फैला था। जगह-जगह उसी का चर्चा था। चलते-चलते शशि एक जगह ठिठक कर खड़ा होगया। एक सज्जन कह रहे थे—"मेरा तो देख कर खून खौल गया। यदि गांधी जी हमारे राष्ट्र नेता न होते तो मैं पुलिस का ख़ून पी लेता!"

"बड़ा ज़ालिम है यह नया कोतवाल," दूसरे ने कहा—"इसे तो किसी कसाईख़ाने का इन्चार्ज होना चाहिए था।"

"वहां भी यह अपनी करतूत से बाज़ न आता। मूक पशुओं का बध करने के ऐसे-ऐसे तरीके ईजाद करता कि...."

"लेकिन जब अत्याचार ज्यादा बढ़ता है तो मूक पशु भी शेर हो जाते हैं, और अत्याचारी को अपना मुंह छिपाने के लिए इस दुनिया में कहीं एक कोना तक नहीं मिलता!"

शशि ने सुना और उसका हृदय जैसे एक तेज़ झटका खाकर अस्त-व्यस्त हो गया।

"नहीं, यह नहीं होगा," शशि ने अपने आपको बटोरते हुए मन-ही-मन कहा—"नहीं, यह कभी नहीं होगा!"

शशि के पांव तो तेज़ी से उठ रहे थे, फिर भी लगता ऐसा था कि

उसका शरीर हरकत नहीं कर रहा है। अपने पर उसे झुंझलाहट भी आ रही थी कि उसे हो क्या गया है जो चल नहीं पा रहा है।

एक तरह की आत्मग्लानि का भी वह अनुभव कर रहा था। रह-रह कर वह सोचता कि कोतवाल को इस तरह रौंदा जाता देखकर भी यह कैसे हुआ कि वह जीवित रह सका। इसी के साथ-साथ उसे ध्यान हो आया ख़ून पीने वाली बात और गांधीजी के नेतृत्व का—"यदि गांधी जी हमारे राष्ट्र नेता न होते तो मैं पुलिस का खून पी लेता!"

शशि को ऐसा मालूम हुआ मानो यह बात, बहरे कानों और शून्य से टकरा कर, वापिस लौट आई है और स्वयं उसका पीछा कर रही है।

कुछ ही दूर जाने पर शशि को बिगुल की आवाज़ सुनाई दी। नौजवान सभा के दो युवक हड़ताल और अगले दिन फिर जलूस निकालने का ऐलान कर रहे थे। ऐलान का सब से अन्तिम अंश सुन कर तो शशि स्तब्ध रह गया। युवकों ने घोषणा की:

"कल का जलूस कोतवाल की अगुवाई में रवाना होगा।"

शशि को ऐसा मालूम हुआ जैसे उसकी क्षत-विक्षत चेतना के सभी घाव भर गए हों। लाठी-चार्ज का सारा असर पलक झपकते ग़ायब होगया।

तभी पुलिस बाज की भांति झपटी और नौजवान सभा के युवकों को गिरफ्तार करके लेगई। यह भी अच्छा ही हुआ, गिरफ्तारी ने ऐलान को विद्युत गति से समूचे नगर में फैला दिया।

शशि आश्रम पहुँचा। वहां भी कुछ कम हलचल न थी। हलचल का कारण नौजवान सभा का ऐलान था। नेता लोग इस पक्ष में नहीं थे कि इतनी जल्दी पुलिस से दूसरी टक्कर ली जाय। साथ ही वे यह भी नहीं चाहते थे कि नौजवान सभा तो आगे बढ़े, और वे देखते ही रह जाएं।

नौजवान सभा का यह कार्यक्रम एक ऐसा निवाला बन गया जिसे न गले के नीचे उतारते बनता था न बाहर निकालते। काफी खींचतान के बाद तय हुआ कि जलूस का साथ दिया जाए और, जहां तक बने, पुलिस से टक्कर न ली जाए, इस बात की पूरी कोशिश की जाए कि जलूस कचहरी की ओर

न मुड़े।

रात को, बहुत देर तक, किसी को नींद नहीं आई। सभी उत्तेजित और विचलित थे। रात का सन्नाटा विस्फोट से पहले की निस्तब्धता के समान तनाव से पूर्ण मालूम होता था।

रात के बारह बजे, एक बजा, दो बजे, तीन बजने को आए, तब कहीं जाकर निद्रा देवी आश्रम के निवासियों को अपनी गोद में खींचने में सफल हो सकी।

शशि की आंख लगे अभी कुछ ही देर हुई थी कि ऐसा मालूम हुआ मानो भूकम्प आगया हो। आश्रम के दरवाजे खड़खड़ा रहे थे, दीवारें कांप रही थीं।

शशि हड़बड़ा कर उठ बैठा। आंखें मल कर देखा, पुलिस का धावा हुआ है।

"कम्बख्त रात को आते हैं, चोरों की तरह!" शशि ने कहा—"मैं तो समझा कि भूकम्प आ गया!"

"अगर मैं जाकर न खोलता तो ये दरवाज़ा तोड़ डालते!" मुख्तयार ने कहा।

रात के इसी पहर में, आश्रम के अलावा, नगर के अन्य स्थानों में भी पुलिस के धावे हुए। नौजवान सभा, महिला संघ और स्वयं सेवक दल के साथ-साथ पुलिस ने नगर के अनाथालय और विधवा-आश्रम को भी नहीं छोड़ा। नये कोतवाल अनाथालयों और विधवा-आश्रमों को स्वयं सेवकों तथा स्वयं सेविकाओं का सप्लाई डिपो समझते थे। उनका कहना था:

"आवारा और अनाथ लोग ही आन्दोलन में हिस्सा लेते हैं!"

गिरफ्तारियों की इतनी बड़ी खेप शायद पहले कभी एक बार में ही जेल नहीं पहुँची थी। ऐसा मालूम होता था मानो जलूस में शामिल होनेवाले लोग, नगर के चौक में जमा न होकर, अब जेल में जमा किए जा रहे हों। लेकिन, लाख कोशिश करने के बाद भी, पुलिस कोतवाल को नहीं पकड़ सकी। शान्ति भी इस खेप के साथ जेल नहीं पहुंची।

अपने अन्य साथियों के साथ शशि और मुख्तयार ने जब जेल में प्रवेश किया तो उन्हें एक क्षण के लिए भी यह अनुभव नहीं हुआ कि वे जेल में हैं ।

अपनत्व का वह प्रदर्शन देखते ही बनता था । जेल के भीतर फाटक को पार कर जैसे ही शशि ने चक्कर में,— बीच के गोल आङ्गन में जिसके चारों ओर बैरकें शुरू होती थीं,— पांव रखा कि वन्दे मातरम् की आवाज़ों से जेल गूँज उठी ।

सबसे पहले शशि को वार्डर ने डाक्टर के सामने पेश किया। शशि का वजन लिया गया उसके फेफड़ों को ठोक-बजा कर देखा गया । इसके बाद डाक्टर ने घोषणा की—"एकदम फिट !"

एकदम फिट का मतलब यह कि उसे स्पेशल डाएट की—दूध आदि की—आवश्यकता नहीं, जेल की अधपकी रोटियों और कुट्टी की भुजिया को वह आसानी के साथ पचा सकता है ।

शशि को डाक्टर बहुत ही अच्छा मालूम हुआ । अपने स्वर में समूचा वात्सल्य उंड़ेल कर उसने कहा—"बेटा, अपने शरीर का ध्यान रखना । कोई तकलीफ हो तो मेरे पास आना । तुरत ठीक हो जाओगे !"

बैरक में आते ही शशि को सबने हाथों हाथ उठा लिया । कई मिनट तक उसके पांव जमीन से नहीं लगे । इसके बाद सब बैठ गए और शशि ने बाहर की दुनिया का हाल-चाल बताना शुरू किया । जेल-अधिकारियों के दुर्व्यवहार के खिलाफ कैदियों में पहले से ही असन्तोष था । बाहर के दमन और लाठी चार्ज की खबर ने उसे और भी गहरा बना दिया ।

अभी बातें हो ही रही थीं कि जेल के एक साथी ने शशि से कहा;

"चलो, तुम्हें टेलीफोन पर बुलाया है ।"

"टेलीफोन पर," शशि ने अचरज में कहा—"क्या तुम लोगों के पास टेलीफोन भी है ?"

"हाँ, हमारे पास सभी कुछ है," जेल के उस साथी ने कहा और शशि का हाथ पकड़ उसे घसीटता हुआ ले गया ।

यह टेलीफोन कैदियों की सूझबूझ का नतीजा था जिसके द्वारा एक बैरक के कैदी दूसरी बैरक से बातें करते थे।

जेल में नल नहीं थे, कुंवे थे। कुंवे भी सभी बैरकों में नहीं थे,—यह शायद इसलिए कि कुंवे में डूबकर मरने की सुविधा सभी कैदियों को प्राप्त न हो। एक कुंवे से कई बैरकों का काम चलता था। बैलों की जगह कैदियों की कमर से ही रस्से का दूसरा छोर बांध दिया जाता था, और वे पानी-भरे चरस को खींचते थे। एक कैदी कीलिया का काम करता था। वह चरस के पानी को उंडेलता था और बंद नालियों के द्वारा पानी एक बैरक से दूसरी बैरक में पहुँच जाता था। पानी की इन्हीं नालियों से कैदी टेलीफोन का काम लेते थे।

शशि ने पानी की नाली के एक सिरे पर अपना कान लगा लिया, और दूसरी बैरक से आवाज़ आने लगी।

तय हुआ कि अगले दिन, विरोध प्रदर्शन के रूप में, सवेरे भुने हुए चने का नाश्ता और दोपहर का भोजन न लिया जाए, परेड के समय सम्मान दिखाने के लिए कोई खड़ा न हो, जेल का कोई काम न किया जाए।

जेल का वातावरण गरमा गया और एक दिन की भूख हड़ताल तथा भारतमाता की जय के नारों के साथ समाप्त होने वाले प्रदर्शन ने पूरे एक सप्ताह की भूख हड़ताल और निर्मम बल प्रयोग का रूप धारण कर लिया।

पहले तो जेल अधिकारियों ने दो-चार मीठी बातें करके कैदियों को भरमाना चाहा और उन्हें समझाने के लिए कुछ बड़े नेताओं को भी ले आए जो 'ए' और 'बी' क्लास में विशेष सुविधाओं का उपभोग कर रहे थे। कैदियों ने उनकी बात सुनी। अन्त में कहा—"सभी राजनीतिक कैदी बराबर हैं। उनका श्रेणी-विभाजन कर उनमें फूट डालने की नीति का हम विरोध करते हैं। आप भी अपनी 'ए' और 'बी' क्लास छोड़ कर हमारे साथ कुट्टी की भुजिया और अधपकी रोटियों का स्वाद चखिए, या फिर हम सब को भी अपनी ही क्लास में ले चलिए।"

लेकिन इन दोनों में से एक भी बात नहीं हुई। जो हुआ वह यह कि

कैदियों की एक जूटता तोड़ने के लिए उन्हें तन्हाई में बंद किया जाने लगा। उन्होंने बंद होने से इन्कार किया। इसके बाद बल प्रयोग और हाथा पाई की नौबत आई। कुछ बैरकों में लाठी भी चली। कितने ही घायल हो गये।

शशि ने तन्हाई और भूख हड़ताल से अपने जेल-जीवन का श्रीगणेश किया।

छोटी-सी कोठरी थी जिसमें सींखचे लगा एक छोटा-सा रोशनदान था। शौच आदि के लिए एक पॉट भी वहीं रखा था। दरवाज़ा लोहे की चद्दर का था, एकदम बंद। उसमें एक छोटी-सी खिड़की थी जिसमें से, हाथ डालकर, रोटी अन्दर पहुँचाई जा सकती थी।

रात हो आई। कोठरी अंधेरे में डूब गई। कोठरी के बाहर सहसा किसी के पांव की आहट सुन शशि ने दरवाजे की खिड़की से मुंह सटा कर कहा—"अरे कौन है, ज़रा इधर आना।"

"क्यों, क्या बात है?"

"यहाँ रोशनी का इन्तजाम क्यों नहीं है?"

"रोशनी तो बराबर की गई है।"

"कहां की गई है? देखते नहीं, कोठरी एकदम अंधेरे में डूबी है?"

"वह देखो, उधर........"

शशि ने गरदन को खींचतान कर उधर देखा। सचमुच, रोशनी का इन्तज़ाम किया गया था। सामने के पेड़ की डाल से एक लालटैन लटक रही थी।

"ठीक है," शशि ने कहा—"यह आकाशदीप अंधेरे में ठोकर खाने से हमारी रक्षा करेगा।"

आधीरात के बाद चांद निकला और उसकी किरनें सींखचे-लगे रोशन-दान में से भीतर आने लगीं। चांदनी भी कितनी प्यारी होती है, यह शशि ने पहली बार अनुभव किया।

तीन दिन हो गए। शशि की भूख हड़ताल जारी थी। रोटियां आती थीं और, जेलर के आदेश के मुताबिक, कोठरी के एक कोने में सजा दी जातीं

थीं। शशि के इन्कार करने के बावजूद रोटियां वापिस नहीं ले जाई जाती थीं। जेलर को विश्वास था कि कैदियों का मनोबल तोड़ने में ये रोटियां एक कारगर अस्त्र का काम देंगी।

चौथे दिन खुद जेलर ने शशि की कोठरी में प्रवेश किया। शिष्टता का उस समय उसे पूरा ध्यान था। ऐसा मालूम होता था मानो सारी विनम्रता उसी के पल्ले पड़ी हो। द्वार पर खड़े होकर पहले उसने अन्दर आने की इजाज़त मांगी। इजाज़त मिलने पर वह शशि के पास आकर बैठ गया।

इधर उधर की बातें करने के बाद उसने संवेदना प्रकट करते हुए कहा -- "ओह, आप बहुत कमज़ोर हो गए हैं। देखिए तो, आपका चेहरा कितना पीला पड़ गया है।"

"हाँ," शशि ने कहा—"आपकी आंखों में भी मेरे चेहरे के पीलेपन की झलक दिखाई पड़ रही है।"

"नहीं, मैं मज़ाक नहीं करता," जेलर ने कहा—"बदकिस्मती से इस समय मेरे पास शीशा नहीं है, अन्यथा आप खुद अपनी आंखों से देख लेते।"

"ठीक है," शशि ने कहा—"अभी आपने मेरे चेहरे में पीलापन देखा है। अगले ही क्षण आपको मेरी आंखों में आंसू और गालों पर आंसूओं के दाग भी दिखाई देने लगेंगे। आईना आपकी जेब में न हो, लेकिन रूमाल तो होगा ही। उसे निकाल कर आंसू पोंछना शुरू कर दीजिए न ?"

लेकिन जेलर साहब इतनी आसानी से मात खानेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने एक लम्बी सांस खींची और बोले —"इसी को कहते हैं कि बद अच्छा, बदनाम बुरा। जेलर बनकर एक इन्सान समझा जाने का हक भी मैं ने खो दिया।"

"अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है," शशि ने कहा—"जेलरी से त्यागपत्र देकर आप फिर इन्सानों की पांत में नाम लिखा सकते हैं।"

"सलाह तो माकूल है," जेलर ने कहा—"लेकिन सोचता हूँ, आप लोगों का राज्य होजाने पर भी तो जेलें रहेंगी, जेलरों की भी जरूरत रहेगी ऐसी हालत में जेलरों की जाति को नष्ट करना क्या ठीक होगा ?"

इससे पहले कि शशि कुछ कहे, जेलर उठकर खड़ा हो गया और चलते हुए बोला -- "आप यकीन करें चाहें न करें, लेकिन मैं आपका भला ही चाहता हूँ, बुरा नहीं। आप मेरे अतिथि हैं, और एक मेजबान के लिए इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है कि वह अपने अतिथियों को बिना वजह भूखा देखने पर मजबूर हो!"

शशि, कितनी ही देर तक, उस दरवाज़े की ओर देखता रहा जो अब, जेलर के बाहर पांव रखते ही, बंद हो गया था!

: १८ :

भूख-हड़ताल अधिक नहीं चली। शशि के लिए तो वह जैसे जेल जीवन में प्रवेश करने की पहली दीक्षा मात्र थी,— एक ऐसी दीक्षा जो कैदियों को एक-दूसरे के निकट लाती है, जो उन्हें अपनी शक्तियों का,—और साथ ही कमजोरियों का भी,—भान कराती है।

जेल में राजनीतिक कैदियों को सब खिलाफती कहते थे। सन बीस के खिलाफत आन्दोलन की याद, जेल की ऊंची दीवारों के भीतर, अभी तक सुरक्षित थी।

शशि अभी हवालाती कैदियों में था। मुकदमे की पेशी के दिन खाना दस बजे से पहले ही मिल जाता था। जिन कैदियों का मुकदमा होता था, उन्हें गोल चक्कर में,—जेल के बीच वाले गोल आंगन में,—ले जाया जाता, और हाथ में रोटियां तथा तसले में दाल परस दी जाती।

एक दिन की बात है। शशि की उस दिन पेशी थी। उसके साथ-साथ अन्य कितने ही कैदियों की भी पेशी थी। इनमें राजनीतिक कैदी भी थे, और अ-राजनीतिक भी।

शशि के पास ही एक अ-राजनीतिक कैदी बैठा था। वह खत्री था और सुनार का काम करता था। अमानत में खयानत करने के अपराध में पकड़कर उसे यहां लाया गया था।

शशि के बाद जब उसे रोटी दी जाने लगी तो उसने एकाएक अपना हाथ खींच लिया, और अचकचा कर शशि के मुँह की ओर देखने लगा।

"क्यों, रोटी क्यों नहीं लेते ?" शशि ने पूछा।

"मैं खिलाफती नहीं हूँ...."

वह अपनी बात को पूरी तरह से कह भी नहीं पाया था कि पीली वर्दी पहने एक पक्के की उस पर नज़र पड़ी। देखते ही बोला:

"तू यहां खिलाफतियों के बीच क्यों बैठा है ?"

अधूरी-पूरी भूख हड़ताल के बाद खिलाफतियों के लिए रोटियों का अलग थान तैयार होने लगा था। यह कितनी बड़ी सुविधा थी, इसका अनुभव शशि ने उस समय किया जब उस खत्री को हाथ पकड़ कर खिलाफतियों की पांत के बीच से उठा दिया गया।

लेकिन शशि उस दिन इस सुविधा का उपभोग नहीं कर सका। निवाले उसके गले में अटक कर रह गए।

खिलाफती कैदियों में इस बार, कुल मिला कर, एक ही मुसलमान था। वह युवक था और धरना देने के अपराध मे पड़कर आया था। वह सब के साथ घुल-मिल कर रहता था, और सपने में भी किसी को यह खयाल नहीं होता था कि वह हिन्दू है या मुसलमान।

जेलर ने उसे तन्हाई में रख कर उस पर डोरे डालने शुरू किए। उसे 'कलमा' पढ़ा कर नये सिरे से मुसलमान बनाना चाहा। उसे समझाया:

"किन काफिरों के बीच तू आ फंसा है। अपना मतलब निकल जाने पर तुझे ये दूध की मक्खी की भांति निकाल फेंकेंगे!"

जेलर के घर से उसके लिये बढ़िया खाना आता, तरह-तरह के उसे प्रलोभन दिए जाते और इसी सिलसिले में कुछ मज़हबी मांगों को लेकर भूख हड़ताल तक करने के लिए तैयार हो गया। जेलर ने कहा:

"अब देखना है कि कितने हिन्दू इस भूख हड़ताल में तुम्हारा साथ देते हैं।"

और उसने, अपने साथियों में किसी से भी कुछ कहे बिना, भूख हड़ताल शुरू कर दी।

जेलर का खयाल था कि वह ऊपर-ही-ऊपर अपने षड़यंत्र को उसकी

आखिरी मंजिल तक पहुँचा देगा। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। खुद वार्डरों ने ही सबसे पहले इसकी चर्चा शुरू की—"उसे तो बस जेलर का दामाद ही समझिए। जेलर के घर से रोज़ उसके लिए बढ़िया खाना आता है !"

जब उसने भूख हड़ताल शुरू की तो बात और भी आगे बढ़ी। एक खिलाफती क़ैदी भूख हड़ताल करे और दूसरे खिलाफती कैदियों को या उनके किसी प्रतिनिधि को उसके पास फटकने तक न दिया जाए, यह भला कैसे बर्दा-श्त किया जा सकता था।

जेलर ने अनुभव किया कि इस सवाल को लेकर फिर जेल में विस्फोट हुआ चाहता है। अन्त में वह झुका और उसे मिलने की इजाज़त देनी पड़ी।

नतीजा इसका वही हुआ जो होना चाहिए था। सब कुछ होते हुए भी वह युवक हृदय का अच्छा था। जेलर की चाल समझने में उसे देर नहीं लगी और, हिन्दुओं के खिलाफ ज़हर भरे माफीनामे के बजाय, उसने एक ऐसा बयान दिया जो जेलर की चाल की बखिया उधेड़ता था।

जेल में सभी काम वक्त पर होता था:—नाश्ता वक्त पर, दोपहर का भोजन वक्त पर, भोजन के बाद विश्राम वक्त पर। विश्राम के समय किसी भी कैदी को बाहर नहीं रहने दिया जाता। सब को बैरक में बंद कर दिया जाता। बैरक में कब्र-नुमा, डेढ़ फुट चौड़े और पांच फुट लम्बे, चबूतरे बने थे। उन्हीं पर मूंज का पट्टा बिछा कर कैदी विश्राम करते, या बैठ कर गप्पें हांकते। चार बजे विश्राम का समय खत्म होता और उन्हें बाहर खदेड़ दिया जाता।

समय की पाबन्दी का सबसे अजीब दृश्य प्रस्तुत होता सुबह के समय जब कैदी शौच जाते। जेल का शौचालय भी खूब था। कैदी आमने-सामने कदमचों पर बैठते थे। बीच में गज़-भर ऊंचा परदा या पार्टीशन था। अगल-बगल से से खुला। कुछ कैदी मेहतर के काम पर नियुक्त थे। वे अगल-बगल के गलियारे में घूमते रहते और प्रत्येक कैदी को दो मिनट से ज्यादा नहीं बैठने देते। ज़रा भी देर हो जाती तो कहते:

"अबे, उठता है कि आऊं........?"

लेकिन खिलाफती कैदियों के साथ वे अधिक रियायत बरतते,—अर्थात

उन्हें एक-दो मिनट और ज्यादा दे देते ।

कैदियों में एक बूढ़ा था । आयु सत्तर-पिछत्तर से कम न होगी । कमर झुक कर एक दम दोहरी हो गई थी और आंखों से कम दिखता था । जेल में आने से पहले वह देहात में मन्दिर का पुजारी था । उसकी शिव-भक्ति जेल में भी कम नहीं हुई थी । मिट्टी की एक पिंडी-सी बनाकर उसने नीम के पेड़ की जड़ में रख छोड़ी थी, और रोज उसे जल चढ़ाता था ।

"बाबा, तुम यहां कैसे आए ?" शशि ने एक दिन पूछा ।

"कर्मों का भोग है, बेटा !" बाबा ने उत्तर दिया ।

बाद में मालूम हुआ कि किसी विधवा स्त्री को जहर देकर मारने के अपराध में पकड़ कर उन्हें जेल में बंद किया गया है ।

जेल में एक और कैदी था जिसे सब हनुमान कहते थे । उसका हनुमान-पन इस बात में था कि वह एक साथ चालीस रोटी खाता था । बैरक के प्राय: सभी कैदी अपने राशन में से उसे कुछ न कुछ देते थे ।

चालीस रोटियों का ढेर लगा कर जब वह खाने बैठता तो ऐसा मालूम होता मानो देश की समूची भूख उसी के पेट में आकर समा गई हो !

उसके जेल में आने का मुख्य कारण भी यही था,—इतनी बड़ी भूख लेकर अत्यन्त गरीब घर में वह पैदा हुआ था और भूख को शान्त करने के अनेक सफल-असफल प्रयोग करने के बाद, अन्त में, इस बड़े घर में उसने शरण ली थी ।

चालीस रोटियों से अपने पेट की टंकी भरने के बाद रात को वह दो घण्टे तक खूब दण्ड-बैठक लगाता । इससे रोटियां भी हजम हो जातीं और शरीर भी बनता । थक कर इतनी गहरी नींद सोता कि चाहे दुनिया इधर से उधर हो जाए । उसकी नींद कभी न टूटती ।

और उदयसिंह तो जैसे कैदियों का, बल्कि कहिए कि जेल का, बादशाह था । वह तीन साल से हवालात में था । चालीस डकैतियों के उस पर मुकदमे थे जिनमें अड़तीस से वह बरी हो चुका था ।

अनेक कहानियां उसके बारे में प्रचलित थीं । कोई कहता था कि उसने

मेम से शादी की है। कुछ का कहना था कि उसका बाप अंग्रेज था और मां किसी रियासत की रानी। जो हो, उसकी बातचीत का शाही अन्दाज देखते ही बनता था। उसके मुकदमे में भी बड़े-बड़े मातबर लोग गवाही देने आते थे। अंग्रेजी फर्मों से उसका रब्त-जब्त था। पुलिस कहती कि अमुक स्थान पर अमुक दिन उसने डाका डाला, लेकिन उसके मातबर गवाह प्रमाण पेश करते कि नहीं, अमुक दिन वह हमारे यहां मौजूद था, डकैती उसने नहीं, किसी और ने की होगी।

सांचे में ढला हुआ बदन, तपे ताम्बे सा रंग, मझोला कद, अनेक स्थानों पर गोलियों से बिंधा शरीर जिसपर वह सप्ताह में दो बार मालिश कराता था। जेल के अस्पताल में वैसलीन का सारा स्टाक दो ही जगह खर्च होता था,—आधा तो उसके बदन पर, और आधा उस बैरक में जिसमें कांग्रेसी नेता बंद थे।

पुलिस-अधिकारियों का वह इस प्रकार जिक्र करता मानो वे उसके हाथ की कठपुतलियां हों। कहता—"इनके हौसले तो देखो, मुझे सजा दिलाने के सपने देखते हैं। क्या यह भी किसी से छिपा है कि सौ में से निन्नयानवे चोरी-डकैतियां इन्हीं की सांठ-गांठ से होती हैं।"

उसे अपने पेशे पर गर्व था और अन्य कैदियों को,—खिलाफतियों को छोड़कर,—घृणा की दृष्टि से देखता था। कहता था:

"इन गिरहकटों ने हमारे पेशे को बदनाम कर रखा है।"

'गिरहकटों' की जगह कभी-कभी वह 'चरकटों' शब्द भी इस्तेमाल करता था। जिन लोगों की वह अब तक हत्या कर चुका था, उनमें पुलिस-अफ़सरों की संख्या सबसे ज्यादा थी।

स्त्रियों की वह बेहद इज्जत करता था। उसके अपने दल का साथी हो या कोई और, जब भी कोई किसी स्त्री पर हाथ डालता था तो वह उसे कड़ी सजा देता था।

एक दिन की बात है। वह और उसके कुछ साथी जंगल के बीच से गुजर रहे थे। सांझ का झुटपुटा गहरा हो चला था। तभी एक तांगे के आने की आवाज सुनाई दी। तांगा निकट आया तो उसे घेर लिया। तांगे में एक

तो पुलिस का दारोगा था, दूसरे एक स्त्री थी जो पतुरिया मालूम होती थी। दारोगा को घसीट कर नीचे उतार लिया और उसकी मुश्कें कस दीं। इसके बाद अपने साथियों को अलग कर खुद उदय सिंह उस स्त्री के पास पहुँचा और दियासलाई जलाकर देखा।

"क्या बताऊं," उदयसिंह ने कहा—"सुनरी बर्र है रही थी!"

सोने के गहनों से वह इतनी लदी थी कि देखने में पीली बर्र का छत्ता मालूम होती थी।

"तुम दारोगा की कौन हो,—उसकी स्त्री?" उदयसिंह ने पूछा।

"नहीं।"

"कोई रिश्तेदार?"

"नहीं।"

इसके बाद उदयसिंह को जैसे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं थी। उसने स्त्री को तो, मय गहनों के, अपने एक आदमी के साथ वापिस लौटा दिया और दारोगा को लेकर देवी के अपने मन्दिर में पहुँचा।

मंदिर जंगल में ही था।

उदयसिंह ने दारोगा की मुश्कें खोल दीं। उसकी नाक, कान, हाथ और पुरुषेन्द्रिय काट कर देवी को चढ़ाई। फिर हाथ जोड़ कर बोला:

"मां, क्षमा करना, ऐसे आदमियों की यही सजा है।"

अन्त में, उदयसिंह के आदमियों ने, दारोगा का सिर भी देवी की भेंट चढ़ा दिया।

दोपहर के भोजन के बाद, विश्राम के घंटों में, उदयसिंह इसी तरह की घटनाएं सुनाया करता।

"बस, साल दिन के लिए मुझे राजा बनादो," उदयसिंह कहता—"इस देश से चोरी और जिना का नाम मिट जाएगा!"

कुछ दिन बाद जेल में नये कैदियों का आना हुआ। ये कैदी सर्वथा नयी किस्म के थे,—इनमें बनिये थे, सेठ और साहूकार थे। ये सभी पैसे वाले थे। इनमें कई लखपति थे, एक-दो करोड़पति भी हों तो आश्चर्य नहीं। इनके

अपराध भी अजीब थे,—किसी को इसलिए पकड़ा गया था कि उसने मूली चुराई थी, किसी को इस लिए कि उसने गाजरों पर हाथ साफ किया था, और किसी पर फूल गोभी चुराने का इलजाम था।

बात असल में यह थी कि नये कोतवाल ने जो मुसलमान था, जिले के एक कस्बे में दंगा करा दिया था। इस दंगे की सबसे गहरी चोट पड़ी कुंजड़ों पर—दंगे में साग-भाजी की मंडी लूट ली गई। दंगे से पहले कुँजड़ों ने सरकारी कर्मचारियों के हाथ तरकारी बेचना बंद कर दिया था। नाई और धोबियों ने भी, इसी प्रकार, सरकारी कर्मचारियों का बायकाट कर दिया था।

नया कोतवाल एक दिन कस्बे में पहुँचा। कुंजड़ों और नाई-धोबियों से बात की। उन्हें डराया-धमकाया। वे बोले:

"हम क्या करें, सरकार। यहां केबड़े-बड़े सेठों और महाजनों ने हम पर दबाव डाला। पानी में रह कर मगर से बैर साधें तो जिन्दा न रहें!"

इसके बाद दंगा हुआ। दंगे में सब्जी मंडी लुटी, कितने ही घर जले,—कुंजड़ों के, नाइयों और धोबयों के। कितने ही मारे भी गए। अन्त में, आंखें बन्द कर, सेठ-साहूकारों और बनिये-बक्कालों को पकड़-पकड़ कर जेल में बंद कर दिया गया।

सेठ साहूकारों और महाजनों के आने से जेल का रंग-रूप ही बदल गया। जेल की नदिया में रिश्वत और घूस की नावें तैरने लगीं। खिलाफतियों जैसी रोटी पाने के लिए भी वे वार्डरों को खूब घूस देते। जेल के अधिकारियों, पुलिस वालों और वकील-बैरिस्टरों के लिए तो उनकी थैलियों के मुंह खुले ही थे।

शुरू-शुरू में इन लोगों ने अपने-आपको खिलाफतियों से अलग रखा। इन्होंने सोचा कि अगर खिलाफतियों का साथ देंगे तो उनका अपराध बढ़ जाएगा, छूटने की उम्मीद और भी दूर खिसक जायगी।

लेकिन बाद में जब यह देखा कि इस तरह वे अकेले पड़ गए हैं, जितना ही वे झुकते हैं उतना ही कोतवाल उन्हें दबाता है, तो उन्होंने भी एकजूट होकर कांग्रेसी नेताओं का मुँह जोहना शुरू किया। दूसरे शब्दों में यह

कि कुछ थैलियां उन्होंने कांग्रेसी नेताओं के लिए भी रिजर्व कर दीं।

थैलियां ही उनका बल थीं, उन्हीं के सहारे उन्होंने नौकरशाही से लड़ना शुरू किया, और इसका मनचीता फल भी उन्हें प्राप्त हुआ।

कांग्रेस और सरकार में जब समझौते की बातचीत चली तो, समझौते पर हस्ताक्षर होने से भी पहले ही, उनपर से मुकदमा उठा लिया गया। खिलाफती कैदी भी छूटे, लेकिन उनसे कई महीने बाद!

: १६ :

जेल की भूख-हड़ताल और राष्ट्रीय आन्दोलन के उत्थान-पतन को शशि तो सफलतापूर्वक पार कर गया, लेकिन उसके प्रिय बन्धु मुख्तयार के लिए जेल का जीवन भारी पड़ा।

यह वही मुख्तयार था जो कोतवाल को आश्रम में देवी जी कहा करता था और जलेबी के दो-चार टुकड़े तथा किसी देवता पर चढ़े फूल कोतवाल को भेंट करने के बाद बहुत खुश होता था।

मुख्तयार को देखकर सब हँसते थे। जेल से बाहर यह हँसी उच्चतम शिखर पर पहुँचती थी झण्डाभिवादन के दिन। केसरिया साड़ी पहने नगर की अनेक महिलाएं झण्डे के चारों ओर खड़ी होतीं और मुख्तयार कलाबाजी-सी खाकर भारतमाता को सलामी देता।

आश्रम का वह 'विदूषक' जेल में भी हीरो बना हुआ था।

मुख्तयार की सहन-शक्ति अद्भुत थी। सभी कुछ वह सह सकता था, सह चुका था। लाठियों की मार उसने सही थी, भूख-हड़ताल का दौर भी वह आसानी से पार कर चुका था, और कष्ट सहने के प्रत्येक अवसर पर वह सब से आगे रहता था।

लेकिन जेल-जीवन का एक अभाव ऐसा था जिसे सहन करना उसकी शक्ति से बाहर था। वह यह कि जेल में झण्डाभिवादन नहीं होता था।

उसने मांग की कि हर महीने के आखिरी रविवार को जेल में भी झण्डाभिवादन होना चाहिए। सभी खिलाफती कैदी उस दिन एक जगह जमा हों, महिलाओं को भी उनके वार्ड से लाया जाए, और झण्डा ऊंचा रहे

हमारा की ध्वनि से समूची जेल गूँज उठे।

इस मांग को लेकर मुख्तयार जेल में पूरा असहयोगी बन गया।

सप्ताह में एक बार जेल में परेड होती थी। जेल सुपरिन्टेन्डेयट जेल का मुआयना करने आता था और मुआयना कराने के लिए कैदियों को अपने कम्बल-तसले के साथ परेड सजानी पड़ती थी।

परेड के दिन को मुख्तयार असहयोग-दिवस के रूप में मनाता था। उससे उठने के लिए कहा जाता तो वह बैठ जाता, बैठने के लिए कहा जाता तो उठ खड़ा होता। जेलर सामने आता तो वह मुँह मोड़ लेता और उसे सीधा करने के सभी प्रयत्न व्यर्थ जाते। जो कुछ भी उससे कहा जाता, उसका उलटा ही वह करता।

जेलर भी उस पर हंसता और जेल का सुपरिन्टेण्डेन्ट भी। मुख्तयार के अन्य असहयोगी बन्धु भी इस हंसी में योग देते। हंसी की बात भी थी। मुख्तयार ने अपने आप को सबकी हंसी का पात्र बना लिया था। उसके अन्य बन्धु इस तरह के असहयोगी प्रदर्शनों से जहां अपने लिए अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर लेते थे, वहां वह उठक बैठक-करता ही रह जाता था!

हँसी-हँसी में मुख्तयार के साथी अपने असहयोगी-रूप को भूल जाते थे, उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता था कि मुख्तयार, सब कुछ होते हुए भी, सत्याग्रही है, उनका ही एक अपना बन्धु है। उनके सामने यदि कुछ रहता भी था तो केवल यही कि मुख्तयार हँसने-खेलने की चीज़ है।

लेकिन जेलर-आदि हँसी के समय भी अपने अधिकारी-रूप को नहीं भूलते थे। हँसी के बावजूद उन्हें लगता था कि मुख्तयार उनकी और जेल के अनुशासन की उपेक्षा कर रहा है। कहने पर भी जब मुख्तयार सामने की ओर मुँह नहीं करता तो साहब कहते:

"मालूम होता है, यह पागल होगया है!"

बड़े साहब इसी तरह की हँसी करते थे, बहुत ही निर्मम हँसी। एक दिन यह हँसी सीमा पार कर चली। बड़े साहब का साथ देने के लिए जेलर आगे बढ़ा। मुख्तयार के माथे को छूकर बोला:

"हाँ हुज़ूर, इसका माथा भी बहुत गरम है !"

नायब जेलर भला क्यों पीछे रहता ! मुख्तयार की आँखों की ओर इशारा करते हुए बोला:

"देखिए सरकार, इसकी आँखें भी अंगारा हो रही हैं !"

जेलर और नायब जेलर की तत्परता देखकर बड़े साहब बहुत खुश हुए। उन्होंने कहा:

"अच्छी बात है। इसकी परीक्षा की जायगी।"

परीक्षा के लिए मुख्तयार को अकेली कोठरी में बन्द कर दिया गया। फांसी के कैदी इन कोठरियों में बन्द किए जाते थे। तीन दिन बाद जेलर मुख्तयार को देखने गया। दूर से देखकर मुख्तयार ने कहा:

"मेरे पास न आना, नहीं तो मैं नोच खाऊँगा। जानते नहीं, मैं पागल हो गया हूँ !"

जेलर साहब ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। वह आगे बढ़ते गये। मुख्तयार ने अपने ऊपर कम्बल डाल लिया। जेलर के पास आते ही, भालू की तरह, वह उनपर झपटा !

मुख्तयार पर उस दिन खूब मार पड़ी। उसके शरीर पर उस मार का जैसे कुछ असर नहीं हुआ। सात दिन बाद बड़े साहब उसे देखने आए। उन्हें देखते ही मुख्तयार ने कोठरी में रखा कमोड-पॉट उठा लिया। अपने सिर पर उसे रखते हुए बोला:

"तुम अपने को क्या समझते हो। मैं भी साहब हूँ,—तुम से भी बड़ा साहब !"

मुख्तयार की अवस्था दिन-दिन खराब होती जारही थी और वह सच-मुच में पागल होता जा रहा था। आखिर वह दिन भी आया जब उसे जेल से छोड़ देना पड़ा। सरकारी वक्तव्य में कहा गया कि वह गांधीजी की गीता-आदि बहुत पढ़ा करता था। पूजा-पाठ करने के तरीके भी उसके अजीब थे—यहाँ तक कि उसे किसी बात का कुछ होश नहीं रहता था।

मुख्तयार के लिये काला अच्छर भैंस बराबर था, यह शशि जानता था।

सरकारी वक्तव्य के प्रति उसके हृदय में रोष भी पैदा हुआ, लेकिन अधिक देर तक टिक न सका। जेल से बाहर जाने के बाद मुख्तयार की क्या हालत हुई, यह जानने के लिए वह बेचैन हो उठा।

कुछ दिन बाद सत्याग्रहियों के एक नए जत्थे ने जेल में प्रवेश किया। उनमें से एक सत्याग्रही पर शशि की आँखें अटक कर रह गईं। उसकी सूरत मुख्तयार से बहुत कुछ मिलती थी। शशि से जब नहीं रहा गया तो उसने उससे पूछा:

"क्या आप मुख्तयार...."

शशि के अधूरे वाक्य को उस व्यक्ति के आँसुओं ने पूरा कर दिया। वह सचमुच में मुख्तयार का भाई था, और अपने भाई की मृत्यु का प्रतिकार करने के लिये वह भी सत्याग्रह में शामिल हो गया था। भाई की ही नहीं, अपनी माँ की मृत्यु का भी। मुख्तयार के मरने की खबर सुनकर उसकी बुढ़िया माँ पछाड़ खाकर गिर पड़ी, और फिर नहीं उठी। इसके दो-तीन दिन बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।

शशि को ऐसा मालूम हुआ मानो मुख्तयार के भाई के मुँह से निकले शब्द उसकी आँखों के सामने गोल-गोल तारे बन कर तैर रहे हों। अगले ही क्षण ये तारे विलीन हो गए और उनकी जगह एक दूसरा दृश्य मूर्त हो उठा—आश्रम के आंगन का दृश्यः राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहा है, उसके चारों ओर केसरिया साड़ी पहने महिलाएं खड़ी हैं, और मुख्तयार के रोम-रोम से जैसे उल्लासपूर्ण ध्वनि निकल रही है—"भारत माता की जय!"

मुख्तयार को आंसुओं का अर्घ्यदान दिये अभी अधिक दिन नहीं बीते थे कि इस बीच एक घटना और घटी,—एक ऐसी घटना जो शशि के लिए कल्पनातीत थी।

इस घटना का सम्बन्ध था शान्ति से।

यह वही शान्ति थी जो कोतवाल को देखकर सेह की भांति कांटे खड़े कर लेती थी और सीधा आरोप उस पर लगाती थी:

"यह आश्रम की पवित्रता को भंग करके रहेगी!"

लेकिन आश्रम की पवित्रता तो नष्ट नहीं हुई, पवित्रता नष्ट हुई स्वयं शान्ति की। नगर के एक नेता, जो आयु में उसके पिता के बराबर थे, जीवन के अरक्षित क्षणों में खुद भी पथ-भ्रष्ट हुए और उन्होंने उसे भी पथ भ्रष्ट कर दिया।

शान्ति गर्भवती हो गई।

जीवन का यह एक ऐसा सत्य था जिसे शान्ति आँखों की ओट नहीं कर सकी। शुरू-शुरू में, कुछ दिनों तक, तो वह इस भ्रम में घूमती रही कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आगे चल कर जब इस भ्रम का पोषण करना सम्भव नहीं रहा तो उसने उस नेता का दामन पकड़ना चाहा जिसने उसे पतित किया था।

नेता की स्थिति भी अपने-आप में काफी विकट थी। वह पहले से ही विवाहित थे,—घर में पत्नी थी, एक विवाह योग्य लड़की और दो लड़के थे। अकेले होते तो शायद वह शान्ति को अपने घर में डाल भी लेते, लेकिन अब क्या करें। शान्ति को देखते ही वह इस प्रकार व्यवहार करते मानो उसे पहचानते तक न हों।

कोतवाल को जब इस घटना के बारे में मालूम हुआ तो वह सीधी शान्ति के पास पहुँची, उसे अपने हृदय से लगाया और कहने लगी :

"घबराना नहीं बहन, जब तक मैं ज़िन्दा हूँ, तुम्हारा कोई बाल तक बांका नहीं कर सकता!"

इसके बाद कोतवाल ने नगर की स्त्रियों को जमा किया, नेता के घर पर जाकर धरना दिया और कई दिन तक यह कार्य-क्रम चलता रहा।

नेता ने पहले तो मामले को दबाना चाहा। धीमे स्वर में बोला :

"रुपये का प्रबन्ध मैं कर दूंगा। शान्ति को चाहिये कि या तो वह गर्भस्थ शिशु को तीन-तेरह करदे, अथवा किसी मातृ-भवन में जाकर उससे छुटकारा पा जाए।"

शान्ति इस प्रस्ताव को सुनकर चौंक उठी, कोतवाल के गुस्से में होंठ फड़कने लगे और नेता, स्त्रियों की संगठित मार से बचने के लिये, घर में घुस

गया।

यह शायद पहला अवसर था जबकि किसी पुरुष को, इस तरह की घटना हो जाने पर, इस हद तक लाञ्छित और बहिष्कृत होना पड़ा था। शान्ति के प्रति समूचे नगर की सहानुभूति थी, और सब कुछ होते हुए भी उसका सिर नीचा नहीं झुका था।

इसके एक मास बाद, दो घटनाएं एक साथ घटीं। पहली—गांधी-इर्विन समझौता।

और दूसरी—शान्ति के गर्भ से शिशु का जन्म। लेकिन जीवित नहीं, शान्ति ने मरे हुए शिशु को जन्म दिया था।

तीसरा खण्ड

तिरंगा वसन्त

: १ :

देश का राजनीतिक क्षितिज अब दूध की धुली और जल्दी ही मैली हो जाने वाली स्वच्छ खादी के समान साफ था। कई साल तक गरजने-तरजने के बाद दमन के काले बादल न-केवल यह कि छट चुके थे, बल्कि अपनी व्यर्थता भी सिद्ध कर चुके थे।

जेल से छूटने के बाद गांधी जी और उनकी राष्ट्रीयता के व्यापक प्रसार को देखकर शशि स्तब्ध रह गया। बीड़ी के बण्डलों से लेकर चरखा-संघ द्वारा प्रस्तुत खादी के उजले थानों तक—शायद ही कोई चीज़ ऐसी हो जिस पर गांधी जी की छाप न पड़ी हो!

जनशक्ति की रुपहली किरनों ने गांधी टोपी को और भी उजला बना दिया था। वे लोग भी जिनकी रूह कल तक गांधी टोपी देखकर थर-थर कांपती थी, इतनी ऊंची बाढ़ की टोपी लगाते कि कोसों दूर से दिखाई देती,—साफ मालूम होता कि कोई जीता-जागता साइनबोर्ड चला आ रहा है!

ढीली-ढाली धोती—इतने मोटे सूत की कि अंधे को भी उसके हाथ की कती-बुनी होने में सन्देह न हो, और उस पर उतना ही ढीला-ढाला कुरता और सिर पर इन दोनों से भी अधिक ढीली-ढाली टोपी जैसे भीतर और बाहर की सारी स्याही छिपा लेती और ऐसा मालूम होता मानो किसी देसी साबुन-

निर्याता-कम्पनी ने उन्हें अपना विज्ञापन करने के लिए छुट्टा छोड़ दिया हो। उनका समूचा आकार-प्रकार और डील-डौल देखकर लगता जैसे साबुन के सफेद झागों से बने पुतले चले आ रहे हों।

इनके साथ-साथ गांधी टोपी का एक और रूप था जो अपने बांकपन में बे जोड़ था। चूड़ीदार पायजामा, चुस्त-दुरुस्त अचकन और सिर पर दो-अंगुली या तीन-अंगुली बाड़ की तिर्छी टोपी दूज के चांद का भ्रम पैदा करने वाली चमचमाती हुई कटारी के समान दिखाई देती थी!

झंडे के तीन रंगों की छटा भी देखते ही बनती थी और उसने, बाकायदा, इन्द्रधनुषी रूप धारण कर लिया था। शशि को अच्छी तरह याद था कि अभी कल तक झंडा हाथ में लेकर घर से बाहर निकलने या उसे किसी इमारत पर फहराने के क्या मानी होते थे। कचहरी पर झंडा फहराते समय लाठियों की वर्षा, घोड़ों का दौड़ाया जाना और कोतवाल का घायल होना उसे अच्छी तरह याद था। पुलिस लाठियों-गोलियों की वर्षा करती थी और झंडे के तीनों रंग, जनता के रक्त में मिलकर, एक रंग हो जाते थे। शशि के हृदय पर झंडे के इसी रूप और इसी रंग की छाप पड़ी थी और जब भी वह उसकी याद करता था, उसका हृदय उत्साह और उमंग से भर जाता था।

लेकिन झंडे के तीनों रंग अब जिस रूप में सामने आ रहे थे, वे इससे सर्वथा भिन्न थे। साड़ियों के बोर्डरों पर, जम्परों की बाहों और तिकोने-चौकोने गलों पर, चोलियों पर, बालों में डालने वाले फीतों, मेज़पेशों और यहां तक कि पलंग की चादरों तक पर अब तिरंगी धारियां सांप की भांति बल खाती दिखाई देती थीं और शशि का हृदय मसोस उठता था।

शशि, हृदय में कराह और होठो पर व्यंग पूर्ण मुसकराहट लिए, अपने चारों ओर देखता और उसे झंडे का वह रूप न दिखाई देता जिसे जनता ने अपने खून से सींच कर एक ही रंग में रंग दिया था। शशि को ऐसा मालूम होता मानो वह एक सपना था जिसका जीवन के इस यथार्थ से कोई मेल नहीं है,—एक ऐसा सपना जो अपनी याद छोड़ कर सदा के लिए विलीन हो गया है।

अनायास ही शशि को उस प्रदर्शनी की याद हो आती जिसमें उसने, पहली बार, कोतवाल को देखा था, और उसके कानों में कोतवाल के गीत की ध्वनि गूंजने लगती :

"सैयां भए कोतवाल........!"

प्रान्तीय सरकारों का शासन-सूत्र राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में आ गया था और लोग, जेल जाने या आश्रमी जीवन बिताने का सार्टीफिकेट हाथ में लिए, करेन्सी नोट की भांति उसे भुनाने के लिए बेचैन थे! आशा और उमंगों से सभी के हृदय भरे थे और बड़ी उत्सुकता तथा व्यग्रता के साथ अपने दिन फिरने की वे बाट जोह रहे थे।

राष्ट्रीय सरकार ने अनेक राष्ट्रीय योजनाएं चालू की थीं और आशा की जाती थी कि उनका संचालन राष्ट्र के इन्हीं परखे हुए सैनिकों के हाथ में रहेगा। इन्हीं योजनाओं में से एक के लिए बारह कार्यकर्ता चुने जाने थे और ढाई सौ को बुलाया गया था इन्टर्व्यू के लिए।

लेकिन यह सब तो एक दिखावा भर था। असल में नेता वर्ग के चचा-भतीजे और साले-बहनोई पहले ही इन जगहों को हथिया चुके थे। बाहर से जो इन्टर्व्यू के लिए आए वे टापते ही रह गए। उनकी निराशा और असन्तोष को संभालने तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिए एक अच्छा-खासा तमाशा उस दिन किया गया। सब एक जगह जमा हुए, नारे लगाते हुए उनका एक जलूस निकला :

"बेकारी का नाश हो, पूँजीपतियों का नाश हो, इन्कलाब ज़िन्दाबाद!"

और सब से अन्त में : "महात्मा गांधी की जय!"

बासी कढ़ाई में उबाल की भांति सब में बड़ा जोश था। अपनी निराशा को डुबाने के लिए खूब ज़ोरों से उन्होंने नारे लगाए। अन्त में उन्हें भोज और हरे-भरे आश्वासन दिए गए कि अगली बार अवश्य उनका नम्बर आ जायगा!

शशि यह सब देखता और बल खाकर रह जाता। मन-ही-मन उसने निश्चय किया :

'सरकार गोरी हो चाहे काली, सरकारी नौकरी वह नहीं करेगा।'

शशि की एक मात्र पूंजी थी वह राष्ट्रीय अभिमान जो उसने राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में प्राप्त किया था। वह कोई ऐसा काम करना चाहता था जिससे अपने इस राष्ट्रीय अभिमान को सार्थक कर सके। लेकिन निर्धन के स्वप्न की भांति शशि अपनी इस इच्छा को पूरा नहीं कर सका। उसके पास पूंजी का अभाव था और उसके सगे-सम्बंधियों में भी कोई पैसे वाला नहीं था। इसलिए न तो वह अपना उद्धार कर सका, न देश का, और फिर-फिर कर उन लोगों के हाथ की कठपुतली बनने के लिए बाध्य होता रहा जो अपने उद्धार को ही देश का उद्धार करना समझते थे।

ऐसे लोगों से शशि का अब वास्ता पड़ा जो राष्ट्रीयता को व्यवसाय की गाड़ी के साथ जोतते थे। शशि हाथ-पांव पटकता और इस बात की कोशिश करता कि वह एक दम व्यवसाय का होकर न रह जाए। जब कभी ऐसा होता तो वह नौकरी छोड़ कर अलग हो जाता, खुद अपना धंधा करने की बात सोचता और अन्त में फिर किसी नौकरी का जुवा अपने कंधों पर रखने के लिए बाध्य हो जाता।

इस प्रकार, रह-रहकर, बेकारी और बाकारी के बीच शशि थपेड़े खाता, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर होता, और संचालक शिकायत करते :

"आदमी काम का है, लेकिन मुसीबत यह है कि वह एक जगह जम कर काम नहीं करता!"

लेकिन शशि थाली का बैंगन नहीं था, और न ही वह थाली का बैंगन बनना चाहता था। सब कुछ होते हुए भी वह अपने प्रति ईमानदार था। वह ईमानदारी से जीवन बिताना चाहता था और इस मामले में काफी दक्षता का परिचय देता था। यह पहचानने और भांपने में उसे देर न लगती कि क्या स्याह है और क्या सफेद,—क्या राष्ट्रीय है, और क्या अराष्ट्रीय। सबसे अधिक चिढ़ होती उसे उन लोगों से जो व्यवसायी होते हुए भी समझते यही थे कि उनका व्यवसाय नहीं, वरन् यह राष्ट्रीयता ही है जो चल रही है!

राष्ट्रीयता को चलाने के लिए वह शशि का सहयोग प्राप्त करते और

असन्तुष्ट हो उठते उस समय जब देखते कि शशि राष्ट्रीयता को चलाने में तो योग देता है, लेकिन व्यवसाय को चलाने में नहीं,—और शशि था कि व्यवसाय को राष्ट्रीयता समझ कर चलाना उसने सीखा नहीं था,—सीखा भी था तो उसे चलाना नहीं चाहता था।

जेल से छूटने के बाद कुछ इसी तरह के राष्ट्रीय आभिजात्य को लेकर शशि ने जीवन में प्रवेश किया। ऐसा आभिजात्य था यह जिसके सामने स्वयं राष्ट्रीयता भी घुटने टेकने लगती थी ! जहाँ भी शशि जाता, वहाँ उसका राष्ट्रीय आभिजात्य, नारद के इकतारे की तरह, ध्वनित हो उठता !

: २ :

रस्सी जल जाती है, लेकिन उसका बल फिर भी नहीं जाता । शशि का राष्ट्रीय आभिजात्य भी कुछ इसी प्रकार का था । सब कुछ छोड़ देने पर भी अपने इस आभिजात्य को वह नहीं छोड़ सका। कभी-कभी ऐसा भी होता कि छोड़ना चाहने पर भी राष्ट्रीय आभिजात्य से उसका पीछा न छूट पाता। ऐसा लगता कि मानो स्वयं उसने नहीं, वरन् राष्ट्रीय आभिजात्य ने उसे पकड़ रखा है।

रस्सी के जल जाने पर जो बल बच रहता है, जीवन और शक्ति-संगठन का प्रतीक न रह कर जी का जन्जाल वह बन जाता है । शशि के साथ भी ऐसा ही हुआ। आश्रम को तो उसने छोड़ दिया, लेकिन आश्रमी जीवन ने उसे नहीं छोड़ा—परिस्थितियों ने उसे फिर आश्रमी जीवन बिताने के लिए मजबूर कर दिया।

राष्ट्रीय आन्दोलन के समाप्त हो जाने पर भी शशि आन्दोलनकारी बना रहा । जहाँ भी वह जाता, वहाँ का वातावरण आन्दोलित हो उठता। सत्याग्रह, धरना तथा सविनय अवज्ञा के प्रयोगों से भी उसका वास्ता पड़ता रहता, लेकिन किंचित परिवर्तित रूप में।

नये युग का निर्माण करने तथा राष्ट्रीयता को सदा सुहागिन बनाए रखने के लिए किसी ने एक छापाखाना खोला था। 'नया-राष्ट्र' नाम से हिन्दी और अंग्रेज़ी के दो दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र भी इस छापाखाने से निकलते

थे। अपने राष्ट्रीय आभिजात्य को सार्थक करने के लिए शशि ने भी इस छापाखाने में काम करना शुरू किया।

छापाखाने का फाटक बहुत बड़ा था। ऐसा मालूम होता था मानो आदमियों के लिए नहीं, वरन हाथियों और दो-मंजिला ट्रकों के आने-जाने के लिए बनाया गया है। फाटक के बाद एक गलियारा शुरू होता था जिसमें अखबारी कागज़ के भारी-भरकम थान, गोल लिपटे हुए, पड़े रहते थे। इसके बाद, काफी ऊँची दीवारों पर, तीसरे दर्जे के मुसाफिरखाने की भांति, टीन का एक छप्पर पड़ा था और लकड़ी की दीवारें खड़ी करके छोटे-छोटे दड़बे बना दिए गए थे जिनमें सब काम करते थे।

छापाखाने को लोग हाथीघर कहते थे और इससे निकलने वाले पत्रों को उन्होंने 'हाथी चिंघाड़' का नाम दिय था। यह इसलिए कि पत्रों में समाचारों के शीर्षक काफी बड़े और चीखते-चिल्लाते अक्षरों में छपते थे।

साले-बहनोई के नाते में गुँथी एक युगल जोड़ी इस हाथीघर की—छापाखाने की—सर्वेसर्वा थी। साला मैनेजर था—और बहनोई अंग्रेजी पत्र का प्रधान संपादक। लम्बाई-चौड़ाई में बल्कि कहना चाहिए कि गोलाई में,—दोनों एक से थे। यों साले का रंग कुछ सांवला था, बाल छंटे हुए और सुअर की भांति कड़े, और आवाज़ लट्ठमार,—प्रेम की बातें भी करते तो ऐसा मालूम होता मानों किसी को जहन्नुम रसीद कर रहे हों। बहनोई का रंग गोरा था, बाल मुलायम और चिकने—देखने-सुनने और बोलने में इतने सौम्य और मधुर कि किसी का गला भी काटते तो ऐसा मालूम होता मानो उसके जख्मों पर मरहम लगा रहे हों। कर्मचारी उन्हें समन्दर सोख कहते थे।

साला छापाखाने के मज़दूरों को हांकता था और बहनोई बुद्धि जीवियों पर—संपादकीय विभाग के लोगों पर—रेशमी डोरे डालते थे। उनका एक दामाद और था जो समाचार-संपादक के पद पर नियुक्त था और अपने साथ काम करने वाले सहकारी-संपादकों के खिलाफ खुफियागीरी का काम करता था। रंग उसका भी गोरा था, लेकिन बदन एकदम दुबला-पतला। चेहरे की जगह आंखों पर मोटे फ्रेम में जड़ा चश्मा और केवल नाक-ही-नाक दिखाई देती थी,

ऐसा मालूम होता था मानो मानस-गंध पाने के लिए विधाता ने खास तौर से उसके इस चौखटे का निर्माण किया हो !

उससे सभी कुढ़ते थे और उसकी नाक तथा एक डाइमैन्शन वाले बेहद दुबले शरीर का—जिसमें केवल लम्बाई थी, चौड़ाई और गोलाई का पता नहीं चलता था—मज़ाक उड़ाते:

"क्यों भई, समन्दर सोख की बेटी जब इसके चेहरे पर हाथ फेरती होगी तो नाक के सिवा उसके पल्ले और कुछ नहीं पड़ता होगा !"

कभी-कभी उसके मुँह पर ही कहते:

"यह तो खैर हुई कि बेटी के साथ-साथ समन्दर सोख के मोटापे में से इसे कुछ हिस्सा नहीं मिला। अगर मिल जाता तो........"

मोटे फ्रेम वाले चश्मे के भीतर से वह इस तरह घूर कर देखता मानो सभी को चट कर जायगा।

अंग्रेजी पत्र की कतरन और नकल के सहारे एक हिन्दी का दैनिक और साप्ताहिक पत्र भी छापाखाने में निकलता था। शशि इसी के संपादकीय विभाग में काम करता था। उसके सिवा आठ व्यक्ति और थे जो हिन्दी पत्र का कलेवर भरने के लिए अंग्रेजी पत्र की कतरन बटोरने के काम में योग देते थे।

शशि को यह बड़ा अजीब मालूम होता कि एक साथ और एक जगह काम करने तथा एक से हितों से गुँथे होने पर भी सब में एकता नहीं थी, बल्कि एक-दूसरे को सन्देह और अविश्वास की नज़र से देखते थे। हरेक को हरेक से खटका लगा रहता कि कहीं वह उसकी गरदन काटने की कोशिश तो नहीं कर रह है ! रोज़ कोई-न-कोई जोड़-तोड़ चलता और वे, सहज ही, एक-दूसरे के विरुद्ध संचालक के हाथों में खेलने लगते।

इस आपसी टकराव के बावजूद जो हरेक को हरेक से चौकन्ना बनाता था, मोटे रूप में वे दो दलों में बंटे हुए थे। एक दल में वे थे जिन्होंने सरकारी शिक्षा संस्थाओं और कालेजों में शिक्षा प्राप्त की थी, और दूसरी ओर वे थे जो देशी तथा राष्ट्रीय विद्यालयों के स्नातक थे।

शशि का खयाल था कि देशी तथा राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं और

विद्यालयों के स्नातक अंग्रेज़ी और सरकारी कालेजों के डिग्रीधारियों के मुकाबिले ज्यादा सादगी पसंद, ज्यादा साहसी और ऊंचे नैतिक स्तर से लैस होंगे। लेकिन वास्तव में था इससे एकदम उलटा । अंग्रेजियत उनमें कूट-कूट कर भरी थी और फैशन-परस्ती में उनकी स्त्रियां उनसे भी दो डग आगे थीं। उन्हें देखकर ऐसा मालूम होता मानो नकली रेशम, नकली सफेदी, होठों और गालों की नकली लाली तथा नकली नोकदार छातियों के कारखाने उन्हीं के भरोसे चलते हों। सरकारी कालेजों के डिग्रीधारियों की भांति वे भी अपने नाम के आगे। बी०ए०,—विद्या अलंकार—लिखना नहीं भूलते । अपने सहयोगियों के खिलाफ जोड़-तोड़ बैठाने और मालिकों के हाथ खेलने में भी वे पूरे ढीठपन का परिचय देते। उनका सबसे ज्यादा भद्दा रूप दिखाई देता उस समय जब वे हिन्दी संस्करण के प्रधान संपादक की पत्नी का जिक्र करते। उसका दोष यह था कि वह सुन्दर थी, अपना रूप-रंग ज़रा संवार-निखार कर रखती थी और होठों-गालों की लाली तथा नोकदार छातियों की टेक के बिना भी दूर से दमकती थी ।

उनका खयाल था कि पण्डितजी—हिन्दी संस्करण के प्रधान संपादक को सब पण्डितजी कहते थे—अपनी बीवी के बल पर ही प्रधान संपादक बने हैं।

शशि के इन सहयोगियों में एक का नाम था मिस्टर दैनक। यह उनका असली नाम नहीं था, और उनका असली नाम जानने की किसी को विशेष उत्सुकता भी नहीं थीं। संक्षेप में सब उन्हें मिस्टर दैनक कहते थे । कारण कि यह शब्द उनके लिए एक अच्छी-खासी भूल-भुलैयां बनगया था और वह अकसर आकर पूछा करते थे: "पण्डितजी, यह शब्द 'दैनिक' है कि दैनक?"

बीसियों बार बताने के बाद भी जब कभी उन्हें दैनिक शब्द का प्रयोग करना पड़ता तो दैनक उनके सामने आकर अड़ जाता और वे भूल-भुलैयां में पड़ जाते कि इन दोनों में सही कौन है—दैनक, अथवा दैनिक ?

नतीजा इसका यह कि उनका नाम मिस्टर दैनक पड़ गया ।

इसी तरह, एक दिन, बहुत ही गम्भीर मुद्रा बनाकर वह शशि के पास

आए और बोले:

"अगर हंसी न करें तो एक बात पूछूं ?"

"कहिए," शशि ने कहा ।

"यह ऐनिक शब्द है या ऐनक ?"

अजीब जीव थे वह भी। बारहों महीने नीले रंग का कोट, नीले रंग की पतलून और नीले रंग की टाई पहनते थे । उनके बदन का रंग भी ऐसा ही था, लगता था जैसे विधाता ने उन्हें ब्लू ब्लैक स्याही में रंग दिया हो। वेश-भूषा और शक्ल-सूरत से वह किसी समुद्री-जहाज़ के खलासी मालूम होते थे।

छापाखाने के मालिकों के साथ हिन्दी संस्करण के प्रधान संपादक पण्डित जी की पत्नी की रंगीन रातों का वह खूब चटखोर लेकर वर्णन करते और अगर कभी किसी बात पर मालिकों से लोहा लेने—उनके सामने जाने तक का मौका आता तो दुम दबाकर खीसें निपोरने लगते

पंडितजी भी देशी विद्यापीठ के ही स्नातक थे, लेकिन उनमें और अन्य स्नातकों में ज़मीन-आसमान का अन्तर था । शशि ने जब एक दिन उनसे इसका ज़िक्र किया तो वह बड़ी सादगी से बोले ।

"पांचों उंगलियां एकसी नहीं होतीं।"

"लेकिन यहां तो सभी उंगलियां एक सी मालूम होती हैं," शशि ने कहा—"आपकी गिनती इन उंगलियों के साथ नहीं की जा सकती । आप अपवाद हैं ।"

छापाखाने में पगार का रोना बराबर रहता था। छै-छै महीने बीत जाते थे और कभी वक्त पर पैसा नहीं मिलता था, और जब मिलता भी था तो आंशिक रूप में जो गर्म तवे पर पानी के छींटे की भांति छन्न से उड़ जाता था ।

पगार और पैसों की समस्या दिन-दिन जटिल रूप धारण करती जा रही थी। मिस्टर ऐनक से लेकर पंडितजी तक सभी इससे परेशान थे ।

एक दिन जब पण्डितजी आए तो काफी उदास थे। शशि ने उनसे पूछा:

'पण्डित जी, आज आप बहुत उदास मालूम होते हैं। कहिए, ठीक से तो चल रहा है न ?"

"चलने को तो सब ठीक चल रहा है," पण्डितजी ने कहा, "लेकिन यह मेहतरानी का सत्याग्रह बरदाश्त नहीं होता !"

"मेहतरानी का सत्याग्रह !" शशि के मुंह से निकला। फिर वह सोचने लगा कि किसी समाचार के लिए यह एक अच्छा शीर्षक हो सकता है।

"हाँ, मेहतरानी का सात्याग्रह," पण्डित जी ने कहना शुरू किया, "पगार कई महीने से नहीं मिली है । और सब के तकाज़े तो बरदाश्त हो जाते हैं, समझाने से वे मान भी जाते हैं, लेकिन मेहतरानी का प्रसंग टेढ़ा है। आज सुबह से वह घर पर धरना दिए बैठी है कि पैसे लेकर ही जाएगी !"

मेहतरानी को यह आश्वासन देकर पण्डित जी दफ्तर आए थे कि अभी पैसा भिजवाते हैं, लेकिन पैसा मिला नहीं।

पैसा न मिलने की वजह से सभी परेशान थे और एक-मत हो कम-से-कम इतना तो चाहते ही थे कि यह परेशानी किसी तरह कम हो जाए। लेकिन मतभेद उपस्थित होता था इस चाह को आगे बढ़ाने या इस सिलसिले में कोई कदम उठाने के समय।

पगार मिल नहीं रही थी। असन्तोष और परेशानियाँ बराबर बढ़ती जा रही थीं। आखिर एक अल्टीमेटम लिखा गया। उस पर सब के हस्ताक्षरों का होना आवश्यक था । लेकिन कुछ ने हस्ताक्षर देना स्वीकार नहीं किया। वे बोले: "हमारा पैसा कोई मारा थोड़े ही जाता है। मिल जाएगा--आज नहीं तो कल।"

आज-कल पर टलते-टलते ही मेहतरानी के सत्याग्रह की नौबत आगई थी। आखिर एक अल्टीमेटम लिखा गया और उस पर असहयोगी बंधुओं के हस्ताक्षर भी स्वयं ही बना दिए गए। अल्टीमेटम मालिक के पास भेज दिया गया।

तीसरे पहर मालिक ने सब को बुलाया । यह पहले से ही तय कर लिया गया था कि जिन बन्धुओं ने हस्ताक्षर नहीं किए हैं, उन्हें बोलने का

अवसर नहीं दिया जाएगा । लेकिन इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी । बोलने का काम मालिक महोदय ने खुद अपने लिए ही रिजर्व कर लिया। खुद ही वह सवाल करते और खुद ही उन सवालों का जवाब भी दे देते । इससे पहले कि कोई कुछ कहे, वह कहीं-का-कहीं बढ़ जाते।

स्वच्छ खादी के वस्त्र वह पहने थे । हाथ में उनके सिगार था । प्रभाव-पूर्ण भूमिका बाँधने के बाद उन्होंने अपने जीवन के अनुभव और मुसीबतें सुनानी शुरू कीं। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उन्हें और उनकी मोटर को फाके करने पड़े । उनकी मोटर के फ़ाक़ों का विवरण इतना करुण था कि कहते-कहते उनकी आँखें छलछला उठीं । बोले :

"मैं तो खैर इन्सान था । पेट में कुछ न पड़ने पर केवल हवा खाकर भी दो-चार दिन, बल्कि इससे भी ज्यादा, जीवित रह सकता था । लेकिन मोटर के पेट में जब पैट्रोल न पहुँचता तो वह एक दम मुर्दा हो जाती—न खुद एक डग आगे बढ़ती, न मुझे बढ़ने देती !"

मोटर और इन्सान की तुलना करना उनका प्रिय विषय था । कहते:

"इन्सान भी मोटर की भांति एक तरह की मशीन है। अन्तर इतना है कि इन्सान को उसकी इच्छा-शक्ति चलाती है और मोटर को पैट्रोल।"

अन्त में अपनी पैनी दृष्टि से कुरेदते हुए पूछते:

"तुम आदमी हो या मोटर ?"

करुणा जनक प्रभाव उत्पन्न करने और कुरेदने-कोचने के बाद उन्हें गुदगुदाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कहने लगे:

"आप लोग युवक हैं, ब्राह्मण हैं, ब्रह्मचारी हैं। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि हमारे और आपके सब सङ्कट दूर होजाएँ !"

चलते-चलते, शीघ्र ही पैसा दिलाने के आश्वासन के साथ-साथ, परेशानियों को दूर करने का भी एक उत्तम उपाय उन्होंने बताया। कहा:

'जब कभी दिमाग अधिक परेशान हो तो छापे की मशीन के पास जाकर खड़े हो जाइए। उसकी धड़-धड़ में सारी परेशानियाँ डूब जाएँगी !"

ठीक ही उन्होंने कहा। दफ्तर में परेशानियों को डुबाने वाली मशीन

की धड़-धड़ ही नहीं, और भी बहुत कुछ था—मेज़ थी, बिजली का पंखा था और आवाज़ देने पर राम लखन ठंडा पानी भी पिला देता था। इन सबसे भी बढ़कर यह कि दफ्तर में आने पर, आठ घंटे के लिए ही सही, मेहतरानी के सत्याग्रह से भी पीछा छूट जाता था!

: ३ :

शशि जब ज्यादा परेशान होता तो समन्दर सोख की बातों को मन-ही-मन गुनगुनाता हुआ सचमुच मशीनघर में पहुँच जाता और मशीन के पास जाकर खड़ा हो जाता। शशि के मस्तिष्क और हृदय पर मशीनों की धड़धड़ छा जाती और ऐसा मालूम होता मानों इस धड़धड़ाहट के सिवा दुनिया में और कुछ नहीं है।

लेकिन, इधर कुछ दिनों से, मशीनों की धड़धड़ भी गड़बड़ाने लगी थी और वे अड़ियल टट्टू का रूप धारण करती जा रही थी। ठीक उस समय जबकि उन्हें चलना चाहिए, वे इस तरह चुपचाप खड़ी हो जातीं मानो उन्हें काठ मार गया हो। नतीजा यह कि महीने के तीस दिनों में से बीस दिन डाक संस्करण मिस हो जाते और प्रातः संस्करण भी समय पर न निकलते। जिस अखबार को सुबह चार बजे छप जाना चाहिए, वह आठ बजे छप कर निकलता और नौ-दस बजे तक बाज़ार में पहुँचता।

मशीन को चुप देख शशि कहता :

"यहाँ तो एकदम सन्नाटा है। मैं तो मशीन की धड़धड़ में अपनी परेशानी डुबाने आया था।"

"परेशानी डुबाने के लिए इस समय तुम्हें अपने मालिकों के पास जाकर खड़े होना चाहिए," मशीन-मैन जवाब देता: "उनके हृदय की धड़-कन की आवाज़ के सामने तुम्हें मशीन की धड़धड़ाहट बहुत फीकी और बेजान मालूम होगी।"

शशि, समन्दर सोख के अन्दाज़ में, ऊपर से नीचे तक एक बार उसे देखता, और फिर कहता :

"तुम आदमी हो या मोटर?"

कभी-कभी, मशीन के निश्चल होने का कारण बताते हुए वह कहते :

"हमारे पेट में दाना-पानी नहीं गया, इसलिए हमारी सहानुभूति में मशीन ने भी काम करना बंद कर दिया है।"

कभी-कभी इस उत्तर में झुंझलाहट और खीज भरी होती। कहते :

"मालिकों की बधिया बैठ गई है। मशीन उसी के सोग में चुप है!"

मालिकों को जब यह मालूम होता कि मशीन ऐन वक्त पर—ठीक उस समय जबकि डाक-संस्करण छपना था—फिर ठप्प हो गई है तो उनके गुस्से का वारापार न रहता। वे खूब बमकते-बफरते। चिल्ला कर कहते :

"नयी मशीन मंगवाए साल-भर भी नहीं हुआ। उसे भी तोड़-फोड़ कर सालों ने बेकार कर दिया। रोज़ कोई-न-कोई चीज़ टूटती रहती है। अगर मैंने भी सालों को जेल में बंद न करवाया तो मेरी मूंछें मुंडवा देना!"

यह कह वह पहले से ही सफाचट अपनी मूंछों पर हाथ फेरते और सब खिलखिला कर हंस पड़ते।

जब कभी मशीन टूटती और चलते-चलते ठप्प हो जाती तो शशि को बड़ी प्रसन्नता होती। टाइप रेते जाने के कारण अगली सुबह जब कारिखपुता अखबार उसकी आंखों के सामने आता तब भी वह खूब प्रसन्न होता। लेकिन बाद में मालूम हुआ कि तोड़-फोड़ करने और टाइप रेतने वाला मज़दूर असल में मालिक का गुर्गा था जो मज़दूरों को इस तरह की हरकतें करने के लिए उकसाता रहता था। नतीजा इसका यह कि एक दिन, ठीक उस समय जब कि इस तरह की कार्रवाई की जा रही थी, मालिक ने पुलिस को फोन किया और सभी अच्छे मज़दूर चुन लिए गए।

इसके बाद छापाखाने के मज़दूरों ने हड़ताल की, नगर के अन्य छापाखाने के मज़दूर भी साथ में आए, जलूस निकला और कम्पनी बाग में सभा हुई।

शशि के हृदय पर इस घटना का गहरा असर पड़ा। छापाखाने में आते और वहां बैठ कर काम करते उसका दम घुटता।

उसने छापाखाना छोड़ने का निश्चय कर लिया। पण्डितजी ने समझाया:

"तुम्हारी भावनाओं की मैं कद्र करता हूँ, सच तो यह है कि मैं खुद यहां काम नहीं करना चाहता। यहां वही काम कर सकता है जिसे अपना जीवन बरबाद करना हो। लेकिन ऐसे ही, अगला डग रखने की जगह मिले बिना, यहां से जाना ठीक नहीं। अगर तुम्हें कोई अच्छी जगह मिल गई हो तो ठीक है। तुम खुशी से जा सकते हो, मेरी सारी शुभकामनाएं तुम्हारे साथ रहेंगी, लेकिन अगर........"

शशि और पण्डितजी लकड़ी की दीवारों से घिरे जिस दड़बे में बैठे बातें कर रहे थे, वह काफी सकरा था। एक मेज और दो-तीन कुर्सियों के बाद उसमें कोई जगह नहीं रह जाती थी, यहां तक कि उठते-बैठते समय अगर कुर्सियों को ज़रा-सा भी खिसकाने की ज़रुरत होती थी तो वे आपस में टकराने लगती थीं। छत अलबत्ता काफी ऊंची थी,—इतनी ऊंची कि आकाश को छूती मालूम होती थी।

"इस दफ्तर में वही काम कर सकता है जिसके कंधों में पर लगे हों या जिसे योग-शक्ति का इतना अभ्यास हो कि आंखें बंद कर सिर की सीध में सशरीर ऊंचा उठ सके," शशि ने अगल-बगल और इसके बाद सिर उठा कर टीन की गगनचुम्बी छत की ओर देखते हुए कहा।

पण्डितजी एकाएक शशि की बात समझ न सके। लेकिन जब कुछ समझे तो खिलखिला कर हंसे।

"उनकी इस हंसी में उल्लास और हल्कापन नहीं था। चारों ओर की बोझिल उदासी को तोड़ने का एक प्रयास मात्र था जो हृदय को और भी भारी बनाता था।

पण्डितजी फिर चुप हो गए और कुछ देर रुक कर बोले:

"तो तुमने जाने का निश्चय कर ही लिया है?"

"हाँ," शशि ने कहा—"न तो मैं परदार जीव हूँ, और न योगी ही। मेरी यहाँ गुज़र नहीं हो सकती।"

पण्डितजी ने शशि को कुछ ऐसी रश्क-भरी दृष्टि से देखा जो कहती प्रतीत होती थी:

"तुम सचमुच में भाग्यवान हो जो इस कैदखाने से छूट कर जा रहे हो।"

लेकिन प्रत्यक्षतः बोलेः

"अच्छी बात है। तुम जा ही रहे हो तो जाओ। तुम में शक्ति है, प्रतिभा है, जहां भी जाओगे सफलता प्राप्त करोगे।"

अपने एक मित्र के साथ शशि उन दिनों रहता था। मित्र का नाम था सुशील। नेशनल सर्विस में, प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में, वह काम करते थे। त्याग-तपस्या और कम-खर्ची की कसौटी पर कसा-कसाया उन्हें वेतन मिलता था पैंतीस रुपये। इन पैंतीस रुपयों को लेकर रहना होता था प्रान्तीय सरकार की राजधानी में। छापाखाने के जीवन को लेकर शशि और सुशील में काफी देर तक बातें होती रहीं।

सुशील विवाहित थे। अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ वह रहते थे। नेशनल सर्विस के पैंतीस रुपयों से गुजर नहीं हो पाती थी। अनेक बार इरादा कर चुके थे कि नौकरी छोड़ दें, लेकिन बीवी और बच्चों की ओर देखते और मन मार कर रह जाते। जिस काम को वह पूरा नहीं कर पाते थे, उसे शशि ने पूरा कर दिया था,—अपनी नौकरी छोड़ कर!

साथ में एक साहब और थे जो रहते थे। मिस्टर कान्त उन्हें सब कहते थे। सोशलिस्ट वह थे। देशी विद्यापीठ के ग्रेजुएट यानी शास्त्री बनने में कसर इतनी रह गई थी कि अभी तक वह अपना थीसिस नहीं दे पाए थे। यह नहीं कि थीसिस वह तैयार नहीं कर सकते थे, वरन् यह कि थीसिस तैयार करने के लिए उन्हें पर्याप्त समय नहीं मिल पाता था।

काला रंग जिसमें कलौंस की मात्रा इतनी अधिक थी कि खून की ललाई को उससे मुंह छिपाकर आंखों की सफेदी में शरण लेनी पड़ा था। हाथ की कती-बुनी कमीज तथा पतलून, और गले में लाल रंग की टाई उनके व्यक्तित्व का अटूट हिस्सा थी जो दूर से ही उनके समाजवादी होने की घोषणा करती थी।

मिस्टर कान्त को देखकर शशि को अपने जीवन के उन दिनों की याद हो आई जब कि अपने नाम के साथ वह खेल किया करता था। [illegible] बार

अपने नाम के दो टुकड़े ...सने कर दिए थे—एक शशि और दूसरा कान्त। जीवन का यह वह दौर था ... कि, खेल ही खेल में, उमंग में भर कर मिस्टर कान्त बनने के लिए शशि अप... माँ के पास वह पहुँच गया था और माँ ने भी, खेल ही खेल में, कान्त को बना दिया था कान्ता। शशि को अब ऐसा मालूम हुआ मानो मिस्टर कान्त के रूप में उसके नाम का पीछे छूटा हुआ अङ्ग ही मूर्त्त हो उठा हो!

समय की तंगी से मिस्टर कान्त बहुत परेशान रहते। सोशलिस्ट वह थे और समाज को बदलने की स्कीमों में इतना व्यस्त रहते कि थीसिस तैयार करने के लिए समय के अभाव से सदा ही परेशान रहते। ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद करने के बाद भारत में मज़दूरों का राज कायम करने और समाज को बदलने का सपना देखते थे।

रात के आठ-नौ बजे का समय होगा। नेशनल सर्विस से छुट्टी पाकर सुशील घर आगए थे। मिस्टर कान्त उनके पास बैठे थे। इधर-उधर की बातें करने के बाद मिस्टर कान्त ने कहा, "भाभी से कहना, सुबह ही सुबह उठ-कर जब वह अन्दर कमरे में जाएँ तो मुझे जगा दें।"

लगे हाथ यहाँ एक कामरेड का परिचय और दे दें। शून्यचित्त उसका नाम था। मिस्टर कान्त ही उसे कहीं से पकड़ ... ए थे। नौकरी की खोज में देहात से भाग कर वह शहर चला आया था। कई जगह उसने काम किया, लेकिन पैसा उसे कहीं ... कुछ दिन, जैसे ट्रायल पर, वह काम करता ... मिस्टर कान्त से उसकी एक दिन मुठभेड़ हो... ...धरा से उबारने के लिए अपने साथ उसे वह लेते आए।

तब से शून्यचि... भी इसी घर का एक सदस्य बन गया। कह-सुन कर एक जगह साठ ... महीने की नौकरी भी उसे दिला दी। विवाह उसका हो गया था। ... देहात में रहती थी और खुद यहाँ। साल-छै महीने में एकाध ... का चक्कर लगा आता था। मजबूरियों ने उसे भी सामूहिक ... लिए बाध्य कर दिया था।

सुबह-ही-सुबह जगाने का काम कामरेड शून्यचित्त भी कर सकता था। लेकिन उस समय कान्त को शून्यचित्त का ध्यान नहीं आया। सुशील से वह बातें कर रहे थे और सुशील के सामने रहने पर भाभी का ध्यान जितना अधिक आ सकता था, उतना शून्यचित्त का नहीं। सुबह ही सुबह अंधेरे-मुंह जगाने की बात सुनकर सुशील ने पूछा, "क्यों, कल क्या बात है?"

"कुछ नहीं," मिस्टर कान्त ने कहा, "नवयुवकों का यहाँ एक दल संगठित करना है। उसी के लिए कल एक स्कीम तैयार करनी है। समाज को बदलने के लिए कुछ-न-कुछ करना होगा ही।"

अगला दिन। साँझ का समय था। भाभी अपने बच्चों को सभालने में जुटी थीं, शशि और सुशील बैठे बातें कर रहे थे। तभी कान्त ने बाहर से आकर कमरे में प्रवेश किया। दिन-भर के कार्य-क्रम के बारे में बातें करने के बाद सुशील ने कान्त से पूछा, "भाभी ने आपको जगा दिया था?"

"हाँ, उन्होंने तो जगा दिया था," मिस्टर कान्त ने कहा, "पर मैं जागा हुआ भी सोया पड़ा रहा।"

भाभी ने दोबारा-तिबारा जगाने का कष्ट नहीं किया, इसलिए उस दिन का जागरण अधूरा ही रह गया। मिस्टर कान्त को इससे बड़ी निराशा हुई कि भाभी में उत्साह नाम की चीज़ कुछ भी शेष नहीं रह गई है। उन्होंने अनुभव किया कि युवकों का संगठन करने से पूर्व भाभी-सम्प्रदाय के उत्साह को चेतन करना होगा।

मिस्टर कान्त लगन के पक्के थे। भाभी-जागरण को पूरा करने के लिए देश विदेश में नारी-जागरण-सम्बन्धी अनेक पुस्तकों को उन्होंने जमा करना शुरू कर दिया। जहाँ भी जाते, स्त्रियों के जागरण को लेकर बातें करते और हर कदम पर उन्हें समाज को बदलने की ज़रूरत मालूम होती।

एक दिन आकर शशि से कहने लगे:

"कोई ऐसा काम बताइए, जो औरतों के उपयुक्त हो।"

शशि ने पूछा, "क्यों, ऐसे काम की आपको क्या ज़रूरत पड़ गई?"

कहने लगे, "आचार्य जी की पत्नी से मैंने कहा कि आपके पति तो देश

समाज के लिए इतना-कुछ करते हैं और आप कुछ भी नहीं करतीं। आपको भी कुछ करना चाहिए। जब उन्होंने पूछा कि क्या करें तो मैं उन्हें कोई भी काम नहीं बता सका। कुछ-न-कुछ तो करना होगा ही!"

भाभी-जागरण से शुरू करके सुप्रसिद्ध देश नेता आचार्य जी की पत्नी तक मिस्टर कान्त के काम का विस्तार था। उनका क्षेत्र उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। जो कसर रह गई थी उसे पूरा कर दिया मिस भट्टाचार्य ने। बराबर के मकान को हाल ही में मिस भट्टाचार्य ने आबाद किया था।

: ४ :

समाज को बदलने के लिए मिस्टर कान्त के मस्तिष्क में किसी-न-किसी योजना की खिचड़ी हर समय पकती रहती थी। वक्त-बेवक्त की सभी सीमाओं को पार कर कुछ-न-कुछ करने के लिए मिस्टर कान्त सदा व्यग्र रहते थे। अड़चनों की भी उनके मार्ग में कमी नहीं थी। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक—किसी-न-किसी क्षेत्र की कोई-न-कोई बाधा उसी तरह उनके पीछे लगी रहती जिस तरह किसी जमाने में राम के तीर ने कौवे का पीछा किया था।

दिन-भर इधर-उधर घूमने के बाद रात के बारह-एक बजे कुछ लिखने का समय उन्हें मिलता। लेकिन रोशनी के लिए दीपशलाका नाम की वस्तु का कुछ पता नहीं चलता। दीपशलाका के मिल जाने पर होल्डर की खोज शुरू होती। जैसे-तैसे सब कुछ खोज-खाज कर काम करने बैठते कि मालूम होता, अब लालटेन का तेल धोखा देने जा रहा है। मजबूरन शून्यचित्त अथवा भाभी को सुबह-ही-सुबह जगाने का आदेश देकर उन्हें सो जाना पड़ता।

सुबह होने पर जागे-सोये पड़े रहते। कैसे कुछ किया जाए, यही सब सोचते रहते। समाज को बदलने के लिए कुछ-न-कुछ करने की फिर जो धुन सवार होती तो एकाएक उठ खड़े होते। उतावली में हाथ-मुंह धोते, उलटे-सीधे कपड़े बदन पर डालते और घर से बाहर निकल जाते। खाने पीने का समय इधर-उधर घूमने में बीत जाता। हैरान-परेशान दूसरे पहर के करीब बड़बड़ाते हुए बाहर से लौटते :

'क्या जीवन है हमारा। न खाने का समय मिलता है, न पढ़ने का, न-ही जीवन में कोई रस रह गया है !"

कुछ देर बाद शशि के पास आकर कहते:

"भाई शशि, कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे जी बहले, जीवन में कुछ सरसता आए।"

"कहा तो आपसे," शशि अनेक बार दिए गए अपने उत्तर को फिर से दोहराता, "आप शादी कर लीजिए। इससे अधिक सस्ता, सुविधा-जनक और आचार-संगत नुस्खा आज के समाज के पास नहीं है।"

"इसीलिए तो समाज को बदलने की ज़रूरत है", मिस्टर कान्त कहते, "आपही बताइए, ऐसी हालत में हम क्या करें। किसी के घर में घुस जाएँ, राह चलते किसी को पकड़ लें, अथवा अपने दिल पर 'किराये के लिए खाली है' की तख्ती लगा कर चलें।"

जीवन को सरस बनाने की योजनाओं को अभी मिस्टर कान्त कोई निश्चित आकार-प्रकार दे भी नहीं पाए थे कि इसी बीच, बराबर वाले मकान में, आकर बस गईं मिस भट्टाचार्य। प्रान्त के ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों ने राष्ट्रीय फिल्मों का निर्माण करने के लिए एक फिल्म कम्पनी खोली थी। वह उसी में काम करती थी। साथ में एक खूसट संरक्षक और एक लड़का भी था। रोज सुबह के समय वह रियाज़ करती थी—गाती थी, साथ में तबला और हार्मोनियम खड़कता था।

मिस्टर कान्त को मिस भट्टाचार्य जितनी अच्छी लगती, उतना उसका गाना और तबला खड़काना नहीं। स्थिर-चित होकर समाज को बदलने वाली अपनी योजनाओं को आगे बढ़ाना उनके लिए और भी कठिन हो जाता। हार्मोनियम और तबले का स्वर बाधा बन कर कानों से टकराने लगता।

"यह तो बहुत गड़बड़ है," बरदाश्त की सीमा पहुँचने पर मिस्टर कान्त कहते:

"यही वक्त तो कुछ करने का होता है और इसी वक्त यह गाना शुरू कर देती है। क्या किया जाय। एक चिट्ठी ही लिख दीजिए इसे।"

"नहीं, मकान-मालिक से कहना चाहिए कि इन्हें मना करदे," शशि कान्त के प्रस्ताव में संशोधन पेश करते हुए कहता, "मकान-मालिक को साफ-साफव ता देना चाहिए कि इसी तरह चलते रहने पर यदि किसी दिन कोई दुर्घटना हो गई तो हम जिम्मेदार न होंगे।"

मकान-मालिक से कहा गया तो वह मुस्कराकर रह गया।

इसी बीच महाजन-महाव्याधि ने भी कुछ ज़ोर पकड़ा। पैसों के अभाव ने आटे-दाल का भाव बिगाड़ दिया और सप्ताह में चार दिन चूल्हा ठण्डा रहने लगा। जब-तब मित्रों के यहाँ खाना शुरू किया, उधार का दौर भी चला और—मेहतरानी के सत्याग्रह का दूसरा रूप आँखों के सामने आकर खड़ा हो गया।

शशि के पास आकर मिस्टर कान्त कहने लगे :

"भाई शशि, चाहे जैसे हो, कहीं से कुछ पैसों का प्रबन्ध कीजिए।"

किस-किस से कितना उधार लिया गया, बताते हुए मिस्टर कान्त ने फिर कहा :

"पड़ोसी तक को मैं रुपयो के लिए लिख चुका हूँ कि एक पड़ोसी के नाते आपको मेरी मदद करनी चाहिए। उन्होंने भी यही जवाब दिया कि हम खुद परदेसी हैं, हम क्या मदद कर सकते हैं।"

जीवन की नीरसता फिर सिर उभारने लगी। बड़ा सूना-सूना-सा लगता। इधर मिस भट्टाचार्य का रियाज़ भी बंद हो गया था। मिस्टर कान्त ने कहा:

"इसके आने से जीवन में कुछ सरसता आई थी। वह भी बंद हो गई। न-जाने क्या बात है?"

बाद में पता चला कि वह बीमार है। फिर वह दिन भी आया जब उसकी नौकरी छूटने और सामान लदने की खबर सुनी। वह कम्पनी ही फेल हो गई जिसमें मिस भाट्टचार्य काम करती थी। दिन-भर गायब रह कर मिस्टर कान्त ने सब बातों का पता लगाया कि किस प्रकार कम्पनी का रुपया राग-रंग में बरबाद किया गया और किस प्रकार वे लोग मारे गए जो उस कम्पनी में काम करते थे।

मिस भट्टाचार्य भी उन्हीं में से एक थी । कम्पनी की अभिनेत्रियों को जमा करके मिस्टर कान्त ने उनकी एक सभा भी की । कान्त के साथ उस सभा में शशि भी गया । अभिनेत्रियों की ओर लक्ष्य कर मिस्टर कान्त पूंजीवादी दोहण और शोषण की व्यापकता का दिग्दर्शन करा रहे थे और अभिनेत्रियाँ—जिनमें अधिकांशतः बाजारू औरतें थीं—आपस में हँस-हँस कर बातें कर रही थीं।

शशि से उस सभा में बैठा नहीं गया । कान्त से अधिक झुँझलाहट आई उसे उन अभिनेत्रियों पर—हँसी के लिए जिन्हें समय-असमय की चिंता करने की कोई ज़रूरत नहीं होती—रोने का काम भी जो हँसी से ही निकालती हैं।

उस दिन मिस्टर कान्त दिन-भर बाहर रहे। रात को लौटे दस बजे के करीब। आते ही अपने कागज़ों को उलटा-पलटा, फिर शून्य-चित्त को पुकारा :

"अमुक काग़ज़ कहाँ गया?"

जब कागज़ का कुछ पता नहीं चला तो फिर पहुँचे सुशील के कमरे में। सुशील को देखकर जैसे वह सब कुछ भूल गए।

सुशील ने पूछा, "कहो, आज कहाँ-कहाँ हो आए?"

"अच्छा, आप सो रहे हैं!" सुशील के प्रश्न का उत्तर न दे, दूसरा ही प्रसंग शुरू करते हुए मिस्टर कान्त ने कहा, "और भाभी भी यहीं हैं। एक दिन रात को आकर मैं देखूंगा कि आप लोग कैसे सोते हैं?"

"इसमें क्या है, यह तो आप अभी देख सकते हैं," सुशील ने निस्संकोच भाव से कहा।

"नहीं, रात को लालटेन लाकर मैं खुद अपनी आँखों से देखूंगा कि आप लोग कैसे सोते हैं?"

इसके बाद सुशील ने मास्टर की तरह बताना शुरू किया :

"आधे से ज्यादा पलंग बच्चे घेर लेते हैं, इधर तुम्हारी भाभी सोती हैं और मैं", आड़े-तिरछे होकर अपने सोने के स्थान, गुंजायश और दिशा बताते हुए सुशील ने कहा, "मैं इतने में आ जाता हूँ।"

भाभी के दो बच्चे थे—दोनों लड़के। एक तीन-चार साल का और दूसरा दस-बारह महीने का। मिस्टर कान्त दोनों को खिलाते—छोटे को अधिक। खिलाते-खिलाते जब थक जाते अथवा खिलाते-खिलाते, भूली बात की तरह, समाज को बदलनेवाली किसी योजना का कोई सूत्र जब उन्हें याद आ जाता तो उठ खड़े होते और भाभी के बड़े लड़के को पुकारते:

"आनन्द कहाँ गया ?"

आनन्द का जब कुछ पता नहीं चलता तो भाभी को सम्बोधित कर पूछते:

"भाभी, आनन्द कहाँ गया ?"

"क्यों, बाहर गया है ?" भाभी सवालिया चिन्ह बन कर उसकी ओर देखतीं।

वह कहते : "इसे नहीं खिलाता है वह !"

भाभी मुस्कराकर छोटे बच्चे को मिस्टर कान्त की गोद से ले लेतीं।

इधर वातावरण में कुछ खिंचाव-सा दिखाई पड़ रहा था—दिखाई नहीं पड़ रहा था, बल्कि महसूस किया जा रहा था। शून्य-चित्त ने आकर शशि से कहा:

"सुशील बाबू मुझसे नाराज हैं। भाभी भी उनकी देखा देखी मुझसे नहीं बोलती हैं। कहते हैं, अपना और शशि बाबू का खाना अलग बनाया करो। मकान बदलने को भी कहते हैं।"

"हाँ, मकान बदलने को कहते हैं,—यह तो हम सभी चाहते हैं कि हम सब अपने-अपने पांव पर खड़े हों, इस दुनिया में अपनी जगह बनाएं और छोटी-मोटी गृहस्थी बना कर रहें : इस तरह का पंचमेली जीवन बिताना भला कौन चाहेगा ?"

"लेकिन मेरा क्या होगा ?" शून्यचित्त ने कहा और गरदन झुका कर धरती कुरेदने लगा।

उसी रात शशि ने सुशील से भी बातें कीं। वह कहने लगे:

"कान्त की और आपकी बात और है। लेकिन यह शून्यचित भी

वाइफ के साथ मज़ाक करता है, पास आकर पलंग पर बैठ जाता है। मैं यह सब बरदाश्त नहीं कर सकता।"

शशि कुछ देर चुप रहा और सुशील के चेहरे की ओर देखता रहा। फिर बोला:

"सच बताओ सुशील, क्या तुम कान्त को और मुझे ही आदमी समझते हो,—शून्यचित्त को नहीं? क्या तुम इसीलिए उसे नीचा समझते हो कि वह........"

सुशील उन लोगों में से नहीं था जो आदमी को आदमी नहीं समझते। शशि यह जानता था और उसने तुरत अनुभव किया कि सुशील की स्थिति भी, मूलतः, शून्यचित्त या खुद उसकी स्थिति से भिन्न नहीं है। वह भी जैसे यही कहता प्रतीत होता था कि इस तरह कब तक और कैसे चलेगा?

: ५ :

शशि जिस मकान में रहता था, वह ऊपर वाली मंज़िल में और ऐन सड़क पर था। नीचे दुकानें थीं: टण्डन और कर्मशाला जो अमरीकी ढंग के बाल काटती थी, एक कपड़ा धोने की फैक्टरी जो मैल के साथ-साथ कमीज़ और कोटों के बटन, धोतियों के बोर्डर और ब्लाउज़ों के रंग आदि सब साफ कर देती थी, और एक गरीब रेस्तोरां जिसकी दीवार पर दूर से दिखाई पड़ने वाले अक्षरों में लिखी एक तख्ती लटकी थी कि उधार देना मना है, लेकिन असलियत यह थी कि उसका सारा कारबार उधार पर चलता था।

गरीब रेस्तोरां का मालिक बहुत ही भला था और उधार वसूल करने के लिए भी बहुत ही भले तथा पढ़े-लिखे तरीकों का इस्तेमाल करता था। रेस्तोरां की गाड़ी जब ज्यादा अटकने लगती तो वह, नित्य नये शीर्षकों से, दीवार पर नोटिस लगाता। इन्हीं शीर्षकों में से एक था: 'गरीब रेस्तोरां का दिवाला निकलने से बचाइये।' इसके बाद उधार चुकता करने की अपील थी। कभी-कभी ये शीर्षक कुछ तेज़ी भी लिए होते: 'अगर अमुक तारीख तक उधार चुकता न हुआ तो........'

तो के बाद बिन्दियां और फिर एक प्रश्न सूचक चिन्ह लगा होता। शशि

मालिक से पूछता :

"अगर उधार वसूल नहीं हुआ तो क्या करोगे ?"

"मैंने एक महाजन से बातचीत कर ली है," वह कहता, "अपने सभी ग्राहकों को नय उधार-खाते के औने-पौने दामों में उसके हाथ बेच दूंगा । वह अपने आप, सूद-दर-सूद लगा कर और एक-एक के तीन-तीन बनाकर, सारी रकम वसूल कर लेगा !"

कुछ रूक कर वह फिर कहता :

"लेकिन मुसीबत यह है कि मैं अपने ग्राहकों को होलसोल किसी महाजन के चंगुल में नहीं फंसाना चाहता । इसीलिए ऐसा नोटिस मैंने लगाया है !"

बराबर वाला मकान जिसमें फिल्म कम्पनी में काम करने वाली मिस भट्टाचार्य रहती थी और दिन-भर तबला तथा हार्मोनियम खड़कता था, अब अच्छा-खासा भुतहा घर बना हुआ था । एक बाजू यह घर था और दूसरे बाजू शशि का घर था । जीना दोनों का एक ही था । मिस भट्टाचार्य को यहाँ से गए काफी दिन हो गए थे और एक नए किरायेदार उसमें आकर बस गए थे । गाने-बजाने की जगह अब चीखने-चिल्लाने और मारने-पीटने की आवाज़ें इस घर से आती थीं और अघोरियों तथा सयानों का तांता लगा रहता था ।

शशि जब ग़रीब रेस्तोरां में बैठता तो इस घर में रहने वालों के बारे में नित्य नई चर्चा सुनाई देती ।

"दाल में ज़रूर कुछ काला है," एक साहब कहते—"मर्द तो हिन्दुस्तानी मालूम होता है, लेकिन औरत बंगालिन है । कौन जाने, उसे कलकत्ता से भगा कर लाया हो !"

"जो भी हो, बंगालिन है खूबसूरत," दूसरा कहता— 'लेकिन मिज़ाज की कुछ तेज़ मालूम होती है । मर्द के वस में नहीं आती, इसीलिए वह उसे पीटता है ।'

"वह छिनाल भी तो हो सकती है," तीसरा स्वर में स्वर मिलाता, "जैसे इसके साथ भाग आई, वैसे ही अब किसी दूसरे के साथ भगाना चाहती

होगी । इसीलिए वह उसकी चमड़ी उधेड़ता है, और उसे बस में करने के लिए सयानों को बुलाता है ।"

"मैंने तो यह सुना है कि तोड़ा नाम का कोई प्रेत उस पर आशिक हो गया है," एक अन्य साहब कहते जो बड़े ध्यान से चुपचाप सबकी बातें सुन रहे थे—"वह मर्द को अपनी प्रेमिका पर हाथ तक नहीं धरने देता ।"

"यह तोड़ा प्रेत क्या बला है ?" एक ने पूछा ।

"तोड़ा प्रेत बड़ा ज़ालिम होता है," वह बोले—"खास तौर से सुन्दर स्त्रियों को चुन कर वह उनके पीछे पड़ता है । बहुत पूछताछ करने पर खुद अघोरियों ने यह मुझे बताया था ।"

गरीब रेस्तोरां एक अच्छा-खासा पंचायत-घर था जिसमें मोहल्ले-टोले के किस्से बखाने जाते । हिन्दुस्तानी मर्द और बंगालिन स्त्री के आने से पहले सड़क के दूसरी ओर रहने वाले कोका बाबा का अक्सर जिक्र चलता ।

यह कोका बाबा भी अजीब थे । उनकी उम्र काफी हो गई थी, बाल पक चले थे और शरीर सूख कर छूहारा बनता जा रहा था । लेकिन बच्चे पैदा करने की उनकी शक्ति अद्भुत थी । दरजनों बच्चे पैदा कर चुके थे और उनकी फैक्टरी अभी भी बदस्तूर चालू थी । यों वह घर से दूर अपनी बैठक में रहते थे, और देखने से यह मालूम होता था कि घर-गृहस्थी से उन्होंने संन्यास ले लिया है ।

उनकी पत्नी एक दूसरे घर में, ऊपर की मंज़िल में, रहती थीं । जीना चढ़कर उसके पास पहुँचना होता था । लेकिन कोका बाबा को हृदय की धड़कन का रोग था और ज़ीना चढ़ना उनके बस की बात नहीं था । इसलिए आराम कुर्सी की एक पालकी सी उन्होंने बनवाली थी । दो आदमी इस पालकी को उठाते और कोका बाबा को अपने कंधों पर लादकर ज़नानखाने की ओर ले जाते । आस-पास के सभी लोगों को पता चल जाता कि आज वह बहूजी के पास गए हैं ।

कोका बाबा का अधिकांश समय बैठक में ही बीतता था । बच्चे पैदा करने की कला के वह माहिर थे और सन्तान चाहने तथा बुढ़ापे में भी जवानी

का सपना देखने वालों की उनकी बैठक में भीड़ लगी रहती थी । उनकी खोपड़ी अंडे की भांति चिकनी और साफ थी। केवल कनपटी और गुद्दी पर सफेद बालों की लटें दिखाई देती थीं। लेकिन उनका चेहरा सफाचट नहीं था। भौहें और पलकें खूब घनी थीं, और ठोड़ी बकरे नुमा दाढ़ी से सुशोभित थी।

कपड़ों के नाम पर वह चौड़ी मोहरी का जांघिया और सदरी पहनते थे। उनका एक हाथ घुटने पर और दूसरा जांघिये की मोहरी के भीतर खुज-लाता रहता था। अनायास ही एक बाल तोड़ कर वह अपना हाथ बाहर निकालते, बाल के छोरों को दोनों हाथों की उंगलियों से पकड़ कर तानते, आंखों के पास ले जाकर फिर ध्यान से देखते और इसके बाद उसे अपने कलमदान में, जो सामने ही डैस्क पर रखा रहता था, डाल देते।

"जमाना भी कितना पलट गया है," कोका बाबा कहते, "लोग अब शादी करते हैं, लेकिन ठूंठ हो जाने के बाद। कहते हैं, कच्ची उम्र में शादी करना हरी कोंपल को मसलना या खिलने से पहले ही कली को रौंद डालना है। बेवकूफ कहीं के, इतना तक नहीं जानते कि कसरत से मांस-पेशियां मज़बूत होती हैं या चीण,—खासकर उस समय जब छुटपन से ही उसका चस्का लग जाए?"

कुछ देर रुक कर वह सामने बैठे लोगों की ओर देखते। जांघिये के भीतर पहुँचा उनका हाथ यंत्रवत अपना काम करता रहता। बाल तोड़कर वह बाहर निकालते, दोनों हाथों से उसे तानते, फिर आखों के सामने लेजाकर देखते और कलमदान में रखने के बाद कहते:

"मुझे ही देखो, एक साल की उम्र में मेरी सगाई हो गई थो। मेरी पहली पत्नी की उम्र जब छै महीने की थी। संयोग की बात कि हम सब एक ही बैल गाड़ी में गंगा जी जा रहे थे। एकाएक मैं रो पड़ा। मेरी पत्नी की मां ने मुझे अपनी गोद में ले लिया। इसके बाद ही मेरी पत्नी ने भी रोना शुरू कर दिया। उसे रोता देख मेरी मां ने उसे अपनी गोद में उठा लिया, बस, फिर क्या था। मेरी पत्नी की मां ने कहा: 'इनका तो परिणय हो गया। मेरी

मां ने भी स्वर में स्वर मिलाया: 'हाँ, हो गया।' न किसी ने जन्म-पत्री मिलाई, न ग्रहों की चाल-कुचाल-देखी। हम दोनों का मुंह बोला ब्याह हो गया।"

"पहली सन्तान आपके कब हुई?" किसी ने पूछा।

"पहली सन्तान के समय मेरी पहली पत्नी की उम्र तेरह साल की थी," वह कहते, "वह आज भी जीवित है और उसके चार बच्चे हैं— दो लड़के, और दो लड़कियां!"

कोका बाबा ने कई विवाह किए और प्रत्येक पत्नी बच्चे-कच्चों से उनका घर भरने के बाद विदा हो गई। इस समय चौथी पत्नी चल रही थी।

अपनी पत्नियों और उनकी सन्तानों का जिक्र करने के बाद कहते:

"सन्तान के बिना परिवार ऐसा ही है जैसे बिना बैलों के गाड़ी अथवा बिना धुरी के पहिये। सन्तान ही परिवार को—पति और पत्नी को—आपस में गूंथती और उनकी गाड़ी को चलाती है।"

शशि के पड़ोस में—बराबर वाले उस घर में जहां मिस भट्टाचार्य का तबला खड़कता था—जो लोग अब रहते थे उनके कोई सन्तान नहीं थी। परिवार में एक पति था जिसका नाम था जयन्त, दूसरे उसकी स्त्री थी जिस का नाम था सोमा। इन दोनों के अलावा घर में एक जीव और था,— विलायती कुतिया का एक पिल्ला जिसे सोमा सन्तान की भांति पालती-पोसती और प्यार करती थी। दूसरे शब्दों में यह कि सन्तान के अभाव की पूर्ति वह विलायती कुतिया के इस पिल्ले से कर रही थी। पत्नी की वर्ष गांठ के अवसर पर, स्वयं पति ने ही, यह पिल्ला उसे भेंट किया था।

बड़े प्रेम और धूम-धाम से, बाकायदा पण्डित को बुला कर, सोमा ने पिल्ले का नामकरण संस्कार किया। पिल्ले का एक बहुत ही प्यारा नाम उसने रखा। यह नाम था: मुरली।

सोमा उसे देखती, चाव और उमंग से उसका हृदय भर जाता और अपने आपको न्यौछावर-सी करती उसे पुकारती:

"मुरली!"

और पति, मानो अपनी पत्नी के स्वर में स्वर मिला कर, कह उठता:

"अबे जाता क्यों नहीं, तेरी मां तुझे बुला रही है !"

पति को जब किसी चीज़ की ज़रूरत होती या अपनी पत्नी को अपने पास बुलाना चाहता तो कहता :

"मुरली की मां, ज़रा इधर आना !"

पति का दिया हुआ यह सम्बोधन चल पड़ा और सब उसे मुरली की मां कहने लगे। उसका मूल नाम सोमा पीछे पड़ गया। कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि वह मुरली की मां के सिवा कुछ और भी हो सकती है।

उसके मूल नाम सोमा को छोड़ कर मुरली की मां कहने की प्रथा सोमा के पति से ही शुरू नहीं होती। छुटपन में, अर्थात विवाह होने से पहले, सोमा के पिता भी उसे दूसरे नाम से पुकारा करते थे। वह नाम था—'पशुराज' !

मातृत्व की भावना सोमा में बड़ी प्रबल थी। छुटपन में ही उसमें इसके चिन्ह प्रकट होने लगे थे। गुड्डे-गुड़ियों की देख-भाल भी वह मां के हृदय से ही किया करती थी। बातें भी उसकी ऐसी ही होती थीं। सोमा की बातों और चाल-ढाल को देख-सुनकर उसकी मां कहा करती :

"यह तो घर में कोई पुरखा पैदा हुई है !"

कुत्ते-बिल्ली के बच्चे पालने का उसे बड़ा शौक़ था। किसके घर बिल्ली ने बच्चे दिये हैं, किसकी कुतिया के बच्चे होने वाले हैं, वह सारी खैर-खबर रखती। न-जाने कहां-कहां से लाकर वह पिल्ली-पिल्ले और बिलौटों को जमा करती रहती।

एक दिन उसकी बिल्ली ने घर का दूध पी लिया। माँ ने उसके ऐसी कलछी फेंक कर मारी कि बिल्ली की टांग टूट गई। बिल्ली के साथ-साथ माँ ने सोमा को भी टांग पकड़ कर घर से बाहर निकाल देने की धमकी दी।

उस दिन सोमा घंटों रोई। रोते-रोते उसकी हिचकियां बंध गईं। सोमा के पिता ने आकर उसे धीरज बंधाया। उसकी कमर थपथपाते तथा सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा :

"जब तक मैं जीवित हूँ, तुम्हें कोई घर से बाहर नहीं निकाल सकता।"

सोमा में और उसकी माँ में कभी नहीं पटती। पिल्ली-पिल्ले और बिलौटों पालकर सोमा समझती कि वह प्रेम-नगर बसा रही है, और माँ कहती कि वह म्लेच्छपना फैला रही है। दोनों में खूब खटपट चलती।

पिल्ले-पिल्ली और बिलौटों से तो सोमा के पिता को भी कोई विशेष प्रेम नहीं था, लेकिन इसके लिये माँ की तरह वह सोमा पर नाराज़ भी नहीं होते थे। रह-रह कर यही वह सोचते और सहज ही उन्हें विश्वास होजाता कि जिन बातों के लिये सोमा को इस घर में भला-बुरा कहा जाता है, उनकी क़द्र उसके पति के घर होगी।

माँ का मत पिता से भिन्न था। सोमा को लक्ष्य कर जब-तब यही वह कहती:

"अभी क्या है। पता चलेगा जब ससुराल जाएगी। पिता का दुलार और उसके पिल्ली-पिल्ले सब धरे रह जायेंगे!"

जब कभी सोमा की बिल्ली रसोई में घुस जाती अथवा दूध पी लेती तब मां बहुत बिगड़ती। कहनी-अनकहनी सभी तरह की बातें वह कह जाती। कभी-कभी वह इस तरह की भी कल्पना किया करती कि सोमा का विवाह हो गया है। छींके पर उसके पति का दूध रखा है। सोमा की बिल्ली उसे पी गई है और पति की मार उस पर पड़ रही है।

लेकिन इस तरह की अनहोनी और अटपटी कल्पनाओं को सोमा की माँ आगे नहीं बढ़ने देती। मां होकर अपनी कन्या के बारे में यह सब सोचना अच्छा भी नहीं मालूम होता। जब कभी इस तरह की उल्टी-सीधी भावनाएँ उसके हृदय में उठतीं तो वह अपने पर झुंझला उठती, हालांकि यह झुंझलाहट भी जाकर उतरती सोमा पर ही:

"न जाने कैसी नासखेत यह पैदा हुई है!"

सोमा के पिता यह सब देख कर व्यथित हो उठते। बात बढ़ जाने पर उनसे रहा नहीं जाता। सोमा के सिर पर दुलार का हाथ फेरते हुए उसकी माँ से कहते:

"ख़बरदार जो इसे कुछ भी कहा तो। मेरी सोमा खूब पिल्ली-पिल्लों

को पालेगी। जैसी आप हैं, वैसा ही सबको बनाना चाहती हैं!"

इसके बाद एक व्यंगपूर्ण हँसी उनके ओठों पर खेल जाती। मौन भाषा में जैसे वह कहते प्रतीत होते कि चिड़िया के बच्चे तक को जिसने सीधी आँखों नहीं देखा, वह क्या जाने स्नेह का मूल्य। सोमा को वह मुग्ध-भाव से देखते और पानी की चिड़िया से उसकी तुलना करते कि तैरना सीखने के लिए उसे किसी बाहरी सहारे की ज़रूरत नहीं। सोमा को वह सभी दृष्टियों से सम्पन्न और अपने-आप में पूर्ण समझते थे।

आख़िर वह दिन भी आया जब सोमा का विवाह होगया। पति के हाथों में सोमा को देते हुए उसके पिता ने कहा:

"सोमा बड़ी सीधी है। कोई ऐसी-वैसी बात कर बैठे तो ध्यान में न लाना।"

कहते-कहते पिता की आँखों में आँसू भर आए। सोमा भी रोई। पिता से बिछोह होने का उसे दुःख था, लेकिन साथ ही उस दाँता किट-किट से भी वह तंग आ गई थी, जो उसे लेकर रोज घर में चलती थी।

विदा के समय आँसू तो सोमा की आँखों में भी आए, लेकिन उनकी वर्षा नहीं हुई। डबडबाई आंखों से उसने पिता से विदा ली और पिल्ली-पिल्लों तथा बिलौटों को पीछे छोड़ पति को अपनाने के लिए आगे बढ़ चली।

: ६ :

शून्यचित्त अब उन्हीं के यहाँ—सोमा और जयन्त के यहां—काम करता और रहता था। एक दिन जबकि शशि ज़ीने से नीचे उतर रहा था, जयन्त ने उसे आवाज़ दी:

"ज़रा सुनिये तो!"

शशि रुक गया। घूम कर बोला:

"कहिए।"

"घर का काम-धंधा करने और बाज़ार से सौदा-सुलुफ़ लाने के लिए मुझे एक आदमी की ज़रूरत है। क्या आप किसी की सिफारिश कर सकते हैं?"

शशि की आंखों के सामने शून्यचित्त का चित्र घूम गया जो सुशील के मुँह से खाना अलग बनाने तथा मकान बदलने की बात सुन कर ज़मीन कुरेदने लगता था, और शशि के पास आकर खोए हुए स्वर में कहता था :

"मेरा अब क्या होगा ?"

जयन्त की बात सुन कर शशि को जैसे मुँह मांगी मुराद मिल गई। बोला :

"हां है, शून्यचित्त उसका नाम है।"

शून्यचित्त को उन्होंने रख लिया। इसके बाद जब भी वह शशि से टकराते, तभी कहते :

"बहुत अच्छा आदमी दिया है आपने। लेकिन मालूम होता है कि आप हम से नाराज़ हैं। इतनी बार अनुरोध किया, लेकिन आप एक बार भी हमारे यहां नहीं आये। सोमा भी आप से मिलने के लिए उत्सुक है। आइये न, आज सांझ की चाय हमारे यहां ही सही।"

शून्यचित्त भी उनसे प्रसन्न था। कहने लगा :

"जयन्त बाबू बहुत अच्छे हैं, और सोमा बहूजी उन से भी अच्छी हैं। मुझे बेटे की तरह मानती हैं। कहती थीं, देहात जाकर अपनी बहू को क्यों नहीं ले आता ?"

शून्यचित्त बहुत ही साफ़-सुथरे और नए कपड़े पहने था। चेहरे से उदासी का वह नक़ाब भी अब उतर गया था जो उसके चेहरे को अकसर ढके रहता था।

"क्यों," शशि ने पूछा—"सोमा बहूजी के सिरहाने बैठ कर उनसे तो तुम मज़ाक नहीं करते ? कहीं ऐसा न हो कि जयन्त बाबू भी सुशील बाबू की भांति नाराज़ हो जाएं और तुम्हें........"

"नहीं, सोमा बहूजी ऐसी नहीं हैं," शून्यचित्त ने कहा।

शशि कुछ देर चुप रहा। फिर बोला :

"और यह तोड़ा प्रेत क्या बला है ? लोग कहते हैं कि सोमा बहूजी के सिर तोड़ा प्रेत आता है ?"

"हां, कभी-कभी बहूजी को अजीब दौरे आते हैं," शून्यचित्त ने कहा: "वह अपने कपड़े फाड़ डालती हैं, नंगे-उघाड़े का उन्हें कुछ होश नहीं रहता, जयन्त बाबू को बहुत जली-कटी सुनाती हैं। जब कभी ऐसा होता है तो जयन्त बाबू भी अपने आपे में नहीं रहते। बेंत लेकर बहूजी को बुरी तरह मारते हैं। एकाध बार मैंने रोकना चाहा तो कहने लगे:

"तुम चुप रहो। देखते जाओ, यह त्रिया-चरित्र अभी दो मिनट में उतर जाता है।"

इसके बाद भी जब मैं उन्हें रोकने की कोशिश करता, और कहता कि बहूजी के चोट लगती होगी तो वह कहते:

"नहीं, बहूजी के नहीं, चोट तोड़ा प्रेत के लगती है।"

शशि चुप-चाप सुन रहा था। कुछ ठहर कर शून्यचित्त ने फिर कहा:

"यह तोड़ा प्रेत भी पूरा ज़ालिम है। एक बार वह आया तो बहूजी ने अपने सारे कपड़े तार-तार कर डाले और सख्त ठण्ड पड़ते हुए भी नल के नीचे जा खड़ी हुईं। रह-रह कर वह चीख उठतीं, और उनका बदन इस तरह बल खाता मानो किन्हीं अदृश्य कोड़ों की मार उनके बदन पर पड़ रही हो। देखते-देखते उनके बदन पर नीली धारियाँ उभर आईं। जयन्त बाबू ने जब यह देखा तो बेंत उनके हाथ से छूट कर नीचे गिर गई, और उन्हें साहस न हुआ कि वे उस पर हाथ उठाएं!"

शशि का हृदय क्षुब्ध हो उठा और उसे ऐसा मालूम हुआ मानो यह तोड़ा प्रेत उसके पति जयन्त की ही एक विकृत और प्रलम्बित छाया है और सोमा के बदन पर उभर आने वाली नीली धारियाँ बेंत की उस मार के ही निशान हैं जो अनगिनती बार सोमा पर पड़ चुकी है।

"और शशि बाबू," शून्यचित्त कह रहा था—"आप की ही तरह सोमा बहूजी ने भी आन्दोलन में हिस्सा लिया था। कई बार लाठियों की मार खाई और एक बार तो बाल-बाल ही बचीं,—गोली सनसनाती हुई आई और सांय-से कान के पास से निकल गई। अगर लग जाती तो...."

"तो सोमा को मुक्ति मिल जाती," शशि ने कहा—"घर से बाहर

विदेशी सरकार द्वारा लाठियों की वर्षा, और घर के भीतर स्वदेशी पति-द्वारा बेंतों की वर्षा,—तिस पर तुर्रा यह कि इसे तोड़ा प्रेत का उत्पात कहा जाता है !"

शशि की बात का शून्यचित्त के हृदय पर कोई असर नहीं पड़ा। जयन्त बाबू और सोमा बहूजी दोनों पर ही वह मुग्ध था और उन्हें सचमुच में अच्छा मानता था। रही तोड़ा प्रेत अथवा किसी देवी-देवता के सिर आने की बात, सो यह भी उस के लिए कोई अनहोनी घटना नहीं थी। देहात में इस तरह की अनेक घटनाएँ वह देख चुका था और देवी-देवता अथवा मुर्दे सिद्ध करने के अनेक किस्से सुन चुका था।

"नहीं, शशि बाबू," शून्यचित्त ने कहा—"जयन्त बाबू और सोमा बहूजी दोनों बहुत अच्छे हैं। मेरी बात का यकीन न हो तो खुद मिल कर देख लो। वे तुम्हारे बारे में खूब जानते हैं...."

"मेरे बारे में ?" शशि ने बीच में ही पूछा।

"हाँ, तुम्हारे बारे में," शून्यचित्त ने कहा—"मैं जब भी तुम्हारा ज़िक्र करता हूँ तो वे बड़े चाव से सुनते हैं और कहते हैं कि अपने शशि को यहां क्यों नहीं लाते ? सच, उन से तुम जरूर मिलो !"

"अच्छी बात है" शशि ने कहा—"मैं उन से मिलूँगा।"

आख़िर एक दिन शशि उनके यहाँ पहुँचा, और सोमा की एक अद्भुत छाप उसके हृदय पर पड़ी।

छोटे-से, बहुत ही साफ-सुथरे और करीने से सजे कमरे में वे बैठे थे : जयन्त, सोमा और शशि। लाल साड़ी और लाल ब्लाउज और लाल गाल,—सोमा पूरी गुले लाला बनी हुई थी। ऐसा मालूम होता था मानो दुनिया-भर की समूची लाली उसी ने बटोर ली हो।

शशि को सोमा की इस लाली ने अभिभूत कर लिया।

जयन्त ने सिगरेट सुलगा कर दियासलाई की डिबिया मेज़ पर रख दी। सोमा ने वह डिबिया उठा ली, धीरे से उसे खोला, एक तीली निकाली, उसे जलाया और जब तक समूची तीली जल नहीं गई, उसे हाथ में पकड़े हुए

जलती लौ की ओर देखती रही। इस से पहले कि लौ उसकी उंगलियों का स्पर्श करती, उसने उसे राख-दानी में छोड़ दिया।

इस तरह, एक-एक करके, डिबिया की सारी तीलियाँ उसने जला डालीं।

लौ की रोशनी में उसके गालों, साड़ी और ब्लाउज़ की लाली और भी चमक उठी। शशि को ऐसा मालूम होता मानों वह सरापा लपट हो। उसे लगा मानो कोई सोमा मामूली स्त्री नहीं है,—या तो वह सारी दुनियाँ में आग लगादेगी, या खुद जल मरेगी !

सोमा का पति जयन्त भी शशि को अच्छा लगा। उसके साथ उसकी खूब पटती, और वह अपने तथा अपनी पत्नी के बारे में कभी-कभी इस हद तक खुल कर बातें करता कि शशि अचकचा जाता।

एक दिन शशि ने उस से पूछाः

"क्या सोमा के कोई सन्तान नहीं हुई ?"

वह बोला :

"जब वह आई-आई थी तो काफ़ी ज़रखेज़ मालूम होती थी। साल-भर के भीतर ही एक बच्चा हो गया। लेकिन वह दो साल का होकर मर गया। इसके बाद ज़मीन कुछ इतनी बंजर हो गई कि बहुत ज़ोर मारने पर भी अंकुर फूट कर नहीं दिया !"

बात ठीक थी। बिल्ली के बिलौटों और पिल्ली-पिल्लों के बदले गोद में एक जीता-जागता खिलौना पाकर सोमा की खुशी का वारापार नहीं था। बड़े प्रेम से उसने इस खिलौने का नाम रखा मुरली और अपने इस मुरली की धुन को, उसकी किलकारियों को, जब वह सुनती तो उसे दीन-दुनिया की कुछ सुध न रहती।

सोमा और अपने विवाह का ज़िक्र करने के बाद उसने कहा :

"सुहाग रात के दिन जब पहली बार मैंने उससे छेड़-छाड़ शुरू की तो वह बहुत बिदकी और खूब लाल-पीली हुई। लेकिन उसके बिदकने और लाल-पीले होने ने आग में घी की आहुति का काम किया। मैं समझा, यह बिदकना भी स्त्रियों के पेटेंट अभिनय की एक विशेषता है जो उनके सौन्दर्य

को और भी चरपरा बना देता है। अन्त में जब उस गन्दी हरकत की नौबत आई जिसके बिना विधाता की सृष्टि नहीं चलती तो वह बुरी तरह झुँझला उठी। गुस्से में भर कर और अपनी बड़ी-बड़ी काली आंखों से आंसू बहाते हुए बोली :

"क्या इसी तरह मिट्टी पलीद करने के लिए तुमने मुझ से विवाह किया था ?"

शशि ने एक बार सिर उठाकर सोमा के पति के चेहरे की ओर देखा, और फिर अपनी गरदन झुकाली। वह कह रहे थे :

"मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि मोती की सार्थकता सीप में बंद रहने में नहीं, बल्कि बिंधकर गले का हार बनने में है, लेकिन उसके हृदय से छी-छी और घृणा की वह भावना दूर होकर न दी। जब भी मैं उसे छेड़ता वह फनफनाना शुरू कर देती, और कभी-कभी तो जंगली बिल्ली की भांति नोंचने-खरोंचने तथा अपने कपड़े तक फाड़ने लगती !"

इसके बाद साल-भर के भीतर ही इन गंदी हरकतों के फल-स्वरूप जब सोमा की गोद में एक जीता-जागता खिलौना आ गया तो छी-छी की वह भावना भी बहुत कुछ दब गई। पति ने सोमा की ठोड़ी में हाथ डाला और उसे कुछ ऊपर उठाते हुए बोला :

"देखा तुमने, मैं कहता न था कि कमल कीचड़ में ही खिलता है !"

लेकिन विधाता कोई दूसरा ही खेल रच रहे थे। उनसे सोमा का यह सुख देखा नहीं गया। मुरली एकाएक बीमार पड़ा,—मानो उसे कोई हवा लग गई हो, और चौबीस घन्टों के भीतर चल बसा।

सोमा को जैसे काठ मार गया। वह समझ नहीं सकी कि यह क्या हो गया। उसका जीवित स्पर्श वह अब भी अनुभव करती, उसकी मधुर किलकारियाँ उसे अब भी सुनाई देतीं, और कल्पना में वह उसे और भी सजीव रूप में देखती,—पहले से भी ज्यादा सजीव रूप में !

सोमा का यथार्थ से, अपने चारों ओर के वास्तविक जीवन से, नाता टूट गया। वह रेखा मिट गई जो कल्पना को यथार्थ से अलग करती है।

जो कोई भी उसके यहाँ आता, उसी से वह मुरली की बातें करती कि वह ऐसा था, इस तरह चलता था, इस तरह एक टक टुकुर-टुकुर देखता रहता था, और सोते-सोते न जाने किन मीठे स्वप्नों में खोया मुसकराता रहता था।

फिर वह दिनों महीनों और वर्षों का हिसाब लगा कर बताती कि अब वह इतना बड़ा हो गया होगा। मुरली की प्रत्येक गति-विधि से जैसे वह परिचित थी। अपनी आंखों के सामने जैसे वह उसे प्रतिक्षण बढ़ता और बड़ा होता देखती थी। सोमा को लगता कि वह मरा नहीं है। जीवन के इस घिनौनेपन और गंदगी से दूर उसकी किसी सखी के यहाँ वह रह रहा है।

शशि ने यह सब सुना और सोमा के हृदय की गहरी वेदना ने उसे अभिभूत कर दिया। सोमा के पति भी कुछ कम परेशान न थे। वह कह रहे थे :

"मुरली की मृत्यु के बाद सोमा के हृदय में उस छी-छी ने एक बार फिर ज़ोरों से सिर उभारा। उसे छेड़ना या उस से प्रेम की बात करना तो दूर, कभी-कभी तो यहाँ तक बात बढ़ती कि वह मेरी शक्ल देख कर ही भन्ना जाती। इसी के साथ-साथ उसके दिमाग़ पर एक धुन और सवार हो गई, वह यह कि किसी एक मकान में कुछ दिन रहने के बाद उसे ऐसा लगता मानो वह मकान गन्दा है, वह मोहल्ला गन्दा है, उस मोहल्ले में रहने वाले गन्दे हैं, और वह उस समय तक चैन न लेती जब तक कि वह मकान, मोहल्ला, और अड़ौसी-पड़ौसी न बदल दिये जाते। उसकी इस धुन के पीछे मुझे इतने मकान बदलने पड़े कि नगर का शायद ही कोई मकान-दार ऐसा हो जिसके सामने मुझे हाथ-पाँव न जोड़ने पड़े हों!"

जयन्त कहते-कहते रुक गया, एक बार शशि के चेहरे पर नज़र डाली और फिर हाथ उठा कर हथेली से अपने माथे और आंखों को पोंछा—इस तरह मानो आंखों पर जमा धुंध साफ़ कर रहा हो। इसके बाद बोला :

"यों तो हर स्त्री को अपने पति से शिकायत होती है। चाहे गंगा-जली उठा कर क़सम क्यों न खाओ, लेकिन वह कभी यह विश्वास न करेगी

कि उसका पति किसी अन्य स्त्री पर डोरे नहीं डालता। ऐसा मालूम होता है मानो खुद ब्रह्मा ने उनके रक्त में यह चीज़ शामिल कर दी हो। लेकिन सोमा ने तो सभी को मात कर दिया। मुझे किसी ऐसी जगह ले जाकर वह रखना चाहती जहाँ उसके सिवा अन्य कोई स्त्री न दिखाई दे,—हर घड़ी मेरा सुधार-ही-सुधार होता रहे!"

अन्त में वह बोला :

"इसी को कहते हैं कि आ बैल, मुझे मार! आदमी कुछ न करना चाहे तो भी करने लगे,—अगर और किसी लिए नहीं तो अपनी पत्नी को चिढ़ाने के लिए ही!"

जयन्त को यह अच्छा नहीं लगता था कि सोमा एक जगह जमकर नहीं रहती। एक-एक करके सोमा के अनेक किस्से वह सुना गया। बचपन के बिल्ली-बिलौटों की भांति वह अपने पति को भी घेर-घार कर रखना चाहती, जब इसमें सफल नहीं होती तो कभी मोहल्ले के पुरुषों पर झुँझला उठती और कभी स्त्रियों पर। उसे ऐसा मालूम होता मानो मोहल्ले की सभी स्त्रियाँ उसके पति का पतन करने पर उतर आई हैं। साथ ही वह उनके पतियों को भी घसीट लेती कि वे अपनी स्त्रियों को संभाल कर नहीं रखते!

पास-पड़ौस की स्त्रियों से अनेक बार वह झगड़ा भी कर बैठती। सोमा उन्हें दोष देती, और वे सोमा को। अच्छा-खासा विवाद उठ खड़ा होता और किसके पति ने किसको बिगाड़ा है, इस बात का अन्तिम निर्णय होने से पहले ही मकान बदलने की नौबत आ जाती।

इस तरह मकान बदलते-बदलते ही तोड़ा प्रेत सोमा के पीछे लग-गया। संयोग की बात, एक बार वह ऐसा मकान देखने गई कि सोमा का हृदय ग्लानि से भर गया। उसकी बुरी हालत हो गई और वह उलटे पाँव वह लौट आई। घर लौटने के बाद जब वह कुछ स्वस्थ हुई तो उसे ध्यान आया कि अपने जूते वह उसी घर में छोड़ आई है। नौकर को भेज कर उसने अपने जूते मंगवाए। जूतों के घर आते ही सोमा पर फिर वही ग्लानि सवार हो गई।

कहते हैं कि उन जूतों में बैठ कर ही तोड़ा प्रेत सोमा के घर आगया और इसके बाद उसने उसका पीछा नहीं छोड़ा ।

: ७ :

जयन्त जब भी सोमा के बारे में बातें करता तो ऐसा मालूम होता मानो गिरह या उलझन का स्रोत केवल सोमा में ही निहित हो । अपने हृदय के प्रत्येक उभार, जोड़-तोड़ और उलट-फेर को वह सहज-स्वाभाविक समझता और एक क्षण के लिए भी यह अनुभव नहीं करता कि अटपटापन केवल सोमा में ही नहीं, खुद उसमें भी हो सकता है । अपने इस अटपटे-पन को अगर भूले-भटके वह कभी अनुभव करता तो उसका कारण भी वह सोमा में ही खोजता ।

शशि जयन्त की बातों को चुपचाप सुनता और उसकी बातों की कसौटी पर सोमा के बजाय खुद उसे ही कसने की कोशिश करता ।

इस तरह वह साफ़ देखता कि जयन्त के हृदय में सैलानीपन की मात्रा कुछ कम नहीं है । दूसरे शब्दों में यह कि वासना के क्षेत्र में जितनी तेज़ी से वह दौड़ता या कुलाँचें भरता था, उतनी तेज़ी सोमा में नहीं थी । अथवा यों कहिये कि जीवन की गंदगी से जितना अधिक वह अभ्यस्त था, उतना सोमा नहीं, और सच तो यह है कि वह अभ्यस्त होना भी नहीं चाहती थी। वह सोमा को अपने साथ घसीटना चाहता, और सोमा उसका विरोध करती।

सोमा को बहलाने-फुसलाने और उसे अपने आगे झुकाने के लिए कभी वह बाक़ायदा मिश्री घोलता और कभी त्यौरियों में खूब बल डालता। दोनों ही चीज़ों का वह सहारा लेता : मार का भी और प्यार का भी ।

पहली सन्तान की मृत्यु का सोमा के हृदय पर गहरा आघात लगा । वह बहुत उदास रहती, अपने पति की ओर नज़र उठाकर भी न देखती, और हर घड़ी अपने मुरली के बारे में ही सोचती ।

सोमा के दुःख को भुलाने और उसे खुश करने के लिये इस दौर में पति ने अनेक प्रयत्न किये ।

सोमा की वर्ष गाँठ निकट आ रही थी । पति ने इस अवसर पर सोमा

को कोई उपहार देने का निश्चय किया। उपहार के बारे में उसने सोमा से कुछ नहीं कहा, कहना चाहता भी नहीं था। पूर्व सूचना दिए बिना ही ऐसा कोई अनुपम उपहार वह सोमा को देना चाहता था जिसे देख कर वह खुश हो जाए।

रात को देर-देर तक जाग कर उपहार के बारे में सोमा का पति सोचा करता। उपहार के लिए रोज़ बाजार के चक्कर लगाता। लेकिन ऐसी कोई चीज़ नहीं दिखाई देती जो मन पर चढ़ सके। एकाध चीज़ अगर पसन्द आ भी जाती तो वह निश्चय नहीं कर पाता कि सोमा को भी वह अच्छी लगेगी या नहीं।

दिन इसी दुविधा में बीत रहे थे और सोमा की वर्ष-गाँठ निकट आती जा रही थी। उसे यह बड़ा बुरा लगता कि अब तक कोई भी उपयुक्त चीज़ उसके हाथ नहीं लगी। दफ्तर का काम भी उपहार की चिन्ता में उलझ कर अधूरा रह जाता।

एक दिन दफ्तर की फाइलों पर झुका उपहार की चिन्ता में वह डूब-उतर रहा था कि पास के अन्य बाबुओं की बातें उसके कानों में पड़ीं। दफ्तर के बड़े साहब की विलायती कुतिया ने बच्चे दिए थे। इन बच्चों में से एकाध पर किस प्रकार हाथ साफ किया जाय, इसी को लेकर उनमें बातें चल रही थीं।

उनकी बातें सुन कर सोमा के पति का मन हरा हो गया। उसने सोचा कि सोमा के लिए इससे अच्छा और कोई उपहार नहीं हो सकता। साहब सोमा के पति से खुश थे ही। विलायती कुतिया का बच्चा पाने में उसे विशेष कठिनाई नहीं हुई।

वर्ष-गांठ के दिन पति ने सोमा को उसी का उपहार भेंट किया। मुरली के घाव की वेदना को हल्का करने के लिए सोमा के हृदय को वह हर समय गुदगुदाते रहना चाहता। इसीलिए उसने विलायती कुतिया के बच्चे का नाम भी टाम-जैक-हैरी न रख कर मुरली ही रखा।

कुत्ते के बच्चे को पति खूब खिलाता। कभी-कभी कड़ियों तक उछाल

कर उसे अपने हाथों में लपक लेता। उसे लेकर अच्छी-खासी कन्दुक-क्रीड़ा करता। थक जाने पर उसके मुँह पर हल्की-सी चपत मार कर कहता :

"जा, अब अपनी मां के पास जा!"

सोमा की गोद में बच्चे को छोड़ कर पति फिर अपने कमरे में चला जाता। सोमा की करुण आंखें पति का पीछा करती रहतीं। जैसे-जैसे समय बीतता जाता, सोमा का यह विश्वास और भी दृढ़ होता जाता कि उसका मुरली वास्तव में भगवान् का ही प्रसाद था। उसके पति अथवा अन्य किसी मानवीय शक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह मुरली के रिक्त स्थान की पूर्ति कर सके।

पति भी मन ही-मन सब समझता, सोचता कि अभी मुरली का घाव ताज़ा है। समय बीतने पर सब ठीक हो जायेगा। जब तक ठीक न हो, सोमा के घाव की वेदना को भुलाने के लिए जो भी उससे बनता, वही वह करता। लेकिन मुरली का वह घाव था कि भर कर ही नहीं दिया। समय के साथ-साथ वह और भी हरा होता गया।

रात का समय था। सोमा का पति पड़ा सोच रहा था कि पता नहीं सोमा को क्या हो गया है। जो कुछ भी वह करता है, सब ओछा पड़ता है। प्रयत्न करने पर भी मुरली की धुन से सोमा का पीछा नहीं छूटता। इस धुन ने कुछ इस हद तक सोमा को जकड़ लिया है कि उसके सामने और कोई धुन उसे सुनाई नहीं देती।

एकाएक उसे ध्यान आया कि मुरली को उत्पन्न हुए इतने दिन हो गये। उसके बाद और कोई बालक नहीं हुआ। वह भी कैसा है जो मूल बात को न पकड़ कर अब तक इधर-उधर की बातों में ही समय बरबाद करता रहा।

जितना ही अधिक सोमा का पति इस बारे में सोचता, उतना ही अधिक उसका यह विश्वास दृढ़ होता जाता कि सोमा का घाव इसी लिए नहीं भरा है। यदि एक बार फिर उसे किसी प्रकार मां बनाया जा सके तो बड़ा अच्छा हो।

सोमा के सामने भी उसने इस प्रस्ताव को रखा, लेकिन सोमा ने कोई ध्यान नहीं दिया। ध्यान ही नहीं दिया, वरन् इस तरह का प्रस्ताव करनेवाले अपने पति पर उसे दया भी आई। सोमा के लिए जैसे यह कल्पनातीत था कि उसके मुरली की पूर्ति किसी मानवीय शक्ति के द्वारा हो सकती है।

सोमा के पति को यह अच्छा नहीं लगा कि उसका प्रस्ताव इस प्रकार दयनीय दृष्टि से देखा जाय। उसके हृदय में कुछ इस प्रकार की आशंका भी घर कर चली कि कहीं उसी में तो कोई कमी नहीं है। यदि और किसी लिए नहीं तो इस आशङ्का की पूर्ति के लिए ही वह यह चाहता कि सोमा की गोद एक बार फिर से हरी-भरी दिखाई पड़े।

अपनी इस इस इच्छा की पूर्ति वह करना चाहता,—हो सके तो सोमा को कोई ठेस पहुँचाए बिना, यह भी सम्भव न हो तो ठेस की सीमा को भी पार कर लिया जाए। नतीजा इसका यह कि आगे चल कर उसने सोमा की भावनाओं को रौंदना शुरू कर दिया। लेकिन व्यर्थ। जितना ही अधिक वह सोमा पर आघात करना चाहता, उतना ही अधिक सोमा उससे विमुख होती जाती !

बस यहीं नहीं हुई। सोमा का पति और भी आगे बढ़ चला। सोमा के हृदय पर गहरी चोट लगी उस समय जब उसने देखा कि उसका पति, ठीक उसकी आंखों के सामने ही, चौका-बरतन करने वाली महरी तक से छेड़-छाड़ करने में नहीं चूकता।

सोमा के पति के पतन अथवा गलत ढंग से अपनी झुँझलाहट उतारने का यह तो प्रारम्भ मात्र ही था। जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वह और भी आगे बढ़ता गया। सोमा के हाथ-पांव वह खम्बे से बांध देता, और उसके सामने ही इधर-उधर की आवारा स्त्रियों को लाकर पूरी नग्नता का प्रदर्शन करता।

मुरली की धुन के अतिरिक्त और कोई धुन भी हो सकती है, प्रतिशोध के साथ जैसे वह यह दिखाना चाहता।

न-जाने कहाँ-कहाँ से वह निम्न स्तर की स्त्रियों को पकड़ लाता और खूब गंदगी उछालता। लाने को तो वह उच्च स्तर की स्त्रियों को भी लाता, लेकिन इसके लिए न उसके पास उपयुक्त साधन था, न पैसा। या फिर यह कि सोमा को कोंचने के लिए निम्न स्तर की स्त्रियाँ जितनी कारगर हो सकती थीं, उतनी उच्च स्तर की नहीं।

सोमा के पति का यह ताण्डव समाप्त हुआ तोड़ा प्रेत के आने पर। अब वह थे, सोमा थी, और तोड़ा प्रेत था!

: ८ :

तोड़ा प्रेत के आने पर सोमा की विचित्र दशा हो जाती। उसे लगता कि जैसे सारा घर गंदा हो गया है—घर से अधिक वह स्वयं गंदी हो गई है। तोड़ा प्रेत के दर्शन करने के बाद वह अपने कपड़ों को समेट कर चलती। घर की दीवारों तक को छूने का उसे साहस नहीं होता। इसके बाद वह घंटों ठन्डे पानी से नहाती। सारे घर को धोती। सफाई-धुलाई के इस काम में बहुधा समय पर वह खाना भी नहीं बना पाती, और पति को बिना खाना खाए ही अपने काम पर चले जाना पड़ता।

तोड़ा प्रेत जो कुछ कहता, वही वह करती। घर से बाहर, किसी की ब्याह-शादी अथवा अन्य किसी कारज में भी, तोड़ा प्रेत की अनुमति पाये बिना वह सम्मिलित न होती। कपड़ों के बारे में भी तोड़ाप्रेत बहुत सतर्क रहता। काली किनारी की धोती से उसे चिढ़ थी। लाल रंग से उसे अत्यधिक प्रेम था। कभी-कभी सोमा के बदन पर वह एक भी कपड़ा नहीं रहने देता।

सिवा अपने और किसी के अस्तित्व को तोड़ा प्रेत स्वीकार नहीं करता। उसके दबाव में आकर सोमा अपने पति का तीव्र विरोध करती,—मानो वह पति न होकर कोई आवारा था जो मौका पाकर भले घर में घुस आया हो। ऐसी-ऐसी बातें वह अपने पति को सुना जाती कि कहते नहीं बनता। पति को घर से बाहर निकालने के लिए उसे दरवाजे से बाहर तक खदेड़ आती।

तोड़ा प्रेत के चले जाने पर पति सोमा को जब सारा विवरण सुनाता तो वह फूट-फूट कर रोने लगती, आँसुओं के इस सागर में पति डूबने-उतरने लगता।

कुछ भी उसकी समझ में न आता कि वह इन आँसुओं का क्या करे जो रुकने में ही नहीं आते। पति के लिए सोमा के ये आँसू तोड़ा प्रेत से भी अधिक भारी पड़ते।

किसी के विवाह में पति को एक वार जाना था। सोमा को भी वह अपने साथ ले जाना चाहता था। सोचता था, उसका जी बहल जाएगा, लेकिन तोड़ा प्रेत ने सोमा को घर से बाहर नहीं निकलने दिया। निराश हो, अकेले ही उसने घर से प्रस्थान किया।

विवाह से वापिस लौटने के बाद पति ने जब घर में प्रवेश किया तो सोमा की विचित्र अवस्था थी। सिर उसका घुटा हुआ था। विधवाओं-जैसी सफ़ेद कोरी धोती वह पहने थी। पति के घर में आते ही उसके पैरों पर गिर कर रोने लगी। हिचकियों के बीच उसके मुंह से शब्द निकले :

"तुम्हारे पीछे मुझसे बड़ा भारी अपशगुन हो गया। जाने मुझे क्या हो गया था कि अच्छा बुरा कुछ भी मैं नहीं समझ सकी!"

सोमा के इस अपशगुन को दर-गुज़र करने में पति को विशेष कठिनाई नहीं हुई, लेकिन सोमा के आँसुओं को वह नहीं सह सका। सोमा की दशा ठीक इससे विपरीत थी। अपशकुन की कटु स्मृति को वह जैसे आँसुओं से धो डालना चाहती थी। आँसुओं को वह स्वीकार कर सकती थी, अपशकुन को नहीं।

स्वयं मर कर भी पति तोड़ा प्रेत की व्याधा से सोमा को मुक्त करना और कराना चाहता। इसके लिए उसने बहुत कुछ दौड़ धूप की। सुफ़ेद सूटेड-बूटेड डाक्टरों से लेकर तिलक-धारी वैद्य-पण्डितों की सहायता तक उसने ली। जब किसी तरह छुटकारा न मिला तो अन्त में एक अघोरी के सामने जाकर उसने हाथ-पाँव जोड़े। तोड़ा प्रेत को भगाने के लिए ढाई सौ रुपये का काग़ज लिखकर उसे दे दिया।

लोहे की एक लम्बी छड़ उसके हाथ में रहती। पति सोमा के दोनों हाथ पकड़ता और अघोरी तोड़ा प्रेत को लक्ष्य कर लोहे की छड़ से सोमा को मारता। अधूरे वाक्य वह बोलता, और सोमा के मुँह से अस्फुट ध्वनियाँ,—

शब्द भी उन्हें कह सकते हैं—निकलते।

अपने अधूरे वाक्यों को सोमा के मुंह से निकली अस्फुट ध्वनियों के साथ जोड़ कर अघोरी उन्हें पूरा कर लेता, और इस तरह तोड़ा प्रेत की एक रूप-रेखा तैयार हो जाती। सप्ताह में दो बार यह अघोरी काण्ड चलता।

लोहे की छड़की मार पड़ने पर कभी तो सोमा जंगली जीव-जन्तुओं को देखती और कभी उसे कुछ भी दिखाई नहीं देता,—उसकी आँखों के सामने अंधेरा-सा छा जाता। अघोरी कहता :

"तोड़ा प्रेत ने सोमा की दृष्टि को अवरुद्ध कर दिया है।"

इसके बाद लोहे की छड़ का पहले से कहीं अधिक प्रबल प्रहार करते हुए अघोरी पूछता :

"अब कुछ दिखाई पड़ता है ?"

सोमा की आँखें इसके बाद जलमय हो जातीं— नहीं, उसे दिखाई पड़ता कि चारों ओर जल-ही-जल फैला हुआ है। अघोरी के प्रश्न करने पर फिर वह देखती कि जल में एक मगर तैर रहा है। इसके बाद उसे किसी की लाश तैरती दिखाई पड़ती और वह मगर उस लाश को समूचा निगल जाता !

अघोरी कहता कि वह तोड़ा प्रेत की लाश थी। मगर उसे निगल गया है, और अब वह नहीं आ सकता। लेकिन सोमा को कुछ और ही दिखाई देता। वह देखती कि जल में बहती जिस लाश को मगर निगल गया है, वह उसके मुरली की लाश थी।

भय से वह चीख़ उठती।

सोमा की चीख़ सुनकर अघोरी कहता :

"बस-बस, हो गया। तोड़ा प्रेत को मैंने जला डाला है। सुना नहीं आपने, अभी किस बुरी तरह चीखा था !"

: ६ :

चेतना-विहीन अथवा दिशा-भ्रष्ट विद्रोह की भांति तोड़ा प्रेत दोहरी मार करने वाला अस्त्र था,—शिकार के साथ-साथ शिकारी पर भी वह

पलट कर वार करता था।

जाड़ों के दिन थे। सुबह का समय। सोमा स्नान करने के लिए गई थी। एक घंटा से ऊपर हो गया। स्नान घर से नहीं निकली। पति को दफ्तर जाने में देर हो रही थी। बेंत हाथ में उठाई। स्नान-घर में पहुँचा। देखा, सोमा नल के नीचे नंगी खड़ी है।

पति ने नल के नीचे से हटने को कहा। तोड़ा प्रेत ने मना किया। सोमा दुविधा में पड़ गई। पति का हाथ, मज़बूती से बेंत को थामे, बल खा रहा था,—नहीं, उठना ही चाहता था कि तोड़ा प्रेत के अदृश्य कोड़ों की मार सोमा पर पड़ने लगी। सारा बदन नीली धारियों से घिर गया।

पति का हाथ उठा-का-उठा रह गया। बेंत हाथ से छूट कर नीचे जा गिरी। इसके बाद पति ने बेंत को फिर नहीं उठाया,—उठाया भी तो उसके दो टुकड़े कर घर से बाहर फेंकने के लिए।

तोड़ा प्रेत ने पति को निरस्त्र कर दिया।

यह तो तोड़ा प्रेत का पहला क़दम था। इसके बाद उसने दूसरा, और फिर तीसरा डग भरा, जो कि उसका अन्तिम डग था।

पतित्व और अचल सुहाग के जितने भी चिन्ह होते या हो सकते थे, उन सभी पर तोड़ा प्रेत ने पानी फेर दिया। उसका पति किसी विवाह में शामिल होने गया और उसके पीछे सोमा ने अपनी मांग का सिन्दूर पोंछ डाला, सिर घुटवा लिया और कांच की चूड़ियाँ फोड़ डालीं।

यह तोड़ा प्रेत का दूसरा डग था। इसके बाद........

जाड़ों के दिन थे। रात का तीसरा पहर। चारों ओर सोता पड़ा था। तभी सोमा उठी। उठकर इधर-उधर देखा। पति गहरी नींद में डूबा कुछ बुदबुदा रहा था। सोमा एक क्षण के लिए ठिठकी, फिर वहाँ से खिसक गई। ट्रंक खोल कर लाल रंग की साड़ी और लाल रंग का अपना ब्लाउज़ निकाला। माँग में सिन्दूर भरा। इसके बाद, यंत्रवत, रसोईघर में पहुँची। दियासलाई की डिबिया उठाई। अपने ऊपर मिट्टी का तेल छिड़का। डिबिया खोल तीली जलाई, लपटों ने उसे घेर लिया और सोमा, मरते-मरते भी, अचल सुहाग को

चल कर गई !

कुल-वधुओं ने—नहीं, पास-पड़ोस की बड़ी-बूढ़ियों और वैधव्य की आग में तिल-तिल करके जलने वाली विधवाओं ने—गरदन हिला-हिला कर उसके भाग को सराहा; कहा :

"पति के कंधों पर चढ़ कर सीधी स्वर्ग को वह जा रही है !"

× × × ×

सोमा की मृत्यु के तीसरे दिन उसके पति जयन्त ने शशि को बुलाया। शशि के पहुँचते ही बोला:

"आओ, बैठो। आज मैं तुमसे कुछ खास बात करना चाहता हूँ।"

शशि बैठ गया और बिना कुछ कहे जयन्त के चेहरे की ओर देखने लगा।

"सामने, सड़क के दूसरी ओर, कोका बाबा रहते हैं। उन्हें जानते हो न ?" जयन्त ने पूछा।

"हाँ", शशि ने कहा।

"मैं उनका 'डमी' हूँ।"

शशि की समझ में कुछ नहीं आया। बोला:

"इसका मतलब ?"

"मतलब यह कि कोका बाबा जितना अधिक बुढ़ाते जाते हैं, उनकी हविस भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। लेकिन उनका जर्जर शरीर इस हविस का साथ नहीं देता। इसलिए वह किसी युवक को अपना 'डमी' बना कर रखते हैं और अपनी पालकीनुमा कुर्सी में बैठे हुए खूब रस ले-लेकर, सारा कौतुक देखते रहते हैं। अन्त में मेरी पीठ थपथपाते हुए कहते हैं: "राष्ट्र को तुम्हारे जैसे युवकों की ज़रूरत है।"

शशि से रहा नहीं गया। राष्ट्र का इस रूप में उल्लेख उसे बड़ा बुरा मालूम हुआ। बोला:

"यह राष्ट्र बीच में कहाँ से आ कूदा ?"

"तुम कोका बाबा के बारे में अधिक नहीं जानते, इसीलिए ऐसा कहते

हो," जयन्त ने कहा—"सच तो यह है कि राष्ट्र के बिना कोका बाबा जी नहीं। सकते स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने जमकर हिस्सा लिया था और तिलक-फ़ण्ड के लिए रुपया जमा करने में भी वह सब से आगे रहे। कहते हैं कि वह रुपया उनके पास पहुँचते ही अचल हो गया। इसके बाद भारत-सेवक-समाज के आंगन में उन्होंने धूनी रमाई और अब........"

"और अब पूरे कोका बाबा बने हुए हैं", शशि ने बीच में ही वाक्य पूरा कर दिया।

"कोका बाबा तो खैर वह हैं ही," जयन्त ने अपनी बात के सिलसिले को जोड़ते हुए कहा: "इसके अलावा हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का नारा भी वह लगाते हैं और जब भारतीय संस्कृति के चारों ओर उन्हें खतरे के बादल मंडराते दीखते हैं तो हर घड़ी उनकी जान सूखती जाती है और शरीर छुहारा बनता जाता है।"

कुछ देर रुक कर जयन्त ने साँस लिया। फिर बोला:

"और कम्युनिस्टों के तो वह कट्टर दुश्मन हैं। कहते हैं कि अगर कम्युनिस्टों की चल गई तो वे स्त्रियों को—जो कि भारतीय संस्कृति की आधार शिला हैं—सार्वजनिक सम्पत्ति बना देंगे!"

"बस करो," शशि ने कहा—"क्या यही वह खास बात है जिसे सुनाने के लिए तुमने मुझे बुलाया था?"

"हाँ," जयन्त ने कहा—"मैं तुम्हें बताना चाहता था कि किस तरह उस आदमी की 'डमी' बनकर मैंने अपने और सोमा के जीवन को लपटों के हवाले कर दिया।"

शशि कुछ देर चुप रहा। फिर तेज़ निगाह से उसने जयन्त के चेहरे की ओर देखा। अन्त में बोला:

"तुम काफ़ी चतुर मालूम होते हो। कोका बाबा की ओट लेकर अपनी कमज़ोरी और अपने पाप पर पर्दा डालना चाहते हो,—क्यों?"

"नहीं," जयन्त ने कहा—"न मैं अपनी कमज़ोरी छिपाना चाहता हूँ, न मैं अपने पाप पर पर्दा डालना चाहता हूँ। कोका बाबा का 'डमी' मैं खास

मक़सद से बना था। मैं यह देखना चाहता था कि सोमा के जो फिर सन्तान न हुई, उसका दोष मुझ में है अथवा सोमा में। मैं सिद्ध करना चाहता था कि........"

"और यह सिद्ध करना ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य हो गया," शशि ने बीच में ही बात काट कर कहा—"अपने पतित्व या पुरुषत्व को सार्थक करने के लिए और कोई रास्ता तुम्हें नहीं सूझा,—दुनिया के सारे दरवाज़े तुम्हारे लिए बंद हो गये ?"

"ये सब बातें करना बेकार हैं," जयन्त ने कहा—"अब तो सारा खेल ही ख़त्म हो गया। न अब सोमा है, और न ही अब मैं कोका बाबा का 'डमी' हूँ।"

इसके बाद, एकाएक, जयन्त ने पूछा:

"तुम्हारा विवाह तो हो गया है न ?"

"हाँ," शशि ने कहा।

"तुम पत्नी को अपने साथ नहीं रखते ?"

"नहीं।"

"अगर मैं तुमसे कुछ कहूँ तो मेरी बात मानोगे ?"

शशि ने एक बार सिर उठाया और उड़ती हुई नज़र से जयन्त को देखा। फिर बिना किसी दुविधा के बोला :

"कहो,"

"कहो नहीं, वचन दो कि मेरी बात मानोगे ?"

"अच्छी बात है" शशि ने कहा—"मैं वचन देता हूँ।"

"मैं तुमसे केवल दो बातें चाहता हूँ," जयन्त ने कहा—"एक तो यह कि तुम पत्नी को सदा अपने साथ रखोगे, और दूसरे यह कि चाहे जो भी हो कभी उस पर हाथ नहीं उठाओगे।"

जयन्त से शशि की यह आख़िरी भेंट थी। इसके बाद, बराबर वाला मकान छोड़कर, वह न जाने कहाँ चला गया और फिर कभी दिखाई न दिया।

और शशि, उसे दिए हुए अपने वचन को पूरा करने के लिए, अपना बिस्तर गोल करने लगा।

खण्ड चार

गृहस्थी का रोमान्स

: १ :

अपने अस्थिर और अस्थायी जीवन में शशि ने एक ही स्थायी और स्थिर काम किया था। वह काम था विवाह। लेकिन इसका श्रेय शशि को इतना नहीं था जितना कि उसकी मां को। शशि के जीवन में स्थिरता लाने के लिए मां ने उसका विवाह किया था।

शशि की पत्नी का नाम था आशा जिसे वह, मुग्ध होने पर, 'एक्शा' भी कहा करता था। बात बहुत कुछ सच भी थी। आशा का सौन्दर्य मादकता और मुग्ध करने में 'एक्शा नम्बर वन' से किसी तरह भी कम नहीं था।

आशा की मां बचपन में ही मर गई थी। दो बहिनों और तीन भाइयों की गृहस्थी संभालने का भार उसी के कंधों पर आ पड़ा था। देखते-न-देखते घर के सभी कामों में वह दक्ष हो गई,—दूसरे शब्दों में यह कि विवाह होने से पहले ही वह एक कुशल गृहिणी बन गई।

बहिन-भाइयों की देख भाल करने और गृहस्थी की चक्की पीसने में ही आशा का बचपन—विवाह से पहले का जीवन—बीता था। सौन्दर्य उसके पास था, लेकिन मायके की गृहस्थी को संभालने में अपने सौन्दर्य का उपयोग करने का उसे कोई अवसर नहीं मिला था। वह यह तक नहीं जानती थी कि सुन्दर होना भी कोई चीज़ होती है। सौन्दर्य के महत्त्व और उसकी उपयोगिता का कुछ आभास आशा को मिला, उस समय जब शशि

की मां ने पहली बार उसे देखा। आशा के सौन्दर्य की निधि को देखकर ही शशि की मां ने उसे अपने घर की भावी लक्ष्मी तथा अपने लड़के के लिए इन्द्राणी-बहू के रूप में स्वीकार किया था।

शशि की मां ने उसे पसंद किया, यह आशा को अच्छा लगा, लेकिन आशा में और भी बहुत कुछ था जिसे पसंद किया जा सकता था। सौन्दर्य की ओर तो आशा का कभी ध्यान भी नहीं जाता था, और वह यह चाहती भी नहीं थी कि उसके वास्तविक मूल्य को न देखकर उसके सौन्दर्य को ही देखा जाए। लेकिन शशि की मां थी कि और कुछ देखने की उन्हें चिन्ता न थी। उनका वश चलता तो वह चौबीसों घंटे गुड़िया की भांति आशा का सिंगार किया करतीं। जब-तब आशा को वह कोंचा भी करतीं कि वह ढंग से रहना नहीं जानती। कहने-सुनने पर भी जब सौन्दर्य को संवार कर रखने के प्रति आशा की उपेक्षा में कमी नहीं पड़ती तो मां कहती:

"आखिर है तो गँवई-गाँव की रहने वाली न!"

शशि के जीवन को स्थिर बनाने, यह भी न हो तो उसे उलझाए रखने और अपने इस चयन में मां ने काफी सूझ-बूझ का परिचय दिया था। शशि के लिए पत्नी का चयन करते समय मां के सामने प्रमुख रूप से दो बातें थीं— एक तो यह कि वह सुन्दर हो, दूसरी यह कि वह बड़े घर की न हो।

आशा में ये दोनों ही बातें थीं। वह सुन्दर भी थी, और साथ ही अपने सौन्दर्य के प्रति गर्व भी उसमें नहीं था। जिस घर में उसने जन्म लिया था, उस पर गरीबी की छाया मंडरा रही थी और परिवार का प्रत्येक सदस्य, एक पिता को छोड़कर,—उस घर के लिए सहायक न होकर बोझ ही बना हुआ था।

घर का खर्च जैसे-तैसे पिता जिन्हें सब हे भगवान् करते थे, की मेहनत-मज़दूरी पर चलता था। कैसे चलता था, इसे आशा अच्छी तरह जानती थी। आशा के भाई बड़े हो गए थे, मगर वे अपने बड़प्पन का अनुभव नहीं करते थे। उन्हें आवारगी से ही फुरसत नहीं मिलती थी। एक पिता ही थे जो अंजर-पंजर ढीले होजाने पर भी हाड़-तोड़ परिश्रम करते थे।

पिता जी के कष्टों का आशा को जितना अनुभव था उतना भाई को नहीं। भाई को तो जैसे मटरगश्ती के सिवा और कोई काम नहीं था। पिता जी मरते हैं या जीते, घर का खर्च कैसे जुटता है, यह सब देखने समझने का उसे अवकाश नहीं था। दिन भर घर से बाहर रहता, और जब कभी घर पर आता तो नादिरशाही हुक्म चलाता हुआ।

खाना खाने के समय भी जैसे हाज़िरी देने के लिए वह घर आता था। भाई की इन हरकतों के प्रति आशा के हृदय में पहले तो घृणा ने जन्म लिया, फिर यह घृणा करुणा में परिवर्तित हो गई। आशा ने अनुभव किया कि मटरगश्ती में वह घर का ही नहीं, खुद अपना भी नाश कर रहा है। भाई को लेकर आशा के हृदय में अनेक आशङ्काएँ घर करने लगीं।

आशा अपने भाई को ठीक मार्ग पर लाना चाहती। उसका विश्वास पाने के लिए खुद भूखी रह कर भी वह उसके लिए, जहाँ तक बनता, अच्छा खाना बनाती। लेकिन भाई था कि उसका दिमाग़ सदा सातवें आसमान पर रहता। ज़रा-ज़रा बात को लेकर वह झुंझला उठता। घर में आता तो ठोकरें मारता हुआ। आशा के छोटे भाई-बहन इधर-उधर जो बरतन आदि छोड़ देते, उन्हीं की फुटबाल-सी वह खेलता।

आशा भाई की इस आदत को जानती थी, इस बात के लिए वह पहले से ही सदा सतर्क रहती थी कि कोई बरतन इधर-उधर फैला हुआ न रहे। घर को बटोर कर रखने की वह अभ्यस्त थी। जब कभी घर की किसी चीज़ को इधर-उधर बिखरी-फैली वह देखती तो एक प्रकार की अज्ञात-आशङ्का से कांप उठती।

घर के वातावरण को शान्त और स्थिर रखने की वह प्रत्येक चेष्टा करती। कब में वह बोलती, चलती या फिरती, इसका किसी को पता तक नहीं चलता। घर में रहते हुए भी जैसे वह घर में नहीं रहती थी।

भाई के उद्वेलन को शान्त रखने तथा एक गति विशेष प्रदान करने के लिए मन-ही-मन आशा अनेक जोड़ तोड़ लगाया करती। अपने मन को उभारे रखना चाहती। भाई खाने बैठता तो वह बड़े चाव से थाली परोसती।

लेकिन भाई था कि उसके मन पर कुछ नहीं चढ़ता। बहिन बड़े चाव से भोजन परोसती और भाई, परसी हुई थाली को, ठुकरा कर चल देता।

अन्न का यह अपमान देखकर आशा का हृदय कांप उठता। परसी हुई थाली पर नहीं, आशा के हृदय पर जैसे ठोकर लगती। चिन्ताग्रस्त पिता के सामने आने पर आशा की यह वेदना और भी घनीभूत हो उठती। रह-रह कर यही वह सोचती कि यदि भाई ढङ्ग से रहें तो घर की सारी मलिनता दूर हो जाए। पिता जी की चिन्ताओं का मुख्य कारण भी वह अपने भाई को ही समझती।

भाई को लेकर पिता जी भी चिन्तित रहते, लेकिन इससे भी अधिक चिन्तित रहते वह आशा को लेकर। आशा के विवाह की चिन्ता उन्हें बुरी तरह सताती। अपने लड़के को लेकर, सम्भवतः, वह कुछ निराश हो चुके थे और उसे लेकर अधिक चिन्तित होना अपने लिए वह आवश्यक भी नहीं समझते थे। पाल-पोस कर उसे इतना बड़ा कर दिया। अब वह जाने और उसका काम जाने।

अपने लड़के को लेकर उठनेवाली कर्त्तव्यों की शृङ्खला की प्रायः सभी कड़ियों को वह पार कर गए थे। केवल एक बात और थी जो रह गई थी,—लड़के का विवाह। लड़के के विवाह के बारे में वह कभी-कभी सोचते थे। कुछ न सोच सकने पर वह जीवन की इस स्थिति को भी स्वीकार कर लेते थे कि लड़के का विवाह न होगा तो न सही। अपने साथ-साथ पराये घर की लड़की का जीवन भी वह बरबाद करेगा!

पिता जैसे इस निश्चय पर पहुँच गए थे कि ऐसी अवस्था में लड़के का ब्याह करके वह पराये घर की किसी कन्या का अभिशाप अपने सिर पर नहीं लेंगे। लेकिन शशि की माँ उनकी कन्या आशा को देखकर जब बेतरह मुग्ध हो उठी तो आशा के पिता के हृदय में भी अपने लड़के का विवाह करने की भावना उमड़ने-घुमड़ने लगी। इसके बाद ही, तीन-चार परिवारों को मिला कर, अन्तर-पारिवारिक विवाह का चक्रजाल रचा गया।

: २ :

शशि जब कभी विवाह का विरोध करता तो माँ की आँखों के सामने आशा का सौन्दर्य मूर्त्त हो उठता। शशि के विरोध को माँ ने कभी भी गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। मन-ही-मन मुस्करा कर वह रह जातीं और उत्सुकतापूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा करतीं जब कि शशि का विरोध आशा के सौन्दर्य के सामने पानी बनकर बह जाएगा।

माँ ने ठीक ही सोचा था। शशि के लिए आशा 'एक्शा नम्बर वन' बनकर आई। वह था और आशा का सौन्दर्य था। आशा को यह अच्छा नहीं लगता था कि शशि उसके सौन्दर्य को लेकर इस तरह की खिलवाड़ करे। कभी-कभी आशा शशि की इस खिलवाड़ का विरोध भी करती। आशा का यह विरोध उसके आकर्षण में और भी वृद्धि कर देता। भौंहों में बल डाल-कर आशा का सौन्दर्य जब सामने आता तो शशि बेसुध-सा हो जाता।

आशा के सामने एक विचित्र समस्या उठ खड़ी हुई। वह यह कि वह इतनी सुन्दर क्यों हुई। अपने सौन्दर्य को दाब-दूब कर रखने का वह प्रयत्न करती। माँग में सुहाग-चिन्ह के अतिरिक्त सौन्दर्य के अन्य सभी प्रसाधनों से वह तटस्थ रहना चाहती, लेकिन उसके आकर्षण में फिर भी कोई कमी नहीं आती—वरन् उसमें एक प्रकार के सौम्य तेज का भी सम्मिश्रण हो जाता।

मां को यह अच्छा नहीं लगता कि आशा इस प्रकार अपने रुप की उपेक्षा करे। मां आशा को कील-काँटे से दुरुस्त देखना चाहती। पहले-पहल माँ ने हँसी-हँसी में आशा को समझाना शुरू किया। अपनी आशा को माँ इन्द्राणी और लक्ष्मी बहू कहा करतीं और चाहतीं कि लक्ष्मी-बहू की तरह ही वह घर में छम-छम करती दिखाई पड़े।

आशा को अपने पास बिठाकर माँ कहतीं:

"देख बहू, खाने-पहनने के येही दिन हैं। अभी से जो तू ऐसे रहेगी तो कैसे बनेगा? अभी कुछ पता नहीं चलता, लेकिन बाद में इन दिनों को याद करके तू पछताएगी।"

कहते-कहते माँ उठ खड़ी होतीं और कंघी-चोटी लाकर बहू के बाल

सँवारने लगतीं। झगड़ा उठ खड़ा होता सीधी और तिरछी माँग को लेकर। आशा को तिरछी माँग अच्छी नहीं लगती थी और माँ कहती थी कि सीधी नहीं, आज के लड़के तिरछी माँग पसन्द करते हैं।

आशा के विरोध को एक ओर रख माँ तिरछी माँग ही निकालती और आशा, बाद में, अपने कमरे में जाकर आईने के सामने खड़ी हो जाती और अपनी छबि को देखकर एक क्षण के लिए अचकचा जाती। फिर न जाने क्या सोचकर, जल्दी से अपने बालों को ठीक कर लेती।

टेढ़ी माँग को सीधी करने के बाद ही वह शशि के सामने जाती। शशि को न टेढ़ी माँग दिखाई देती, न सीधी, वह देखता आशा के उन बालों को जो बार-बार कंघी करने से निखरते जा रहे थे।

आशा ने बड़े सुन्दर बाल पाए थे। स्नान करने के बाद कमर पर लह-राते बालों को जब शशि देखता तो उलझ कर रह जाता—कम-से-कम चाहता वह यही था कि उलझ कर वह रह जाए। आशा के बालों से, बालों से आगे बढ़कर स्वयं आशा से, उलझ कर वह रह जाना चाहता। जिस रूप में भी आशा सामने आती, यही एक भावना शशि में प्रबल हो उठती।

माँ जो चाहती थीं, आशा के सौन्दर्य में डूब-उलझ कर शशि उसे ही पूरा कर रहा था। लेकिन माँ को इससे सन्तोष नहीं होता। आशा को तो माँ दोष देती ही, आशा के साथ-साथ शशि को लेकर भी माँ के हृदय में असन्तोष सिर उभारता। एक अभाव-सा था जो माँ के हृदय में कांटे की भांति खटकता और उन्हें चैन न लेने देता। रह-रह कर एक ही बात वह सोचती कि आशा को कील-काँटे से दुरुस्त रखने के प्रयत्नों के प्रति शशि के हृदय में कुछ भी उत्साह नहीं है। मां की समझ में नहीं आता कि शशि को हो क्या गया है।

आशा जब सामने होती तो माँ शशि से शिकायत करती और शशि के सामने होने पर आशा को वह दोष देतीं। शशि और आशा को छोड़ कर स्वयं अपने को दोष देने में भी पीछे नहीं रहती। ऐसे क्षण भी आते जब वह निस्संग होकर सोचती कि शशि और आशा के बीच उन्हें नहीं पड़ना चाहिए, बीच में पड़ने की कोई आवश्यकता भी नहीं है, लेकिन फिर भी माँ से रहा

नहीं जाता ।

शशि अब माँ से भी कुछ दूर-दूर रहता । एक ही कारण इसका माँ की समझ में आता । वह यह कि आशा और शशि के बीच, हो-न-हो, कोई विरोध उठ खड़ा हुआ है । विरोध के मूल को माँ हस्तगत करना चाहतीं । कई बार जी में आया कि शशि से मालूम करें, लेकिन इसके लिए उपयुक्त अवसर माँ को नहीं मिलता । कुछ इस तरह माँ शशि से सब कुछ पूछना चाहतीं कि उसे पता भी न चले, और बात भी बन जाए ।

माँ को एक डर यह भी था कि पूछने-ताछने से कहीं शशि और अधिक न बिगड़ जाए । इस डर के कारण होठों पर आई बात को भी माँ रोक लेतीं । शशि को छोड़ फिर पहुँचती आशा के पास । आशा से माँ को इस तरह का कोई डर नहीं था । सीधा प्रश्न वह करतीः

"शशि को क्या हो गया है, बहू ? देखती हूँ, इधर कुछ दिनों से वह उखड़ा-उखड़ा-सा रहता है !"

शशि उखड़ा-उखड़ा-सा तो नहीं, लेकिन उलझा-उलझा-सा रहता है, यह आशा जानती थी । बात-बे-बात उलझने की जो आदत शशि को पड़ती जा रही थी, उससे खुद आशा भी परेशान थी । लेकिन उसकी समझ में नहीं आता कि माँ को यह सब वह कैसे समझाए । समझाने का ध्यान आते ही एक प्रकार की आत्मग्लानि—नहीं, लज्जा का वह अनुभव करती । उसके गाल रंग जाते, गरदन नीचे की ओर झुक जाती और पाँव के अंगूठे से चुपचाप ज़मीन कुरेदने लगती ।

"क्या बात हुई है," माँ ओर देकर पूछती, "बताती क्यों नहीं । मुझसे यह नहीं देखा जाता कि आते ही तुम दोनों में झगड़ा शुरू हो जाए । न तो तू ही कुछ बताती है, और शशि से पूछना चाहती हूँ तो उसका मन भी ढूंढे नहीं मिलता । आखिर बात क्या है ?"

रात के अकेले में जैसे ही शशि ने आशा को छेड़ना शुरू किया कि वह मछली की भांति बल खाकर अलग हो गई । झुंझला कर बोलीः

"माँ को अगर तुम्हारी इन करतूतों के बारे में मालूम होता तो....... "

शशि की आँखों में अभी भी कौतुक नाच रहा था। आशा की आँखों और बाईं ओर के गुलाबी गाल के तिल पर नज़र टिकाते हुए बोला :

"तो क्या ?"

"तो उन्हें पता चल जाता कि असल में तुम्हें बनाव-सिंगार की नहीं, वैराग्य की ज़रूरत है।"

शशि एक क्षण के लिए चुप रहा। फिर आशा का हाथ पकड़ कर उसे अपनी ओर खींचते हुए बोलाः

"क्या तुम समझती हो कि मां का कभी विवाह नहीं हुआ, वह कभी इस दौर में से नहीं गुज़रीं......."

हाथ बढ़ा कर आशा ने शशि का मुंह बंद कर दिया। बोलीः

"बस करो। मां के बारे में ऐसी बातें करते तुम्हें लाज नहीं आती।"

"क्यों, इसमें लाज की क्या बात है," शशि ने कहा। "मां ने अपने बाल धूप में नहीं पकाए हैं। वह......."

आशा ने शशि की बात को बीच में ही काट दिया।

"मैं कब कहती हूँ कि उन्होंने अपने बाल धूप में पकाए हैं ?" आशा ने कहा—"उनकी बातों से तो ऐसा मालूम होता है कि मानो उनका सारा जीवन कंघी-चोटी करते और पायलों की झंकार पर नाचते बीता है। कम-से-कम मुझ से तो वह यही चाहती हैं कि मैं दिन-रात छम-छम करती नाचा करूं।"

आशा की बात सुनकर शशि के होठों पर हँसी खेल गई। आशा ने पूछाः

"क्यों, हंसते क्यों हो ?"

"सच कहता हूँ आशा," शशि ने कहा—"तुम्हें तो किसी ऐसी सास के पाले पड़ना चाहिए था जिन्हें बनाव-सिंगार ज़रा भी नहीं सुहाता, अपनी बहुओं को कंघा-चोटी करते देख जिनके तन-बदन में आग लग जाती है और जो चाहती हैं कि उनकी बहुएं चूल्हे की लकड़ी बन कर दिन-रात जलतीं और धुआं देती रहें।"

कुछ रूक कर शशि ने फिर कहाः

"मेरी मां तुम्हारी सास हैं, किसी कारखाने की मालकिन नहीं जो कोल्हू

के बैल की भांति हर घड़ी तुम्हारी गरदन पर जुवा रखे रहें।"

आशा कुछ इतने मुग्ध भाव से देख रही थी कि शशि से नहीं रहा गया। उसे अपना पेटण्ट स्वर्ण पदक—मधुर चुम्बन—प्रदान करते हुए बोलाः

"खुद विधाता ने तुम्हारा इतना सिंगार कर दिया है कि मानवीय हाथ उसमें और अधिक वृद्धि नहीं कर सकते। फिर भी ···"

"फिर भी क्या?" आशा ने पूछा।

"फिर भी यह कि इस सौन्दर्य को बनाए रखने और मैला न होने देने के लिए तुम्हें कुछ-न-कुछ तो करना ही चाहिए।"

"बहुत ठीक," आशा ने कहा—"तुम इस सौन्दर्य की मिट्टी पलीद करते रहो और मैं इसे बनाती-संवारती रहूँ। क्यों, यही कहना चाहते हो न?"

"तुम तो पागल हो, आशा!" शशि ने चिकोटी काटते और आशा के गाल को और भी लाल करते हुए कहा,—"इसे मिट्टी पलीद करना नहीं, खराद पर चढ़ना कहते हैं। इससे तुम्हारा सौन्दर्य और भी निखर उठेगा!"

"बाज आई मैं ऐसे निखार से," आशा ने कहा, लेकिन इस बार वह छिटक कर अलग नहीं हुई, कुनमुना कर शशि से और चिपक गई।

"अच्छी बात है," शशि ने कहा—"ताली दोनों हाथ से बजती है, इसलिए तुम थोड़ा बनाव-सिंगार का अभ्यास करो और मैं वैराग्य का। बाल ब्रह्मचारी तो बहुत से बनते हैं, मैं विवाहित ब्रह्मचारी बनने की मंज़िल सर करूंगा। लेकिन आज से नहीं, कल से·········"

इसके दो-चार दिन बाद ही पिता ने शशि को बुलाया और संक्षिप्त तथा विचित्र भूमिका के बाद बोलेः

"अपना काम धाम देखो और मुझे छुट्टी दो।"

शशि ने काम धाम देखने और पिता को अपने बोझ से छुट्टी देने का निश्चय कर लिया। आशा से जब अकेले में भेंट हुई तो बोलाः

"तुमने मां को ही अभी देखा है, पिता को नहीं।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"हुआ कुछ नहीं। आज पिताजी ने मुझे बुलाया था। कहने लगे: 'तुम अब एक से दो हो गए हो।' मैं चुप रहा। फिर बोले: 'दो से तुम तीन भी हो सकते हो।' मैं तब भी चुप रहा। इसके बाद बोले: "और तीन से चार भी।" तब मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा: 'आप कहना क्या चाहते हैं?" मेरा यह प्रश्न सुन दो टूक शब्दों में बोले: 'यही कि मैं तुम्हारा और तुम्हारे बच्चे-कच्चों का जन्म-भर ठेका नहीं ले सकता। अपना काम-धाम देखो और मुझे छुट्टी दो!"

आशा चुप चाप सुनती रही। बोली कुछ नहीं। अन्त में शशि ने कहा:

"देखा आशा, मां के मुकाबिले पिता कहीं ज्यादा दूरन्देश हैं। उन्हें यह ताड़ते देर नहीं लगी कि अगर यही हाल रहा तो एक के बाद एक दना-दन बच्चे पैदा होने लगेंगे और उनकी मुसीबत आजाएगी। सो उन्होंने कन्नी से ही पतंग काट दी। कहा अपना काम-धाम देखो और मुझे छुट्टी दो।"

"तो अब क्या होगा?"

"होना क्या है, इस बहाने तुम्हें भी कुछ दिन के लिए छुट्टी मिल जाएगी।"

मेरा मतलब यह थोड़े ही था कि तुम मुझे अकेली छोड़ कर चले जाओ।"

"अकेली क्यों रहोगी, मैं अपना हृदय जो तुम्हारे पास छोड़ जाऊंगा। रही शरीर की बात, सो उसकी तुम्हें वैसे भी कोई खास ज़रूरत नहीं रहती। क्यों, ठीक कहता हूँ न?"

आशा से अब नहीं रहा गया। मन-ही-मन उमेठ-सा खाकर बोली:

"मालूम होता है, सारा गुस्सा आज तुम मुझ पर ही उतारोगे। पिता के सामने तो कुछ कहते बना नहीं, अब........"

"तुम कुछ नहीं समझतीं, आशा!" शशि ने कहा—"गुस्सा उन्हीं पर उतारा जाता है जो अपने होते हैं।"

आशा ने कुछ नहीं कहा। चुपचाप मुग्ध भाव से शशि को देखती रही,—कुछ इस तरह मानो शशि को फिर कभी देखने का अवसर ही नहीं

मिलेगा।

एकाएक शशि ने पूछाः

"क्यों आशा, क्या तुमने कभी ऊंट देखा है?"

आशा शशि के प्रश्न के अटपटेपन को देखकर चौंकी और बोली :

"यह ऊंट कहां से बीच में आ कूदा?"

"ऊंट बड़ा समझदार जानवर है," शशि ने कहा—"रेगिस्तान में प्रवेश करने से पहले वह एक साथ सात दिन का पानी अपने पेट की मशक में भर लेता है।"

"इसका मतलब?"

इसका मतलब यह कि जीवन के रेगिस्तान में प्रवेश करने से पहले मैं भी·······"

शशि ने अपनी बात को पूरा किया, आशा को अपने बाहु पाश में जकड़ कर।

शशि के घर छोड़ कर जाने और आश्रमी जीवन में प्रवेश करने के बाद आशा कुछ दिन तो मां के पास रही, फिर बालू भैया आए और खारी कुंवों और चरपरे पानी वाले अपने गांव में उसे लिवा ले गए।

: ३ :

गांव में एक तिनका भी हिलता था तो घर-घर खबर हो जाती थी। आशा का, गांव की बेटी का, ससुराल से आना तो बहुत बड़ी बात थी। आशा के पिता ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और देर तक एक टक उसके चेहरे की ओर देखते रहे, मानो पहचानने की कोशिश कर रहे हों कि यह वही आशा है या कोई और। अन्त में एक लम्बी सांस छोड़ते हुए बोले:

"तुम तो ठीक वैसी ही हो आशा, जैसी कि यहां से गई थीं। हे भगवान!"

बालू भैया की पत्नी रमा बरतन मांजने में जुटी थी। झटपट हाथ धोकर आई, झुक कर आशा के पांव छुए और दोनों हाथों से उठा कर आशा ने

उसे अपने हृदय से चिपका लिया।

रमा का क़द बेहिसाब छोटा था। ऐसा मालूम होता था मानो उसने जीवन-भर लड़की बने रहने का निश्चय कर लिया हो।

छिपकली की भांति कुछ देर वह आशा से चिपकी रही और फिर, एकाएक सुबक-सुबक कर रोने लगी।

"अरे, रोती क्यों है, पगली!" आशा ने कहा—"क्या आंसुओं से मेरा स्वागत करेगी?"

हे भगवान्—आशा के पिता—पास ही खड़े थे। बोले :

"रोने को जीवन पड़ा है, बेटी। एक बार में ही सारे आंसू गंवा देगी तो कैसे बनेगा?"

रमा ने झटपट आंचल से आंसू पोंछ लिए और हंसने का प्रयत्न करने लगी।

"बालू भैया नहीं दिखाई देते?" आशा ने इधर-उधर नज़र डालते हुए कहा—"क्या कहीं गए हैं?"

"तेरा बालू भैया तो खुदाई फौजदार है," हे भगवान् ने लम्बी सांस खींचते हुए कहा,—"गया होगा कहीं सांग वाज के चक्कर में!"

"क्या यहां सांग हो रहा है?" आशा ने उत्सुकता से पूछा।

"हो नहीं रहा है, बल्कि होगा," हे भगवान् ने कहा—लड़कियों के लिए एक स्कूल खुलेगा। वैसे कोई चन्दा देता नहीं सो नाच-गा कर पैसा जमा किया जाएगा!"

गांव में लड़कियों के लिए स्कूल खुलने का, इससे भी ज़्यादा सांग का काफी चर्चा था। शुरू-शुरू में इरादा था कि सांग पंचायत की तरफ़ से ही बुलाया जाएगा। लेकिन बाद में जब देखा कि सांग को लेकर गांव में दो दल बन गए हैं तो पंचायत ने हाथ खींच लिया। कहा कि पंचायत इस झगड़े में पड़ने के लिए तैयार नहीं है।

सूबेदार राम सिंह ने जो पहली लड़ाई में दुनिया देख आए थे और सांग का विरोध करने वालों को पोखर के मेंढक कहते थे, अकेले अपने बूते पर

सांग का झंडा ऊंचा उठाया। बालू भैया उन्हीं के साथ दिन-भर और रात के बारह बजे तक चकर घिन्नी बने घूमते थे।

"यह कोई बुरा काम थोड़े ही है," आशा ने अपने पिता से कहा—"लड़कियों का पढ़ना-लिखना तो अच्छा ही है।"

"बुरा तो घर का काम-धाम देखना है," पिता ने कहा—"हे भगवान्, क्या मेरे ही घर में.........."

पिता अपनी बात पूरी कर भी न पाए थे कि लड़कियों का एक दल आ धमका। इनमें सबसे आगे आशा की सहेली ढोडो थी। असल नाम उसका चन्द्रावल था, लेकिन सब उसे ढोडो कहते थे।

ढोडो गांव की सबसे नटखट और शैतान बेटी थी। तरह-तरह की बोलियां बोलने, नकलें उतारने और सांग भरने में उसे मात देना कठिन था। बालू भैया से उसकी खूब पटती और उसका पक्ष लेकर हे भगवान् की वह इतनी बढ़िया नकल उतारती कि पहले तो हे भगवान अचकचा जाते और फिर खुद भी खिलखिला कर हंसने लगते।

ढोडो के भण्डारे में ज़नाने कपड़ों से अधिक मरदाने कपड़ों की भरमार थी। गांव में जितनी भी विवाहित लड़कियां थीं, सब से वह टैक्स वसूल करती थी। कहती:

"अपने पति के कपड़ों में से एक जोड़ा उठा कर मुझे देना पड़ेगा।"

सभी काट और छांट के कपड़े ढोडो ने जमा कर लिए थे और नित्य नया सांग भर कर वह तमाशा खड़ा करती रहती थी।

ढोडो की शैतानी का कोई अन्त नहीं था। एक दिन वह सूबेदारनी के पास पहुँची। बोली:

"मेरा एक काम करेगी?"

"क्या?"

"तेरे सूबेदार की मूछें बड़ी रोबीली हैं।"

"क्या तेरा मन ललचा गया है?"

"नहीं, अपने सूबेदार को तू अपने ही पास रख, मुझे तो बस उसकी

मूछें उखाड़ कर दे दे। आज मैं थानेदार का सांग भरूंगी!"

सूबेदारनी आंखें तरेर कर रह जाती।

डील-डौल में वह काफ़ी लम्बी-चौड़ी और हट्टी-कट्टी थी। आते ही उसने आशा को गोदी में उठा लिया। इरादा तो उसका यह था कि आशा को कंधे पर बैठा कर उछले-कूदे, मगर इसमें सफल नहीं हो सकी, फिरकी की भांति दो-चार बार घूम कर उसने आशा को ज़मीन पर खड़ा कर दिया और उसे उलट-पलट कर देखने के बाद बोली :

"तैंने तो नाहक ब्याह किया, आशा?"

"क्यों?" आशा ने अस्फुट स्वर में कहा।

"ऐसा ब्याह भी किस काम का,—न दुबली हुई न मोटी; न पानी चढ़ा हुआ नज़र आता है, न उतरा हुआ!"

"तू भी खूब है ढोडो, ब्याह क्या दुबली-मोटी होने के लिए किया जाता है?" आशा ने हंसते हुए पूछा।

"मुझे देख, ब्याह से पहले मैं सींकिया पहलवान थी," ढोडो ने आशा के कंधों को मसकते हुए कहा—"और अब हनुमान से होड़ लेती हूँ।"

"तेरी तो बात ही निराली है, ढोडो!" आशा ने कहा—"इतनी उम्र में दो ब्याह तू कर चुकी है, और अभी न जाने कितने और करेगी!"

ढोडो का पहला ब्याह छुटपन में ही हो गया था। तेरह-चौदह साल की होने तक उसका पति लाम पर चला गया और लड़ाई में मारा गया। पति के बदले में सरकार ने उसकी पैन्शन बाँध दी,—हर महीने पन्द्रह रुपये उसे मिलते थे।

ससुराल वालों को ढोडो से इतना मोह नहीं था जितना कि उसकी पैन्शन से। जोड़-तोड़ बैठाने में उन्होंने देर नहीं की और ढोडो के पति के छोटे भाई से, जो ढोडो से दस साल छोटा था, उसका कराव कर दिया। ढोडो उसे रोज़ चपतियाती, कान पकड़ कर स्कूल पढ़ने भेजती, और उसे हर महीने पन्द्रह रुपये का घी चटा कर कहती :

"जल्दी से पढ़-लिख कर बड़ा हो जा, मरदुवे!"

इस समय ढोडो की उम्र बाईस साल की थी और उसके पति की बारह।

"देख लेना," ढोडो ने कहा—"तीन साल बाद वह मेरे पहले पति से भी ज़्यादा हट्टा-कट्टा हो जाएगा।"

"जब तेरा पहला पति मरा तो तू काफ़ी बड़ी थी," आशा ने कहा—"इतने छोटे लड़के के साथ ब्याह करने के लिए तू कैसे तैयार हो गई?"

"एक तो इस लिए कि घर की लक्ष्मी घर में ही रहे,—मेरी पैन्शन किसी दूसरे के पल्ले न पड़े," ढोडो ने कहा, "फिर जितने बड़े लड़के थे, सब लाम पर चले गए थे। गांव में या तो बच्चे रह गए थे या फिर बूढ़े ठूँठ। सो मैंने सोचा कि किसी खूसट के गले बंधने से तो नन्हे बलमा को खिलाना ज्यादा अच्छा होगा। आज न सही तो कल, वह बड़ा हो ही जाएगा।"

बातों और छेड़-छाड़ का सिलसिला घूम-घाम कर आशा के पिता हे भगवान, बालू भैया और उसकी पत्नी रमा की ओर जिसे ढोडो पिद्दी कहती थी, मुड़ चला।

"तेरे पिता भी बड़े मनहूस हैं, आशा!" ढोडो ने कहा: "बात-बात में हे भगवान रट लगाते और इतनी लम्बी तथा इतनी ठंडी उसांसें छोड़ते हैं कि डर लगता है, कहीं सारे गाँव की हरियाली को पाला न मार जाए!"

"लेकिन तुझ पर तो इस पाले का कोई असर नहीं दिखाई देता," आशा ने पूछा।

"मेरा क्या है? मैं तो अंगीठी धधकाए रहती हूँ। हे भगवान की उसांसें मेरे पास तक फटकने का साहस नहीं करतीं। उनका असर देखना हो तो अपने बालू भैया को देखो। एक घड़ी के लिए भी हे भगवान उसका पीछा नहीं छोड़ते।"

इसके बाद बालू भैया की पत्नी रमा पर उसने अपना बुख़ार उतारा। बोली:

"जब से यह पिद्दी आई है, घर में हे भगवान की उसांसों की आंधी और धूल उड़ती दिखाई देती है। और इसका बदन तो देखो, और लोग

उम्र के साथ जहाँ बढ़ते-फैलते हैं, वहाँ यह सिकुड़ती-सिमटती जाती है।"

"लेकिन इसमें रमा का क्या दोष है, ढोडो!" आशा ने कहा : "उसे तू बेकार भला-बुरा कहती है।"

"जो हो," ढोडो ने कहा—"मुझे तो खिला हुआ चेहरा और खिला हुआ बदन अच्छा लगता है।"

"खिला हुआ चेहरा और खिला हुआ बदन क्या योंही बनजाता है, ढोडो!" आशा ने कहा— "अगर ऐसा होता तो तुम खुद अपने नन्हे बालम को पन्द्रह रुपये महीने का घी क्यों चटातीं?"

"तुम भी अजीब बात करती हो, आशा? घी चाटने से क्या वह हंस मुख हो जाएगा?" ढोडो ने कहा—"मुझे देखो, लच्छी के साथ रूखी-सूखी खाती हूँ, और गुलनार बनी घूमती हूँ।"

"रूखी-सूखी ही सही, लेकिन कुछ मिले तो," आशा ने कहा—"धूल फांकने से थोड़े ही काम चलेगा। पिता जी बुढ़ा गए हैं। हाड़-गोड़ अब काम नहीं देते, और बालू भैया हैं कि कुछ काम-धाम नहीं करते........"

"काम-धाम क्यों नहीं करते," ढोडो ने कहा—"एक दुकान खोल कर बैठे थे। लेकिन डंडी मारना नहीं जानते, दुकान क्या ख़ाक चलती? जो पल्ले था, उसे भी गंवा बैठे।"

बालू भैया बेहद ईमानदार और सच्चे थे। किसी को धोखा नहीं देते थे, इसी लिए खुद धोखा खाते थे। गाँव के जीवन में वह इतना गहरा पैठते जा रहे थे कि उन्हें अपने जीवन की कोई सुध नहीं रही थी। सच तो यह है कि इसी को वह अपना जीवन समझते थे।

गाँव के सभी लोग बालू भैया को जानते और उनकी सराहना करते थे। छोटे हों चाहे बड़े, बालू भैया सभी के काम आते थे। कटाई-बोवाई के दिनों में वह जाटों के साथ खेतों में जाते और कंधे-से-कंधा मिला कर काम करते। बदले में जाट उनके घर अनाज पहुँचा देते।

गाँधी जी के आन्दोलन के दिनों में जाटों के साथ बालू भैया के इन सम्बंधों में दरार पड़ गई। सरकारी पैन्शनें और इनाम में मिले मुरब्बे

उनके जीवन का आधार थे। उन्होंने जम कर सरकार का साथ दिया। गांधीजी का प्रचार करने बाहर से पंडित नेकीराम जी आए। जाटों ने उन्हें पकड़ कर चौपाल से नीचे पटक दिया। बालू भैया से यह नहीं देखा गया। वह जाटों से फिरंट हो गए और गांव में कांग्रेस की नींव डाल दी। जाटों में से भी कुछ उनके साथ आए, लेकिन बहुत कम।

गांधी जी की आंधी के साथ-साथ बालू भैया का भी ज़ोर बढ़ता गया। लेकिन आंधी के शान्त होते ही बालू भैया को ऐसा मालूम हुआ मानो उनके पांव के नीचे से ज़मीन ही निकल गई।

हवा का प्रत्येक थपेड़ा, अनिवार्य और अबाध गति से, बालू भैया को अब एक ही दिशा में धकेल रहा था,—खेत-मज़दूर बनने की दिशा में, अथवा गांव से नगर जाकर किसी काम-धंधे की खोज करने तथा सड़कों की धूल छानने की दिशा में।

हे भगवान् बालू भैया से कुछ कहते या रमा को लेकर रोना-धोना शुरू करते तो वह खीज कर दो टूक जवाब देते:

"मैं तो पहले ही मना कर रहा था। लेकिन बहुरिया लाने के चाव ने तुम्हें इतना अंधा बना दिया कि मेरी एक न मानी। तुम्हीं उसे लाए थे, और तुम्हीं अब उसे संभालो।"

हे भगवान अब रमा को घेरे रहते और अतीत की स्मृतियों में डूब कर उसके हृदय की वेदना को संभालने का प्रयत्न करते।

जीवन के इन सभी उतार-चढ़ावों को देखने के लिए आशा मायके में नहीं रह सकी। शशि की मां का पत्र आया, और बालू भैया उसे छोड़ आए।

: ४ :

सोमा की मृत्यु के बाद जब शशि घर पहुँचा तो सब से पहले, घर की चौखट लांघ कर भीतर पांव रखते ही, कमल नाथ से उसकी मुठभेड़ हुई।

कमल नाथ शशि की बहिन विमला का पति था। विवाह के समय वह दसवीं में पढ़ता था। शरीर से स्वस्थ और सुन्दर था। ठोक-बजाकर देखने पर भी मां को उसमें कोई कमी नहीं दिखाई दी और मां ने समझा कि

विवाह होने पर वह एक ढंग का आदमी सिद्ध होगा।

ढंग का आदमी बनने के लिए जिन चीज़ों की ज़रूरत होती है, क़रीब-क़रीब वे सभी कमलनाथ में मौजूद थीं। शरीर में उसके कोई रोग नहीं था और खूब भरा-पूरा वह मालूम होता था। यह देख कर मां सन्तुष्ट हुई। दसवीं वह पास कर लेगा, यह जैसे प्रत्यक्ष ही था और इससे भी अधिक सिद्ध चीज़ जो दिखाई पड़ती थी वह यह कि दसवीं पास करने के बाद नौकरी भी उसे मिल ही जाएगी।

संयोग और भाग्य का भी मां सहारा लेती। सभी सन्देहों और आशंकाओं को विधाता की लाठी से दूर भगाते हुए कहती:

"कमलनाथ हो चाहे विमलनाथ, इसके भाग्य में होगा तो वही सब कुछ हो जाएगा। लोग सब कुछ छीन सकते हैं, लेकिन आदमी का भाग्य नहीं छीन सकते।"

कमलनाथ और उसके पिता में, बहुत दिनों से,—उस समय से जबकि कमलनाथ ने होश संभाला,—छत्तीस के सम्बंध चले आ रहे थे। अन्त में दोनों में झगड़ा हुआ और तोड़ की नौबत आ पहुँची।

झगड़े और तोड़ का कारण था: दसवीं की परीक्षा में कमलनाथ का फ़ेल होना।

पिता की नाराज़गी केवल इस बात में नहीं थी कि वह दसवीं पास नहीं कर सका। सच तो यह है कि उसके फ़ेल होने से वह खुश हुए। वह शुरू से ही यह कहते थे कि कमलनाथ के लिए पढ़ने में सिर खपाना बेकार का बोझा ढोना है,—न तो वह पढ़ सकता है, न ही पढ़ना उसके किसी काम आ सकता है।

यहीं से पिता-पुत्र में विरोध शुरू होता था। पिता पढ़ना-लिखना बेकार समझता था पुत्र उस काम को बेकार समझता था जिसमें कि, पढ़ना-लिखना ताक पर रख, पिता उसे जोतना चाहते थे।

कमलनाथ के पिता ज़मीदार थे,—बल्कि यह कहिए कि उनके पुरखे ज़मीदार थे, जो ज़मीदारी के रूप में, लम्बे कर्ज़ों और लम्बे मुक़दमों की

विरासत छोड़कर मरे थे।

अगर कमलनाथ के पिता ढंग से और सभल कर रहते तो यह विरासत भी, बड़े घर की खुरचन की भांति, अपने-आप में कुछ कम नहीं थी। लेकिन वह रास-रंग की घुट्टी पीकर बड़े हुए थे।

रास-रंग की बलिवेदी पर उनका धन भी स्वाहा होने लगा, और शरीर भी।

इसके बाद, खोई हुई जवानी और खोए हुए धन को फिर से पाने के प्रयोग शुरू हुए। कीमिया बनाने की धुन में, एक के बाद एक, अनेक साधुओं के चक्कर में वह पड़े।

कमलनाथ के होश संभालने तक वह बहुत कुछ खो चुके थे, और कीमिया बनाने की उनकी आशा दम तोड़ रही थी।

साधुओं और कीमियागरों को छोड़ कर अब वह अपने लड़के कमलनाथ के पीछे पड़े। ज़मींदारी का बस्ता और पुराने पुलन्दे खोल कर बैठ जाते और आवाज़ लगाते :

"कमलनाथ !"

कमलनाथ किताबों में डूबा रहता। पिता की आवाज़ को सुन कर भी वह अनसुना कर जाता।

वह और भी ज़ोरों से आवाज़ देते :

"कमलनाथ........!"

कमलनाथ अपनी जगह से न उठता। वहां बैठे-बैठे पूछता :

"क्या है ?"

"यहाँ आओ !"

आख़िर कमलनाथ उठता और पिता के पास जा खड़ा होता। पिता एक नज़र उसे ऊपर से नीचे तक देखते और फिर कहते :

"क्या कर रहा था ?"

"कुछ नहीं, पढ़ रहा था !"

"क्या पढ़ रहे थे,—सी ए टी कैट, कैट माने बिल्ली,—क्यों ?" पिता

कहते और फिर ज़मींदारी का बस्ता उठा कर कमलनाथ की आंखों के सामने ले जाते हुए अपनी बात को पूरा करते :

"तुम्हारी असली किताब यह है,—समझे !"

लेकिन कमलनाथ अपनी इस असली किताब से दूर भागता। कभी-कभी झुँझला कर कहता :

"इसे मैंने दीमकों के लिए रख छोड़ा है। वेही इसकी असली क़द्र करेंगी !"

पिता यह सुन कर बौखला उठते। कहते :

"घबरा नहीं, खुद तुझे ही मैं दीमक बनाकर छोड़ूँगा। नालायक़ कहीं का, अपने पुरखों की देन का इस तरह अपमान करता है !"

दसवीं में फ़ेल होने और फेल होने के बाद भी पढ़ाई का बुख़ार दिमाग़ पर चढ़ाए रहने पर पिता ने न तो कमलनाथ को बख्शा और न उसकी पत्नी विमला को, सीधे बाहर का दरवाज़ा दिखलाते हुए बोले :

"ऐसे नालायक़ों के लिए मेरे घर में जगह नहीं है !"

कमलनाथ ने घर छोड़ दिया और अपनी पत्नी विमला के साथ शशि के घर आ गया। शशि की मां ने खुले हृदय से उसका स्वागत किया, लेकिन शशि के पिता ने उसे देखते ही भौंहों में बल डाले और तोबड़ा चढ़ा लिया।

कमलनाथ को लगा जैसे वह चूल्हे में से निकल कर भट्टी में आ गिरा हो। आगे पढ़ने का सपना झुलस कर रह गया, और किसी धंधे से लगने के लिए वह तिलमिलाने लगा।

नोटबुक और पेन्सिल जेब में डाल कर रोज़ सुबह वह घर से निकल जाता। बाज़ार में जितनी भी बड़ी-बड़ी दुकानें और दुकानों से भी बड़े उनके साइनबोर्ड दिखाई देते, सब का वह अध्ययन करता और फिर जेब से पेन्सिल निकाल कर अपनी नोटबुक में उनके पते दर्ज कर लेता।

रात को वह घूम-घाम कर लौटता और ज़ेब से नोटबुक निकाल कर शशि की मां को बड़े-बड़े साइनबोर्डों का विवरण सुनाता। फिर पूरे विश्वास-

से कहता कि इनमें से किसी के यहाँ भी उसे जगह मिल जाएगी।

माँ सुन कर आश्वस्त होतीं और कहतीं :

"कितने निर्दयी हैं इसके पिता जो अपने लड़के और बहू को इस तरह घर से बाहर निकाल दिया।"

लेकिन साइनबोर्डों के सब्ज़बाग में अपने आपको भरमाए रखना अधिक दिनों तक सम्भव नहीं रहा। कमलनाथ अपनी नोटबुक के पन्ने खोलता; एक-एक करके नम्बरवार सभी दुकानों और कार्यालयों में जाता और कहीं कड़वी तथा कहीं मीठी दुत्कार पल्ले बाँध कर घर लौट आता। एकाध जगह, कुछ झड़प होजाने पर, गरदनिया देकर भी उसे बाहर निकाल दिया गया।

कमलनाथ को अब दिन में भी तारे दिखाई देते और........

सोमा की मृत्यु के बाद घर लौटने पर जैसे ही शशि ने दहलीज़ में पाँव रखा इन्हीं कमलनाथ पर उसकी नज़र पड़ी। ठिठक कर वह रुक गया, और कुछ देर एक टक कमलनाथ की ओर देखता रहा।

कमलनाथ दहलीज़ में फ़र्श पर ही बैठे थे। सामने साइकिल पड़ी हुई थी। पेच और पुर्ज़े खोल कर उसके पहिये उन्होंने अलग कर लिए थे और एक पहिए को हाथों में उठा कर उसे घुमा-घुमा कर देख रहे थे।

शशि ने खांस-खकार कर कमलनाथ का ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा। लेकिन वह अपनी धुन में डूबे थे। अन्त में शशि ने कहा :

"यह क्या हो रहा है?"

अब कमलनाथ ने अपनी गरदन उठाई, एक बार शशि की ओर देखा, और फिर पहिये के साथ उलझते हुए बोले :

"सुदर्शनचक्र बना रहा हूँ।"

कमलनाथ का यह उत्तर शशि को अजीब मालूम हुआ। उसकी समझ में नहीं आया कि किस शिशुपाल का बध करने के लिए इस अनोखे सुदर्शन-चक्र का निर्माण किया जा रहा है।

शशि, अचरज-भरी नज़र से, देखता रहा।

कमलनाथ ने अब फिर अपना सिर उठाया, भौंहे सिकोड़ कर शशि

की ओर देखा और फिर कहा :

"यहाँ क्यों खड़े हो ? जाकर अपना काम-धाम देखो।"

शशि की नज़र अब एक और चीज़ पर पड़ी। वह चीज़ थी खद्दर की टोपी जिसे कमलनाथ अपने सिर पर पहने था। टोपी के अगले हिस्से में पीतल का एक बिल्ला लगा था। बिल्ले में केवल अक्षर-ही-अक्षर थे। लिखा था :

"भारत माता की जय !"

शशि ने पूछा :

"यह टोपी में क्या लगा रखा है ?"

"यह मेरा पासपोर्ट है।"

"मतलब........?"

"मतलब यह कि इसे लगा कर मैं कहीं भी जा सकता हूँ। कोई मुझे रोक नहीं सकता।"

शशि के होठों पर हल्की-सी मुस्कराहट खेल गई, साथ ही हृदय में खटका भी हुआ। एक काँटा-सा चुभा कि कहीं कमलनाथ का दिमाग़ सनक तो नहीं गया है।

तभी विमला, किसी काम से, दहलीज़ के पास से गुज़री। शशि को देखकर खुशी से चिल्लाई :

"अरे, शशि भैया आगए !"

शशि एकाएक, बिना कोई सूचना दिए, आया था। विमला की आवाज़ सुन मां भी लपक आई।

शशि ने आगे बढ़कर मां के पांव छुए। मां ने शशि को हृदय से लगा लिया :

"आरे मेरे शशि........!"

शशि मां के चेहरे की ओर देखकर स्तब्ध रह गया। हवा-निकली गेंद की भांति मां के गाल भीतर को धंस गए थे, ठोड़ी बाहर निकल आई थी।

"देख क्या रहा है," मां ने कहा—"मेरे सभी दांत टूट गए हैं। नये

दांत लगवाने से ठीक हो जाएगा।"

आशा की भी शशि को झलक दिखाई दी, लेकिन उसे अच्छी तरह देखने और बातें करने का मौका मिला रात को।

मां के चेहरे की ओर देखकर शशि के हृदय में गहरा आघात लगा था। लेकिन आशा के चेहरे की ओर देखकर वह चकित रह गया। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो आशा के सौन्दर्य को, उसके चेहरे की दमक और निखार को, और बांए गाल के तिल को वह पहली बार नये सिरे से देख रहा हो।

कुछ देर तक चुप-चाप मुग्ध भाव से देखने के बाद शशि के मुंह से निकला :

"आशा........?"

"कहो, क्या है ?"

"तुम्हें पता है, पहले ज़माने में क्या होता था ?"

आशा की समझ में नहीं आया कि शशि क्या कहना चाहता है। बोली :

"क्या होता था ?"

"पहले ज़माने में जब पिया परदेस चले जाते थे तो स्त्रियां विरह की आग में जला करती थीं,—कोई जल कर कोयला बन जाती थी और कोई राख, और कोई-कोई तो इस तरह जलती थी कि न कोयला बनती थी, न राख—बस, जलती ही रहती थी।"

आशा चुपचाप सुनती रही। बोली कुछ नहीं। कुछ रुक कर शशि ने फिर कहा :

"पिया के बिना उन्हें अपना तन-मन सब कुछ बेकार मालूम होता था। जो जल नहीं पातीं थीं, वे कागे का आह्वान करती थीं कि हे कागा, तू आ और मेरे इस शरीर को नोच-नोच-कर अपना पेट भर........!"

"तुम्हारा अकेले चले जाना तो मुझे भी अखरा। लेकिन विरह की आग में जल कर कोयला-राख बनने की बात मेरे दिमाग़ में कभी नहीं आई। मैंने सोचा........"

"तुमने क्या सोचा, आशा ?" बीच में ही शशि ने पूछा।

"यही कि इस बार जब तुम आओगे तो लाख मना करने पर भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगी। सो जलने-मरने के बजाय मैं तो अपने-आप को संभाले रही। सहारा बन कर ही मैं तुम्हारे साथ चलना चाहती हूँ, बोझ बन कर नहीं।"

बहुत देर तक दोनों बातें करते रहे,—दुनिया-भर की बातें। ऐसा मालूम होता था मानो बातों का यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होगा।

बालू भैया का जिक्र करने के बाद आशा ने जब ढोडो का ज़िक्र किया तो शशि को अनायास ही कोतवाल की, और सदा उसके हाथ में रहने वाली कमची तथा आश्रमी जीवन की याद हो आई।

कोतवाल के बारे में सुनकर आशा ने कहा:

"सच, कोतवाल और ढोडो, मुझे तो दोनों सगी बहनें मालूम होती हैं।"

"सगी से भी बढ़कर," शशि ने कहा—"सगी बहन बनने के लिए एक ही माँ के पेट से जन्म लेने की ज़रूरत नहीं होती, आशा!"

इसके बाद शशि ने सोमा का ज़िक्र किया जिसे उसके पति बुरी तरह पीटते थे। अघोरी-काण्ड और लोहे की छड़ से सोमा के पीटे जाने का हाल सुनकर तो आशा की भौंहों में बल पड़ गए और होंठ फड़कने लगे। अन्त में बोली:

"कोतवाल की भांति अगर सोमा के हाथ में भी कमची होती तो वह इस तरह कभी जल कर नहीं मरती!"

आशा की बात सुन कर शशि एक क्षण के लिए स्तब्ध रह गया। आशा के चेहरे की ओर कुछ देर देखने के बाद बोला:

"और सुनो आशा, सोमा की मृत्यु के बाद जयन्त ने मुझे बुलाया। कहने लगा—'मेरी एक बात मानोगे?' मैंने पूछा—'वह क्या?' कहने लगा—'वचन दो कि तुम अपनी पत्नी पर कभी हाथ नहीं उठाओगे?"

आशा ने सुना और सोमा के पति जयन्त को एक छोटे से वाक्य द्वारा कूड़े के ढेर पर फेंक दिया:

"ढोंगी कहीं का!"

घर की चौखट लांघते ही जिस रूप में शशि ने कमलनाथ को देखा था, वह उसके हृदय में खटक रहा था। बोला :

"कमलनाथ के बारे में तुम्हारा क्या खयाल है, आशा? मैं जब आया तो वह दहलीज़ में बैठा था। साइकिल के पहिये उसने खोल डाले थे। मैं ने जब पूछा कि यह क्या कर रहे हो तो कहने लगा कि सुदर्शन चक्र बना रहा हूँ। मुझे तो ऐसा लगा जैसे उसका दिमाग़ सनक गया हो।"

"मां और जीजीबाई के सामने ऐसी बात न कहना। उनके हृदय में गहरी चोट लगेगी, और वे बुरा भी मानेंगी। कमलनाथ की हर बात में उन्हें कोई-न-कोई बड़पन दिखाई देता है।"

कुछ क्षण रुक कर आशा ने फिर कहा :

"लेकिन तुम्हारी बात मुझे सच मालूम होती है। जिस दुकान से बाबू जी कपड़ा लाते हैं, कमलनाथ उस दुकान पर गए और दिखाने के लिए एक साथ छै पीताम्बर ले आए।"

"इन पीताम्बरों का वह क्या करेंगे?" शशि ने पूछा।

"पता नहीं क्या करेंगे," आशा कहा—"अपने मन से ही वह यह सब करते हैं।"

शशि और आशा बातें कर ही रहे थे कि उनके कानों में किसी के चीखने-चिल्लाने की अवाज़ आई। ऐसा मालूम होता था मानो किसी ने छूरा घोंप दिया हो।

तभी, कमरे से बाहर, मां की आवाज़ सुनाई दी :

"शशि, ओ शशि!"

शशि हड़बड़ा कर उठा। मां के पास जाकर बोला :

"क्या है मां?"

चीखने-चिल्लाने की आवाज़ सबसे ऊपर तीसरी मंजिल से आ रही थी। शशि, आशा, मां, विमला और बाबूजी,—सभी ऊपर पहुँचे।

सब से ऊपर की छत पर एक अटारी थी जिसमें कुछ टोकरियाँ पड़ी थीं। इन टोकरियों में से एक में कमलनाथ बैठे थे। पीताम्बर उन्होंने पहन

रखा था। ऊपर का बदन नंगा था। एक हाथ में टार्च थी और दूसरे में साइकिल का पहिया। गले में एक माला पड़ी थी और सिर पर मुकुट बंधा था। सामने की ओर टार्च हिला-हिला कर ज़ोरों से चीख़ रहे थे। ऐसा मालूम होता था मानो किसी अदृश्य शत्रु के पंजे उनको जान दबोचने के लिए आगे बढ़े चले आरहे हों।

बड़ी मुश्किल से खींच-खांच कर उन्हें अटारी से बाहर निकाला। उनके बदन में न जाने कहाँ से इतना बल आ गया था कि किसी के वश में नहीं आते थे।

इसके बाद कमलनाथ ने कुछ और भी हरकतें करनी शुरू कीं। छिपकली को देखते ही वह उसे मार डालते और एक छोटी-सी सन्दूकची में उसे जमा कर देते। इस तरह बीसियों छिपकली उन्होंने जमा कर ली थीं।

साबुन की टिकिया से भी उनका कुछ कम बैर नहीं था। देखते ही उसे उठा लेते और इस तरह खा जाते मानो वह मक्खन की टिकिया हो। पूछने या मना करने पर कहते :

"तुम लोग बाहर की सफ़ाई करते हो, और मैं भीतर की!"

घर से बाहर उनकी हरकतों ने और भी उग्र रूप धारण किया।

नोटबुक लेकर वह सुबह ही निकल जाते और जिस किसी दुकान पर मौक़ा पाते, गद्दी पर जाकर बैठ जाते। विरोध करने पर कहते :

"इस दुकान का मालिक मैं हूँ। मुझे यहां से कोई नहीं हटा सकता!"

कचहरी का भी वह चक्कर लगाते और जज अथवा मजिस्ट्रेट की कुर्सी को हथियाने की ताक में रहते।

अन्त में हुआ यह कि उन्हें पागलखाने भेज दिया गया।

मां और विमला के हृदय पर इससे गहरी चोट लगी। कई दिनों तक उन्होंने खाना नहीं खाया। शशि ने कहा :

"इस तरह कैसे चलेगा, मां? पागलखाना यों डरावना मालूम होता है, लेकिन असल में वह भी ऐसा ही है जैसे अन्य अस्पताल। कमलनाथ जल्दी ही ठीक होकर आ जाएंगे।"

शशि इन दिनों एकदम खाली नहीं बैठा था। कुछ-न-कुछ करता रहता था। पत्रों में छुटपुट लेख और कहानियां लिखता था, जिनका भूले-भटके, पारिश्रमिक भी आ जाता था। इसके अलावा वह नौकरी के लिए भी खोज-बीन कर रहा था।

आखिर वह दिन भी आगया जब शशि ने, आशा के साथ, घर छोड़ने का इरादा कर लिया। मां के पास जाकर बोला :

"तुम्हें याद है मां कि एक दिन तुमने क्या कहा था ?"

"क्या कहा था, शशि ?"

"तुमने कहा था कि अपने लिए जगह बनाने और इसके लिए लड़ने-झगड़ने से बढ़कर इस दुनिया में दूसरा और कोई सुख नहीं है।"

"क्या मैं ने ग़लत कहा था, शशि ?" मां ने पूछा।

"नहीं, तुमने ठीक कहा था, और वही मैं अब करना चाहता हूँ। मुझे और आशा को आशीर्वाद दो कि......."

"इसका मतलब यह कि अब तुम जाना चाहते हो," मां ने बीच में ही कहा—"अच्छी बात है, जाओ। अपने साथ आशा को भी ले जाओ, और मैं इस बात की प्रतीक्षा करूँगी कि मुझे तुम कब बुलाते हो !"

शशि ने देखा, मां की आंखों में आंसू तैर रहे हैं।

"तुम्हें भी जल्दी ही बुलाऊँगा, मां ?" शशि ने कहा और वह मां के हृदय से लग कर छोटे बच्चे की भांति कुनमुनाने लगा।

: ५ :

बेकारी और बाकारी जिसमें मिलकर एकाकार हो जाते हैं, शशि के जीवन का अब वह दौर शुरू हुआ। छै महीने शशि बाकार रहता था, और साल-भर बेकार। छै महीने इस लिए कि कायदे से छै महीने ही अस्थायी नौकरी की अवधि होती थी। इससे पहले कि स्थायी होने की नौबत आती मालिक उसे अलग कर देते। शशि को ऐसा मालूम होता कि मानो अस्थायी नौकरी करने के लिए ही उसने जन्म लिया है।

आशा भी उसके साथ-साथ घिसट रही थी,—एक रंगीन फाँसी के रूप

में। वह अब अकेली नहीं थी, एक बच्चे की मां थी। शशि के साथ घिसटते-घिसटते उसके सौन्दर्य में जो कमी आ गई थी, उसकी पूर्ति करने के लिए ही जैसे इस बच्चे ने जन्म लिया था,—फूल की तरह सुन्दर, गोल-मटोल, बड़ी-बड़ी आँखें, गुलाबी ओंठ और रेशम-से मुलायम बाल !

आशा का विगत सौन्दर्य जैसे इस शिशु के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। उसे देखते ही कुछ क्षणों के लिए शशि सब कुछ भूल जाता। मधुर कसक-सी फिर उस के हृदय में उठती। आशा की गोद में जितना माधुर्य था, उतना उसके चेहरे में नहीं। शशि चाहता कि उसका सम्पूर्ण दृष्टि-क्षेत्र आशा की भरी-पूरी गोद में ही सिमट कर रह जाए, लेकिन यह सम्भव नहीं था—नहीं, आँखें बंद कर लेने पर भी नहीं।

शशि को याद आती उन दिनों की, जब वह सौन्दर्य-प्रतियोगिता में आशा को स्वर्ण-पदक दिया करता था,—मधुर चुम्बनों के रूप में। ऐसा वह जीवन था जिस पर अपना सब कुछ वह न्योछावर कर सकता था। लेकिन आज,—शशि के जीवन का वह सब-कुछ वस्तुजगत के न-कुछ से टकरा कर—तितर-बितर होता जा रहा था।

आशा का सौंदर्य मटमैला पड़ गया था। शशि देखता और मन मसोस कर रह जाता। कभी-कभी सोचता: आशा का विवाह यदि उससे न होकर किसी और से हुआ होता तो अच्छा होता। उसे लगता कि वह आशा के योग्य नहीं है। उसने ग़लती की जो आशा से विवाह किया।

अपने विवाह को ग़लती के रूप में शशि लेता। आशा से तो नहीं, लेकिन मित्रों से अपनी इस ग़लती का वह ज़िक्र करता। विवाह आदि को लेकर जब बात चलती तो कहता:

"मैं तो ऐसा ही समझता हूँ कि विवाह करके मैंने बहुत बड़ी ग़लती की। यह नहीं कि मैंने अपने जीवन में और कोई ग़लती नहीं की,—नहीं, ग़लतियों से मेरा जीवन भरा पड़ा है। लेकिन यह एक ऐसी ग़लती है जिसका फल मुझे नहीं भुगतना पड़ा। इसीका मुझे दुःख है कि ग़लती मैंने की, और उसका गभुतान करना पड़ रहा है आशा को!"

एकाध बार आशा से भी इसी तरह की बातें करने का शशि ने प्रयत्न किया। आशा ने सुना और कुण्ठित होकर वह रह गई। आँखों में उसकी आँसू भर आए। यही एक उत्तर था जो उस समय वह शशि को दे सकी। इसके बाद दूसरा उत्तर उसने दिया शशि के साथ, मूक पशु की तरह, कष्ट सहन कर, — आँखों में आँसू और ओठों पर हँसी लेकर आशा ने शशि के साथ घिसट कर।

शशि भी आशा से अब कुछ नहीं कहता। किसी दूसरे से आशा के विवाह की कल्पना करना भी अब उसे आशा के प्रति अत्याचार मालूम होता। फिर भी बीते दिनों की याद आती ही। संशोधन-परिवर्द्धन के बाद वह सोचता :

"आशा के सौंदर्य में यदि थोड़ा देहातीपन और होता तो अच्छा होता। जीवन के उतार-चढ़ाव को सहज ही वह पार कर लेती, और उसका सौंदर्य भी बना रहता!"

आशा भी शशि की इस भावना का मन-ही-मन अनुभव करती। कहती वह कुछ नहीं थी, लेकिन किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा अवश्य करती जब कि शशि की इस भावना को वह निराधार सिद्ध कर सके। वह दिखा सके कि कोमल होते हुए भी वह कितनी कठोर है, जीवन की प्रत्येक चोट को सहज ही में वह सह सकती है।

लेकिन शशि था कि आशा को जीवन के प्रत्येक आघात से बचाना चाहता,—केवल यह सोचकर कि वह सह नहीं सकेगी। शशि से यह तक नहीं होता कि अपने ऊपर पड़े आघातों का ही कुछ परिचय वह आशा को दे-दिया करे। जो कुछ भी होता, अकेले ही शशि उसे सहता, सहना चाहता।

शशि आशा को कुछ इतना कोमल-करुण समझता कि उसे ज़रा भी ठेस पहुँचाना नहीं चाहता, और अपनी इस भावना की रक्षा करने में कभी-कभी पर्याप्त कठोरता का परिचय देता। शशि कठोरता के इस रूप को नहीं देख पाता, लेकिन आशा देखती। शशि की यह करुण आकांक्षा आशा के लिए बोझिल हो उठती। रह-रह कर यही वह सोचती कि मोम का न होकर

शशि का हृदय यदि पत्थर का होता तो सहज ही वह उसे अपना लेती।

शशि के कोमल-करुण हृदय को कठोर बनाने की अनेक कल्पनाएँ भी आशा किया करती। कभी-कभी उसके जी में अनेक उल्टे-सीधे, उत्पात करने की भावना भी प्रबल हो उठती। लेकिन इन उत्पातों को कार्यरूप में परिणत करने के समय वह हाथ खींच लेती। वह नहीं चाहती कि अपनी ओर से कोई नया उत्पात वह खड़ा करे।

एक दिन की बात है। रात को पड़े-पड़े अनेक उल्टी-सीधी बातें आशा सोच रही थी। शशि भी पास में ही पड़ा था। जागते हुए भी दोनों सोने का अभिनय कर रहे थे। दोनों में से कोई भी यह नहीं चाहता था कि एक-दूसरे की नींद में बाधक बने। इसी तरह पड़े-पड़े आधी से अधिक रात बीत गई। नींद आती थी और आकर लौट जाती थी। अन्तर्मन दोनों का सतर्क था, और नींद का साथ देकर दोनों में से कोई भी बेसुध होना नहीं चाहता था।

एकाएक शशि के मुंह से चीख सुनकर आशा चौंक उठी। शशि को भी एकाएक विश्वास नहीं हुआ कि वह चीत्कार उसी के मुँह से निकला था। उसे सुनकर वह स्वयं भी स्तब्ध रह गया। शशि के हृदय पर पहुँचे हुए आशा के हाथ ने अनुभव किया कि शशि का हृदय बुरी तरह धड़क रहा है। हृदय को छोड़ कर माथे को सहलाने पर मालूम हुआ कि पसीने की बूँदें भी वहाँ जमा हैं।

अप्रत्याशित चीत्कार सुनकर आशा घबरा गई। तुरंत ही उसने पूछा:
"क्यों, क्या हुआ?"

अपने को बटोरने का प्रयत्न करते हुए शशि ने कहा:

"कुछ नहीं। बड़ा बुरा सपना देख रहा था। लगता था जैसे कोई बहुत बड़ा जानवर मुझे अपने पञ्जों में दाब कर एक दम ऊँचे उड़ा जा रहा हो। खूब ऊँचे ले जाकर एकाएक उसने मुझे छोड़ दिया। और नीचे की अतल गहराई देख कर ही मैं डर गया।"

आशा की समझ में नहीं आया कि शशि क्या कह रहा है। साँस रोके शशि के मुँह से निकले शब्दों को वह सुनती रही। उसकी आँखें अंधेरे में

शशि के चेहरे को टटोल रही थीं।

शशि का दबा हुआ स्वर फिर से लौट आया। आशा के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए उसने कहा :

"व्यर्थ ही मैं डर गया था आशा। आँखें खुलने पर मैंने देखा कि तुम्हारी गोद में मेरा सिर रखा हुआ है !"

कहते हुए शशि ने आशा को गुदगुदाना शुरू किया, लेकिन अधिक सफल नहीं हो सका। शशि का सिर आशा की गोद में नहीं था। आशा यह जानती थी। इसका प्रयत्न किया शशि ने बाद में। आशा को यह अच्छा नहीं लगा। सविनय अवज्ञा का सहारा लेते हुए उसने कहा :

"चलो हटो, हर समय तुम्हें यही सूझा करता है !"

एकाएक शशि का छोटा बच्चा रोने लगा। पति को छोड़ आशा ने उसे देखना शुरू किया। कुछ देर बाद आशा को फिर शशि के पास आना पड़ा। शशि की मूक वेदना को वाचाल होने का जैसे आज पहला अवसर मिला था। वेदना इतनी प्रत्यक्ष थी कि आशा से छिपी न रह सकी।

शशि को सहारा देते हुए आशा ने पूछा :

"क्या हुआ है तुम्हें ? ऐसा तो पहले कभी नहीं हुआ था ?"

"कुछ नहीं आशा," शशि ने कहा, "साँस लेने में बड़ी कठिनाई मालूम होती है—जैसे चबक-सी मारती है। यह देखो, यहाँ दर्द हो रहा है।"

आशा के हाथ को अपने हाथ में लेकर शशि ने दर्द के स्थल पर रख दिया। इसके बाद फिर स्वयं ही रोग के लक्षण और कारणों का उल्लेख करते हुए बोला :

"जानती ही हो आशा कि आन्दोलन के दिनों में एक बार पुलिस की लाठियों का मुझे शिकार होना पड़ा था। मालूम होता है, वही चोट फिर से उभर आई है।"

शशि के सीने में, बाईं ओर, दर्द उठ रहा था। आशा से जो बन सका उसने उपचार किया,—तेल की मालिश की, फिर सेंक दी, और अन्त में अपनी गोदी में शशि का सिर रख कर माथा सहलाने लगी। शशि आँखें

बंद किये पड़ा था, और सोच रहा था उन दिनों के बारे में जबकि आश्रम में उसका जीवन बीतता था।

आश्रमी जीवन के साथ कल्पना में उभर आई कोतवाल की मूर्ति,—फिर लाठी-चार्ज और फिर दर्द,—बस, यहीं तक वह सोच पाया और इसके बाद जैसे सब कुछ एकाकार होकर जो चीज़ सामने रह गई, वह थी आशा,—माथा सहलाते-सहलाते जिसकी आँखों से आँसू बहने लगे थे। एक अज्ञात आशङ्का से वह घिर गई थी। उसे लगता था जैसे उसका सुहाग खण्डित हो गया है।

लेकिन नहीं, आशा का सुहाग नहीं, वरन् शशि की नौकरी उस दिन खंडित हुई थी, और यह एक ऐसी चीज़ थी जिसे वह आशा के सामने प्रकट नहीं होने देना चाहता था।

: ६ :

शशि को अपनी सूझ पर आश्चर्य हुआ। सूझ से अधिक आश्चर्य हुआ उसे घटनाओं के विचित्र संयोग पर। आश्रम को छोड़े हुए इतने दिन हो गए थे, कोतवाल की याद भी काफ़ी दिनों से नहीं आई थी, जैसे सब कुछ वह भूल चुका था, लेकिन उस रात, ठीक समय पर, सब कुछ जैसे फिर सजीव हो उठा।

शशि ने सन्तोष का अनुभव किया कि दर्द का एक उपयुक्त कारण वह आशा को बता सका। नौकरी छूटने के आघात की पीड़ा को वह अपने तक ही सीमित रखना चाहता था। इसी लिए वह अपने बिस्तरे पर चुपचाप पड़ा था कि कहीं कोई ऐसी-वैसी बात उसके मुँह से न निकल जाए। एकाएक उसे आन्दोलन के दिनों की याद हो आई। कचहरी पर झंडा फहराने का दृश्य आँखों के सामने मूर्त हो उठा। कोतवाल आगे-आगे थी और स्वयं-सेवकों का एक जत्था उसके पीछे-पीछे। सब आगे बढ़े जारहे थे। तभी हुक्म मिला,—बस यहीं तक, और आगे मत बढ़ना! लेकिन कोतवाल के बढ़े हुए क़दम रुकना नहीं जानते थे। इसके बाद ही लाठी चार्ज हुआ और शशि के मुँह से, अनायास ही, एक चीख़ निकल गई।

वर्तमान के करघे पर इस तरह अतीत का ताना-बाना बुनना शशि को बड़ा अच्छा लगा और जब उसने देखा कि ताना-बाना तानते-तानते एक अच्छा-खासा पैटर्न तैयार हो गया है तो स्वयं ही वह उस पर मुग्ध हो उठा। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो जीवन का अतीत ही उसके लिए वर्तमान बन गया हो।

उसकी आवाज़ सुनते ही आशा ने घबराकर पूछा,—क्यों, क्या हुआ? शशि ने उत्तर दिया कि आन्दोलन के दिनों में लगी चोट फिर से उभर आई है। यह उत्तर शशि को बहुत अच्छा लगा, और उत्तर देते समय उसने दर्द का ज़रा भी अनुभव नहीं किया। वह नहीं जानता था कि उसके मुँह से निकली बात इतनी जल्दी सच हो जायगी, और सचमुच उसके हृदय में दर्द उठने लगेगा,—बल्कि कहिए कि दर्द जीवन-भर के लिए उसके पीछे पड़ जाएगा।

जब भी शशि के दर्द उठता, अतीत और वर्तमान—दोनों को शशि भूल जाता, लेकिन दर्द का प्रभाव दूर होने पर छूटे हुए ताने-बाने को वह फिर से पूरा करना शुरू कर देता। एक ही बात की कसर शशि को इसमें दिखाई देती। वह यह कि दर्द उठने के समय आशा न होकर यदि कोतवाल पास में होती तो अच्छा होता। एक तरह का अभाव-सा शशि अपने जीवन में उस समय अनुभव करता।

कोतवाल के अभाव की पूर्ति के लिए शशि को मिली थी आशा। कोतवाल से वह कहीं अधिक सुन्दर थी, और कोतवाल की याद करते हुए आशा के सिर पर हाथ फेरना शशि को अच्छा भी लगता। आशा को कोतवाल अथवा कोतवाल को आशा समझ कर अपनाने में जो कसर रह जाती, उसकी पूर्ति शशि करता राष्ट्रीय भावनाओं के द्वारा: कहता:

"राष्ट्र का दर्द प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में होना चाहिए।"

सिर उठाकर आशा एक बार शशि के चेहरे की ओर देखती, फिर अनेक बार किए गए अपने अनुरोध को दोहराती कि जाकर डाक्टर को दिखाओ। दर्द की इस तरह उपेक्षा करना ठीक नहीं। लेकिन शशि आशा

की बात को सुनकर भी नहीं सुनता। शायद वह प्रतीक्षा करता कि दर्द ज़रा ज़ोर से उठने लगे तो किसी को दिखाने जाए।

आशा आसानी से हार न मानती। और भी ज़ोरों से तकाज़ा करती :

"उठ कर कपड़े पहनो और जाकर किसी डाक्टर को दिखाओ।"

आखिर शशि उठता, कपड़े पहनता और दरवाज़े से बाहर होते-न-होते आशा से कहता :

"अच्छी बात है। आज तुम्हारी ही बात मान कर डाक्टर के यहाँ जा रहा हूँ।"

मार्ग में पड़ने वाले प्रत्येक डाक्टर के साइनबोर्ड को देखता हुआ शशि आगे बढ़ता और एक जगह जाकर वह रुक जाता। डॉक्टर का नहीं, छापेखाने का साइनबोर्ड यहाँ लगा था। अपनी नौकरी के बचे वेतन का हिसाब चुकता करने के लिए शशि अन्दर प्रवेश करता।

: ७ :

सम्भव और असम्भव, तुकी और बेतुकी, सभी तरह की परिस्थितियों में जीवन बिताने और उनकी रचना करने का शशि अभ्यस्त हो चला था। वह उन लोगों में से था जो इससे पहले कि मारनेवाला सिर पर आ चढ़े, खुद ही मरने को तैयार हो जाते हैं। मरने और जीने के मामले में जो दैवी-अदैवी किसी भी शक्ति के हाथों में खेलना स्वीकार नहीं करते। जो सब कुछ सह सकते हैं, लेकिन यह नहीं कि उन्हें कोई कठपुतली बनाकर नचाए—चाहे वह स्वयं विधाता हो अथवा इसी संसार का कोई शक्ति-साधन-सम्पन्न व्यक्ति।

जी कर जो अमर नहीं होते, मर कर वह अमर होना चाहते हैं। जब और कुछ नहीं बनता तो जीवन की हार को छिपाने के लिए वह सु-मृत्यु की पताका फहराने का प्रयत्न करते हैं। जीवन के रुदन को, यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम एक बार,—मृत्यु के समय ही सही,—वह हँसी में परिवर्तित देखना चाहते हैं। शशि में भी कुछ इसी प्रकार के साहस का विकास होता जा रहा था। ओठों पर हँसी और हृदय में उत्साह लिए वह दम तोड़ना चाहता था,—दम तोड़ना नहीं, वरन् इस तरह अपने जीवन का अन्त होते

देखना चाहता था।

शशि के हृदय और मस्तिष्क में जीवन के प्रति एक तरह की विचित्र उपेक्षा का भाव घर कर चला। उपेक्षा न कह कर एक प्रकार की अकृज्ञता इसे कहना चाहिए,—न वह किसी का कृतज्ञ बनना चाहता न किसी को अपना कृतज्ञ बनाना चाहता। निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने के बाद भी वह जैसे अलग, कुछ दूर-दूर और खोया-खोया-सा रहता। शशि के संसर्ग में जो आते, उन्हें कम-से-कम ऐसा ही मालूम होता। सगे-सम्बंधियों तथा मित्रों के साथ-साथ शशि की पत्नी आशा भी शशि की इस उलझनी उपेक्षा से काफ़ी परेशान होती।

शशि सचमुच आशा की उपेक्षा करता। वह जीती है या मरती, उसे कुछ ध्यान नहीं रहता। आशा समझ नहीं पाती कि शशि को हो क्या गया है। अपनी उपेक्षा को तो वह सहज ही दर गुजर कर जाती, लेकिन उससे यह देखते नहीं बनता कि शशि अपने प्रति भी उतनी ही लापरवाही बरतता है। न उसके खाने का कुछ ठीक है, न पहरने का, और न-ही कहने-सुनने से उसकी समझ में कुछ आता है।

आशा की बातों को शशि इस कान से सुनता और उस कान से बाहर निकाल देता,—कभी-कभी शशि को इसका भी पता नहीं चलता कि आशा कुछ कह रही है। बहुत कुछ कहने-सुनने पर भी आशा जब देखती कि शशि पर कुछ असर नहीं पड़ा है,—शायद उसने उसकी बातों को सुना तक नहीं है,—तो अच-कचाकर वह चुप हो जाती और झुंझलाहट में पाँव पटकती रसोई घर में पहुँच जाती—चूल्हा फूंकने के लिए। इसके बाद आशा को गीली लकड़ियों के साथ अच्छी-खासी लड़ाई लड़नी पड़ती।

शशि आशा की बातों पर ध्यान न देता,—शायद यह दिखाने के लिए कि उसकी बातें ऐसी नहीं है जिन पर ध्यान दिया जाए, अथवा यह कि आशा की बातों का निपटारा करने के लिए केवल ध्यान देना ही प्रर्याप्त नहीं है। लेकिन एक दिन था जब वह आशा की बातों पर ध्यान देता था,—सम्पूर्ण रात आशा की बातों के बारे में सोचते-सोचते बिता देता था। लेकिन था वह

सब व्यर्थ, अपनी नींद खोने पर भी वह आशा की बातों का निपटारा नहीं कर पाता था। व्यर्थता की इस तीव्र अनुभूति की ज़मीन पर ही शशि की यह उपेक्षा और निश्चिन्तता खड़ी थी।

"तुम्हें हो क्या गया है", जब नहीं रहा जाता तो आशा कहती, "कम-से-कम अपने शरीर का तो ध्यान रखा करो। अपने आप, जान-बूझ कर, तुमने हृदय का यह दर्द पाला है। तीसरे-चौथे उठता ही रहता है, लेकिन तुम हो कि डाक्टर के यहाँ जाने की जैसे क़सम खाये बैठे हो! मैं तो कहते-कहते हार गई।"

"तुम कहते-कहते हार गईं और", शशि ने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा, "मैं डॉक्टरों को दिखाते-दिखाते हार गया। उनकी कुछ समझ में नहीं आता। हिर-फिर कर एक ही बात वह कहते हैं,—डट कर बिस्तरे पर आराम करो।"

शशि का यह उत्तर आशा को सन्तुष्ट नहीं करता। शशि के इस उत्तर पर उसे विश्वास भी नहीं होता। आशा को ऐसा लगता मानो उसे बहकाने के लिए ही शशि इस तरह की बातें कर रहा है। वास्तव में किसी डॉक्टर को उसने नहीं दिखाया है। दिखाया भी होगा तो इलाज करने के लिए नहीं, वरन् आशा की बात रखने के लिए,—कहने-भर को जिससे रह जाए कि हाँ, उसने डॉक्टरों को दिखाया है।

"सच जानो आशा," शशि कह रहा था, "डॉक्टरों को दिखाते-दिखाते मैं हार गया हूँ, बल्कि सच पूछो तो डॉक्टर मुझे देखते-देखते हार गए हैं। यह दर्द ऐसा नहीं है जो डॉक्टरों की पकड़ में आ सके। कहते हैं—डट कर बिस्तरे पर आराम करो। मतलब यह कि बीमार बनने में जो कसर रह गई है, उसे बिस्तरे पर पड़ कर पूरा कर दो। आज के डॉक्टरों को चलता-फिरता मरीज़ अच्छा नहीं लगता!"

शशि अपने दर्द को स्वीकार करता, उसे लेकर वह चिन्तित भी होता, लेकिन इस हद तक नहीं कि बिस्तरा पकड़ने के लिए वह मजबूर हो जाए। किसी के सामने मजबूर होना शशि नहीं जानता था। मजबूर होता भी था

से किसी को इसका पता नहीं होने देता था कि किस सीमा तक और किस रूप में उसने मजबूरी को अपनाया है। मजबूरियों के मामले में शशि अत्यधिक हिसाबी मस्तिष्क का परिचय देता, और अपने इस हिसाब-किताब का वह दृढ़ता के साथ पालन करता।

शशि के दर्द का पास-पड़ोस के मिलने-जुलने वालों में आशा ने अच्छा प्रचार कर दिया। बातें करने के लिए शशि का दर्द आशा के लिए एक अच्छा विषय था,—मानो इसके अतिरिक्त शशि में और कुछ उल्लेखनीय ही न हो। शशि के इस दर्द से भी अधिक आशा ज़िक्र करती इस बात का कि कहने-सुनने पर भी शशि अपने दर्द का इलाज नहीं करता। कहते-कहते आशा का गला भर आता और सुनने वाले कुछ ऐसी करुण दृष्टि से आशा को देखते मानो उनकी आँखों के सामने ही आशा का भविष्य अंधकारमय होता जारहा है।

शशि के दर्द की बदौलत आशा पड़ोसियों की नज़र में करुणा का पात्र बन गई। आशा की बात सुनने के बाद सब एकमत हो यही कहते कि दर्द के प्रति इतनी लापरवाही ठीक नहीं। शशि को इलाज कराना चाहिए। अनेक छोटे-बड़े डॉक्टरों के नाम भी वे गिना जाते। आशा उनके परामर्शों को सुनती और सुनकर रह जाती। उसे यह देख कर बड़ा दुःख होता कि पड़ोसी तक जिस बात को इतनी आसानी से समझ जाते हैं, शशि की समझ में वह क्यों नहीं आती। जब और कुछ नहीं बनता तो वह कहती :

"डॉक्टरों की कमी यहाँ थोड़े ही है। एक-से-एक भरे पड़े हैं। लेकिन वह दिखाएँ तब न!"

शशि के दर्द को लेकर आशा ने अच्छे-ख़ासे पुराण की रचना करली। शशि को यह अच्छा नहीं मालूम होता कि घर में और बाहर हर घड़ी उसके दर्द का ही रोना चलता रहे। दर्द के बाद भी बहुत कुछ है जो बच रहता है। शशि चाहता कि दर्द को छोड़कर आशा और कुछ भी देखे। दर्द के प्रति शशि की उपेक्षा का भी शायद यही रहस्य था,—वह दिखाना

चाहता था कि दर्द उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। इस दिशा में शशि काफ़ी आगे बढ़ता। जिन दिनों दर्द उठता, वह डटकर काम करता।

"तुम्हें भी एक ज़िद सवार होगई है," आशा कहती, "डॉक्टर कहते हैं आराम करने को और तुम्हें इन्हीं दिनों काम की सूझती है। बन्द करो यह सब। शरीर अच्छा रहेगा तो चाहे जितना काम कर लेना। मैं ज़रा भी मना नहीं करूँगी।"

होते-होते एक दिन बात बहुत आगे बढ़ गई। आशा का करुण-कोमल अनुरोध और शशि की उपेक्षा दोनों ही सीमा पार कर चलीं। आशा का अनुरोध शशि को अवाञ्छनीय हस्तक्षेप मालूम हुआ और एक ही बार में उसका अन्त करने के लिए वह उतावला हो उठा। झटके के साथ आशा को अपने से अलग करते हुए शशि ने कहा :

"बस, बहुत हो चुका आशा। मुझे जो करना है, वही मैं करूँगा। तुम्हें बीच में पड़ने की कोई जरूरत नहीं।"

"बीच में पड़ने की जरूरत क्यों नहीं है," आशा ने झुंझला कर कहा, "मैं बीच में नहीं पड़ूँगी तो और कौन पड़ेगा? तुम इस तरह तिल-तिल करके गलते रहो और मैं कुछ न बोलूँ, यह मुझसे नहीं हो सकता।"

शशि के सिर पर उस दिन जैसे एक भूत सवार हो गया। आशा से ऐसी बातें भी वह कह गया जिन के लिए बाद में उसे बड़ा पछतावा हुआ। आँसुओं की वर्षा के साथ आशा के मुंह से निकला :

"यह दिन दिखाने के लिए ही क्या तुमने मुझसे विवाह किया था। ऐसी बात मुंह से निकालने से पहले, अच्छा होता, यदि तुम मेरा गला घोट देते।"

कभी-कभी शशि और भी आगे बढ़ जाता। आशा की मुसीबत हलकी करने के लिए वह मिट्टी के तेल और अफीम की गोलियों तक की याद दिलाता। याद ही नहीं दिलाता, वरन् शशि ने घर में अफ़ीम लाकर रख भी दी। जिस दिन शशि अफीम लेकर आया, आशा को बुलाकर उसने कहा :

"यह देखो, दो मात्राएँ इसमें हैं। एक तुम्हारे लिए, और दूसरी मेरे

लिए। हम दोनों ने विवाह करके जो उलझन मोल ली है, उससे छुटकारा पाने का इससे अच्छा उपाय और कोई नहीं हो सकता !"

"ठीक है, यही करना अब बाकी रह गया है," आशा कहती—"एक साथ जीना सम्भव नहीं हुआ तो लगे मरने की सोचने !"

शशि को एक नया सिलसिला मिल गया। अपने और आशा के सह-मरण की अब वह अक्सर बातें करता। इन बातों में उसे कुछ रस भी मिलता। लेकिन एक रात उसका हृदय आशङ्कित हो उठा। आशा का जी अपेक्षाकृत खराब हो चला। रह-रह कर वह कराह उठती। शशि को लगा कि हो-न-हो, आशा ने कुछ खा लिया है।

उस रात आशा का अपनी सुध-बुध पर जैसे कोई वश नहीं रहा। उसकी अवस्था देखकर शशि घबरा उठा। स्फुट शब्द आशा के मुंह से निकल रहे थे। इन शब्दों को जोड़ने पर वाक्य बनता,—'मैंने कब कहा था।' क्या कहा था, प्रयत्न करने पर भी शशि कुछ नहीं जान सका। फिर-फिर कर यही वह दोहराती कि मैंने कब कहा था। थोड़ी देर बाद यह वाक्य जैसे कहीं जाकर विलीन हो गया और दूसरी ध्वनि सामने आने लगी,—"मैं कहीं नहीं जाने की। तुम्हें छोड़कर भला मैं और कहा जा सकती हूँ ?"

शशि की कुछ समझ में नहीं आया कि बात क्या है ? कुछ समझ सकने योग्य स्थिति उसकी थी भी नहीं। रह-रह कर शशि का यह सन्देह दृढ़ होता गया कि आशा ने सचमुच अफ़ीम की मात्रा का प्रयोग किया है। जो भी हो, कुछ देर बाद, आधी रात बीतने पर, आशा को कई उलटी हुईं और दो-तीन दिन का काया-कष्ट झेल कर वह अच्छी हो गई।

शशि ने सन्तोष की साँस ली,—अफीम की मात्रा के सहारे जिस यात्रा पर आशा चल पड़ी थी, उससे वह वापस लौट आई। इसके बाद शशि ने आशा से सहमरण की बातें करना छोड़ दिया। एक तरह की करुण और स्निग्ध दृष्टि से भी वह अब आशा को देखने लगा।

"तुम्हें क्या पागलपन सवार हो गया था उस दिन," स्नेह-स्निग्ध भूमिका के बाद एक दिन शशि ने आशा से पूछा, "कहीं कोई ऐसे भी

करता है।"

"मानों तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं," आशा ने उत्तर दिया, "यह सब तुम्हारी करनी का ही तो फल है!"

"मैं तो हँसी कर रहा था आशा," शशि ने कहा, "इसका मतलब यह थोड़े ही था कि तुम सचमुच में अफीम चट कर जाओ!"

अफीम की बात सुन कर आशा कुछ चौंकी। उसने शशि से पूछा :

"अफीम कैसी ? मैंने तो उसकी सूरत भी नहीं देखी ?"

"अच्छा ठहरो आशा", शशि ने कहा और उठकर उस जगह पहुँचा जहां उसने अफीम की दोनों मात्राएँ रखी थीं। वहाँ जाकर वह खड़ा हो गया। फिर उसी तरह वह वापिस लौट आया। पुड़िया को खोल कर उसने नहीं देखा। आशा ने उस रात अफीम खाई थी अथवा और कुछ उसे हो गया था,—संदेहात्मक स्थिति में ही शशि ने इस समस्या को रहने दिया।

"जो बीत गया है, उसे लेकर व्यर्थ ही परेशान होने से क्या लाभ," शशि ने अपने मन में कहा और बिना किसी दुविधा संकोच के, मुक्त हृदय से आशा को अपना बनाने के अपने निश्चय को बार-बार दोहराता अलमारी के पास से लौट आया।

: ८ :

तुम्हारी करनी का ही तो यह फल है जो मैं भोग रही हूँ,—आशा का यह वाक्य, आगे चलकर, शशि को अनेक बार सुनना पड़ा। शशि की करनी का आशा इतना विरोध नहीं करती थी, जितना कि उसकी करनी के फल का। मधुर तिरस्कार के साथ वह शशि से कहती :

"तुम्हारा क्या है। तुम तो दो घड़ी का खेल करके अलग हो जाते हो। मुसीबत तो हम लोगों की है जिन्हें...."

आशा के मधुर तिरस्कार का उत्तर भी शशि मधुर परिहास में देता।

"कुछ स्त्रियाँ होती हैं जिन्हें विधाता", शशि कहता, "देश और समाज के सामने मातृत्व का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए चुन रखते हैं। मालूम होता है, तुम्हारा निर्माण भी विधाता ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए

किया है ।"

कहते कहते शशि उठ खड़ा होता और फिर, आशा के सामने दोनों हाथ जोड़ कर, वन्दना शुरू करता :

"सुजलां, सुफलां, शस्य श्यामलां—वन्देमातरम् !"

विवाह के बाद आशा ने अपने फलवती होने का प्रमाण काफ़ी तेज़ी से देना शुरू कर दिया था और बाद के वर्षों में जिस गति के साथ आशा इस दिशा में आगे बढ़ रही थी, वह भी कुछ कम नहीं थी,—मालूम होता था कि शीघ्र ही घर के आँगन में खेलने के लिए एक अच्छी-ख़ासी टीम तैयार हो जायगी ।

"देवी जी का कहना यथार्थ है कि मेरी करनी का ही यह सब फल है जो आज दिखाई पड़ रहा है,"—वन्दना करने के बाद शशि कहता, "लेकिन यह मैं नहीं मान सकता कि इस करनी के फल का भुगतान केवल देवी जी को ही करना पड़ता है, मुझे नहीं ।"

"इसीलिए तो मैं कहती हूँ कि," आशा को अपनी बात का समर्थन करने के लिए जैसे एक और पुष्ट प्रमाण मिल गया, "कुछ ऐसा क्यों नहीं करते जो फल का भुगतान न तुम्हें करना पड़े और न मुझे,—जिससे दोनों को ही सुख और सन्तोष मिले ।"

"सुनता हूँ, निष्काम करनी फल की चिन्ताओं से मुक्त होती है," शशि आशा को सहारा देते हुए कहता, "कुछ वैसी ही करनी के प्रयोग अब मैं शुरू करूँगा ।"

निष्काम करनी के प्रयोग क्या होते हैं, आशा कुछ न समझ सकी । शशि ने आशा को विश्वास दिलाया कि वह निश्चिन्त रहे,—अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, आगे से ऐसा नहीं होगा । लेकिन शशि का यह आश्वासन सत्य सिद्ध नहीं हुआ । अनेक बार ऐसा हो चुका था । आख़िर झुँझला कर आशा कहती :

"इस बार तो मैं धोखे में आगई । आगे से तुम्हारी एक बात नहीं मानूँगी ।"

फल की चिन्ता से मुक्त निष्काम कर्म करने का जो आनन्द होता है, उसका उपभोग करने का अवसर न तो शशि को कभी मिला, और न आशा को। विवाह के प्रथम वर्ष से ही फल की चिन्ता ने उनके आनन्द को तोप लिया था और, उस आनन्द के अभाव में, उनके जीवन में प्रवेश किया एक प्रकार की अतृप्ति ने—एक ऐसी अतृप्ति ने जो कभी शान्त नहीं होती।

"फल की चिन्ता से मुक्त होकर काम करने का सौभाग्य बिरलों को ही प्राप्त होता है," एक दिन शशि ने आशा से कहना शुरू किया, "हमारे लिए तो जैसे वह निर्धन का एक स्वप्न बन कर रह गया है।"

निर्धन के इस स्वप्न को सार्थक करने की आकांक्षा, उचित मार्ग न मिलने पर, जैसे सिर धुन कर रह जाती। जब और कुछ नहीं बनता तो फल की चिन्ता से मुक्त करनी का आनन्द प्राप्त करने के लिए आँखें बन्द करके शशि आगे बढ़ता,—बढ़ना चाहता। उसे यह अच्छा नहीं लगता कि जब देखो तब फल की चिन्ता ही सिर पर सवार रहे।

"तुम्हारी वेदना और कष्टों को मैं अच्छी तरह समझता हूँ, आशा!" शशि कहता, "लेकिन यह मुझे अच्छा नहीं लगता कि हर घड़ी तुम्हारा एक ही रोना चलता रहे!"

लेकिन शशि की तरह फल की चिन्ता को आँखों की ओट कर आगे बढ़ना आशा के लिए सम्भव नहीं होता,—बढ़ती भी तो आशङ्कित हृदय से। उत्साहित करने के अनेक प्रयोग करने के बाद भी शशि आशा के हृदय की इस आशंका और उसके चिन्तित विरोध को दूर नहीं कर पाता। अपने सभी प्रयत्नों को विफल होते देख एक प्रकार की झुँझलाहट भी शशि के सिर पर सवार हो जाती। शशि को लगता कि उसका विरोध करने तथा उसे नीचा दिखाने के लिए आशा ने फल की चिन्ता को एक बहाना-मात्र बना लिया है।

परवशता की मूर्ति बनकर तभी आशा शशि से कहती :

"इस तरह तो तुम एक दिन मेरी जान लेकर छोड़ोगे!"

कभी-कभी शशि यह भी सोचता कि जीवन को सुखी बनाने के लिए

एक ही पत्नी पर्याप्त नहीं है। कम-से-कम दो होनी चाहिएँ। उसके पास यदि एक पत्नी और होती तो सहज ही आशा का बोझ हल्का हो जाता।

"मेरा घर तो सन्तानोत्पादन की फ़ैक्टरी हो गया है," अपने मित्रों में शशि ने कहना शुरू किया, "और काम इतना अधिक बढ़ गया है कि एक अकेली आशा उसे संभाल नहीं सकती। इसलिए," घर, फ़ैक्टरी और सन्तानोत्पादन की तुलना आगे बढ़ चलती, "डबल शिफ़्ट रखने की आवश्यकता का मैं अनुभव कर रहा हूँ।"

डबल शिफ़्ट अर्थात् दो पत्नी रखने की आवश्यता का ज़िक्र एक दिन शशि ने आशा से भी किया, लेकिन दूसरे रूप में, और काफ़ी घुमा-फिराकर। परवशता की मूर्ति बनी आशा सामने बैठी थी और शशि उससे कह रहा था :

"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति तिन देखी तैसी। बहुत प्रचलित कहावत है और अनेक बार तुमने इसे सुना होगा। भगवान् की मूर्ति में कुछ ऐसी ही विशेषता होती है कि अनेक रूपों में वह अपने भक्तों को दर्शन देती है।"

शशि की इस भगवत्-चर्चा के आशय को आशा एकाएक पकड़ नहीं सकी। उसकी खोई-सी आँखें शशि के चेहरे पर टिकी हुई थीं। कुछ क्षण रुक कर शशि ने फिर कहना शुरू किया :

"लेकिन आशा, इसमें न भगवान् की मूर्ति की ही कोई विशेषता है, और न भक्त की भक्ति की ही। इससे यदि कुछ प्रकट भी होता है तो भक्त की परवशता, और साधन-हीनता ही प्रकट होती है। भगवान् न हुए, ऑल-यू-वाण्ट-स्टोर अथवा गड़बड़झाला का बाज़ार हो गए।"

"भला यह भी कोई बात है", शशि ने अपने आशय को अधिक प्रत्यक्ष करते हुए कहा,—"भगवान् भक्त के यहाँ आकर उसके पाँव दबाते हैं, बरतन माँजते हैं, झाड़ू देते हैं—शायद ही कोई काम ऐसा हो जिससे उन्हें मुक्त किया गया हो!"

शशि के वक्तव्य का भूमिका-भाग अब समाप्त हो गया था। कुछ रुक कर

बोला :

"भगवान् और भक्त तक ही यह कारोबार सीमित नहीं है। इसका प्रसार काफी व्यापक है। अपने ही घर में देखो न—माँ, बहिन, भाभी, पत्नी, दासी—कितनी भूमिकाएँ तुम्हें निभानी पड़ती हैं। एक तुम्हीं से सारे काम मुझे लेने पड़ते हैं। लेकिन किया भी क्या जाए", शशि अपने वक्तव्य को सम्पूर्ण करते हुए कहता, "तुम तो सब जानती ही हो।"

"मैं सब समझती हूँ," उत्तर देते हुए आशा कहती, "कष्टों से मैं ज़रा भी नहीं घबराती। लेकिन जहाँ इतना खर्च होता है", फल-निरोध के किसी उचित प्रसाधन का प्रबन्ध करने की ओर आशा का लक्ष्य था, "वहाँ इतना और सही। जीवन तो दुःखम-सुखम चले ही जाता है, लेकिन यह बार-बार नौ महीने की कैद मुझसे नहीं सही जाती।"

"निरोध की बात तुम कर रही हो आशा", शशि कहता, "नहीं, वह हमारे-तुम्हारे लिए नहीं है। उससे हमारी समस्या का हल नहीं हो सकता।"

आशा की वेदना और परवशता जब कभी अधिक मूर्त हो उठती, तब स्वयं शशि भी निरोध की आवश्यकता का अनुभव करता और सोचता कि अगली बार से वह अवश्य किसी निरोधात्मक प्रसाधन का सहारा लेगा। लेकिन ऐसा हो नहीं पाता। जैसे ही आशा की वेदना और परवशता कम होती, वह निरोध की बातों को भी भूल जाता।

× × × ×

निरोध की समस्या को लेकर मित्रों में एक दिन बातें चल रही थीं। आशा की वेदना और परवशता का पक्ष लेकर शशि के एक मित्र शशि को भला-बुरा कहने लगे। अपनी बातों में शशि के लिए गैर-जिम्मेदार शब्द तक का उन्होंने प्रयोग किया।

शशि के इन मित्र का नाम था जीवनराम।

"निरोध में मेरा ज़रा भी विश्वास नहीं है," जीवन राम के आरोप को चुपचाप सुनने के बाद शशि ने कहा, "यह बिल्कुल वैसा ही होगा जैसा कि अपने बच्चों के खाने-पीने का प्रबन्ध न कर सकने पर उन्हें गला घोट कर मार

डालना,—न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी !"

फल की चिन्ताओं से शशि भी उतना ही परेशान होता जितना कि आशा अथवा शशि के मित्र । आशा की वेदना और परवशता का भी वह अनुभव करता, लेकिन यह उसकी समझ में नहीं आता कि फल की चिन्ता को सामने रखकर निष्काम अथवा सकाम करनी का विरोध करने से क्या लाभ हो सकता है। निरोध के प्रयत्नों को भी वह कुछ इसी श्रेणी की चीज़ समझता ।

"निरोधी क्षेत्र के सुप्रसिद्ध प्रचा‌‌‌ नारमन हेयर का नाम आपने सुना होगा," मनचीता स्वर न ‌‌ वाली बाँसुरी से बदला लेने के लिए बाँस पर आघात करने की भ्रान्ति को प्रत्यक्ष करते हुए शशि आगे बढ़ता,—"कहते हैं कि जिस परिवार में उसने जन्म लिया था, बच्चों-कच्चों की उसमें भरमार थी। फलतः नारमन ‌यर को अपने माता-पिता का उतना प्यार और देख-भाल नहीं मिल सकी जितनी कि मिलनी चाहिए,—शिक्षा-दीक्षा भी उनकी ठीक से नहीं हुई । बड़े होने पर वही निरोधी क्षेत्र के सूत्रधार बने । परिवार में अधिक बच्चे नहीं होने चाहिएँ, आगे चलकर इसका प्रचार करना ही उनके जीवन का मूल-मंत्र हो गया।"

कुछ क्षण ठहर कर शशि ने फिर कहना शुरू किया :

"बचपन की उस भावना को बड़े होने पर भी वह नहीं भूले, न ही बड़े और समझदार आदमी की दृष्टि से वह इस समस्या पर नजर डाल सके। अपने अन्य भाई-बहिनों को कूड़े के ढेर पर फेंक कर वह अकेले ही घर के राजा बनना चाहते थे,—यह इसलिए कि ‌ता-पिता का सारा प्रेम उन्हीं पर निछावर हो। बड़े होने पर भी बचप‌ के इस तल से वह ऊपर नहीं उठ सके, और सन्तानों की संख्या सीमित करना ही उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य हो गया !"

जीवनराम बड़े ध्यान से शशि की बातों को सुन रहे थे। शशि कह रहा था :

"बच्चों की शिक्षा-दीक्षा ठीक से नहीं हो पाती, इसके कारण बिल्कुल

दूसरे हैं। बहिन-भाइयों के अस्तित्व को—केवल अपनी शिक्षा-दीक्षा और देख भाल की खातिर—आँखों की ओट न कर नारमन हेयर साहब दूसरा काम भी कर सकते थे। वह यह कि अपने बहु संख्यक भाई-बहिनों को संगठित कर उस व्यवस्था और शासन-प्रणाली से लोहा लेते जिसके कारण भाई-बहिनों की शिक्षा-दीक्षा ठीक से नहीं हो पाती!"

"यह सब कुछ ठीक हो सकता है," जीवन राम ने कहा, "लेकिन फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बरसाती मेंढकों की तरह आज कल बच्चे पैदा होने लगे हैं। न समय देखते हैं, न अ-समय, उन्हें तो बस अपने पैदा होने से मतलब!"

"सन्तानोत्पादन की तो जैसे आजकल बाढ़ आ गई है," एक दूसरे मित्र ने भी स्वर में स्वर मिलाना शुरू किया, "और जितनी बहु-संख्या में वे पैदा होते हैं, उतनी बहु संख्या में मरते भी हैं। राष्ट्रीय शक्ति का यह अपव्यय नहीं तो क्या है?"

"राष्ट्रीय शक्ति का अपव्यय!" शशि का स्वर कुछ तेज़ हो चला, "चाहें तो आप के साथ इस अपव्यय पर दो बूँद आँसू गिराने की रस्म मैं भी अदा कर सकता हूँ। मृत शिशुओं की संख्या पर भयावह प्रदर्शन आप लोग करते हैं, लेकिन इन मृत शिशुओं के बाद भी जो बच रहते हैं, उनकी ओर आपका ध्यान नहीं जाता—ध्यान देना शायद चाहते भी नहीं। आपको तो चिन्ता पड़ी है निरोध करने की,—उन बच्चों का निरोध जिनका कोई अस्तित्व नहीं है!"

अपने स्वर की तेजी से स्वयं शशि कुछ अप्रतिभ-सा होकर रह गया। स्वर को कुछ संयत करने के बाद उसने कहना शुरू किया:

"सन्तानोत्पादन की बाढ़, राष्ट्रीय शक्ति का अपव्यय और इस अपव्यय से बचने के लिए निरोध के उपाय—इन तीनों की आवश्यकता है। निरोध के ये उपाय अपने आप सामने नहीं आए हैं, वरन् इन्हें सामने लाया गया है। अच्छा-खासा और सुव्यवस्थित महाजनी व्यवसाय इनके सहारे चल रहा है।"

बच्चों के जन्म-मरण के खाने के हिसाब-किताब का परिचय देते हुए शशि ने कहा :

"निरोध का जिक्र करते हुए उस व्यक्ति का उदाहरण मैंने सामने रखा था जो भूख की व्यथा को न देख सकने के कारण अपने बच्चों का गला घोट देता है। बच्चों की भूख इस तरह दूर नहीं होती, वरन् देखने वाले की व्यथा अवश्य आँखों की ओट हो जाती है। नारमन हेयर साहब भी उस व्यक्ति से भिन्न नहीं हैं। सन्तति-निरोध का परिणाम भी वैसा ही होता है।"

कुछ रूक कर शशि ने फिर कहा :

"निरोध को उसके मूल रूप में देखना होगा। बर्बर युग में ऐसी जातियाँ होती थीं जो अपनी कन्याओं को, जन्म लेते ही, मार डालती थीं। अपनी जाति के शक्ति-संगठन को बनाए रखने के लिए ही वे ऐसा करती थीं। पड़ोसी-जातियों की लूट-खसोट पर इन जातियों का जीवन-निर्वाह निर्भर करता था। लड़कियों का निरोध करने तथा केवल लड़कों को ही जीवित रखने वाली लुटेरा जातियों के मुकाबले में ऐसी जातियाँ भी थीं जो लड़कियों के बजाय अपने लड़कों को जन्म लेते ही, मार डालती थीं और केवल लड़कियों को ही जीवित रखती थीं। लुटेरा जातियों की लूट-खसोट से अपने को बचाने के लिए वे ऐसा करती थीं।"

पहले एक ऐसी जाति का शशि ने परिचय दिया जो अपनी कन्याओं को जन्म लेते ही मार डालती थी। इसके बाद शशि ने एक दूसरी जाति का परिचय देना शुरू किया जो अपनी पुरुष-सन्तानों को मार डालती थी और कन्याओं को जीवित रखती थी। पहले वाली कन्या-हीन लुटेरा-जाति को पाली पोसी हुई कन्याएँ सप्लाई करने का काम इस दूसरी जाति ने अपने सिर लिया और इस तरह लुटेरा-जाति के जीवन का वह एक अनिवार्य अङ्ग बन गई थी। इन दोनों जातियों के लेन-देन का चित्र प्रस्तुत करने के बाद शशि ने कहना शुरू किया :

"इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी तरह की जाति भी हमें दिखाई पड़ती है। यह जाति आदान-प्रदान के फेर में न पड़ कर स्वाश्रयी बनाने का प्रयत्न

करती थी। लड़के और लड़की,– दोनों को यह जाति जीवित रखती थी और आपस में ही उनका विवाह कर देती थी। घर का धन घर में ही रहे, इसलिए बहिन-भाई ही आपस में विवाह कर लेते थे। मानव-जाति के इतिहास में," शशि ने कहना शुरू किया, "यह जाति ही एक ऐसी थी जो शाब्दिक मानी में 'आत्मिक मिलन' का दृश्य प्रस्तुत करती थी!"

अपने वक्तव्य को सम्पूर्ण करते हुए शशि कह रहा था :

"जिन कारणों को लेकर एक जाति लड़कियों का नाश करती थी, उन्हीं कारणों को लेकर दूसरी जाति लड़कों को मार डालती थी, और तीसरी जाति ने जो बहिन-भाइयों का विवाह करना शुरू किया, वह भी उन्हीं कारणों को लेकर। इसके बाद, जैसा कि हम आज देखते हैं बहिन-भाइयों के आत्मिक मिलन का खण्डन शुरू हुआ,—उनका विवाह वर्जित करार दे दिया गया और सबसे अन्त में एक ओर हम नारमन हेयर साहब को देखते हैं और दूसरी ओर भूख की व्यथा को न देख सकने के कारण अपने बच्चों का गला घोटने वाले पिता को!"

"बिलकुल सीधी-सी बात है," शशि का स्वर एकाएक तेज हो चला, "एक ओर तो हम ऐसा जनसमूह देखते हैं जो भूखा है, पेट की आग ने जिसे परेशान कर रखा है और दूसरी ओर उत्पादन और खपत पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए अनाज से भरे गोदाम जला डाले जाते हैं! प्रश्न है, ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? व्यावसायिक हितों पर चोट करने के लिए भूखे जन-समूह का संगठन किया जाए अथवा व्यावसायिक हितों को आँखों की ओट कर कहा जाए—जन-संख्या अत्याधिक बढ़ गई है, इसलिए भूख का यह हाहाकार सुनाई पड़ रहा है। इस भूखे जन-समूह के माता पिता यदि सन्तति-निरोध का प्रयोग करते होते तो सब कुछ ठीक रहता!

भूख की व्याथा को न देख सकने पर अपने बच्चों का गला घोंट देने वाले व्यक्ति की उस समय जो अवस्था रही होगी, कुछ वैसी ही मुद्रा और मनस्थिति में इस समय शशि भी पहुँच गया था। उसकी

आँखों में व्यंग और वेदना का एक ऐसा भाव समाया था कि उसकी ओर एकाएक देखने का साहस नहीं होता था ।

"आशा की गोद में से उठाकर धरती माता अथवा यमुना मैया की गोद में अपने शिशुओं को सौंपने का श्रेय इन हाथों को प्राप्त हो चुका है। आप विश्वास कीजिए", शशि का स्वर भारी हो चला, "उस समय मेरे हृदय की अवस्था चाहे जैसी रही हो, लेकिन मेरे बच्चे को अपने में समाने के लिए धरती माता का हृदय नहीं फटा था । उसके लिए छोटा-सा-गढ़ा बनाने के लिए भी फावड़े का सहारा मुझे लेना पड़ा था और," शशि की वेदना जम कर जैसे पत्थर हो गई, "नाव में बैठकर अपने मृत शिशु को लिए यमुना की बीच-धारा में जब पहुँचा तो उसे अपनी गोदी में लेने के लिए यमुना मैया ने भी अपने हाथ फैला नहीं दिए—नहीं, एक भारी-सा पत्थर बाँध कर उसे जल में छोड़ा गया था !"

शशि के कई बच्चे मर चुके थे और उनकी मृत्यु का गहरा आघात उसके हृदय पर लगा था। मिट्टी को ठिकाने लगा कर जब वह घर पहुँचा तो आशा की ओर देखने का एकाएक उसे साहस नहीं हुआ । आशा भी चुप थी। एक ही बात उसके मुँह से निकली थी, "परमात्मा या तो बालक दे नहीं, दे तो उनकी जान न ले !"

आशा को धीरज बँधाने के लिए शशि ने उस समय जो कुछ कहा, उसे वह कभी नहीं भूला—वे शब्द जैसे उसके जीवन का गायत्री-मंत्र बन कर रह गए।

"बालकों को लेकर इतना मोह करने की आवश्यकता नहीं," शशि ने कहा, "उनके जीने की कामना हमारे-तुम्हारे लिए व्यर्थ है। हमारे पास धन नहीं, सम्पत्ति नहीं। फलतः अपने पीछे धन-सम्पत्ति की रखवारी करने वाले उत्तराधिकारियों की भी हमें आवश्यकता नहीं । इसके अतिरिक्त यदि तुम यह समझती हो कि वे तुम्हें बुढ़ापे में बिठाकर खाना खिलावेंगे,"—शशि के ओंठ बल खा चले,—"सो तुम देख ही रही हो कि बेकारी का आजकल क्या हाल है। मुझे तो इसकी भी उम्मीद नहीं है कि अप.ा पेट भरने-योग्य

अन्न वे प्राप्त कर सकेंगे।"

आशा शशि के मुँह की ओर एक टक देखती रही। शशि कह रहा था :

"हमारे-तुम्हारे जीवन में बालकों की एक ही उपयोगिता है—कुछ उसी तरह की जैसी कि छोटे बालकों के जीवन में खिलौनों की होती है। बड़े हो गए हैं, इसलिए मिट्टी के खिलौनों से काम नहीं चलता। फिर भी खेलने के लिए कुछ चाहिए ही। उसी की पूर्ति ये बच्चे करते हैं। जिस तरह खिलौने टूट जाते हैं, उसी तरह बच्चे भी मर जाते हैं।"

"नौ महीने की सख़्त कैद जो तुम्हें होती है," कुछ क्षण रुक कर शशि ने फिर कहा, "उसका भी मुझे ध्यान है। कष्ट तुम्हें होता है, लेकिन उसका आनन्द भी तो तुम्हें मिलता है। जितने दिन भी बच्चे जीते हैं, सभी कष्टों को भुला देते हैं,—नौ महीनों के कष्टों का प्रतिदान करने में हमारा कोई भी बालक पीछे नहीं रहा। इससे अधिक की आशा उनसे करनी भी नहीं चाहिए।"

शशि के हृदय पर सात महीने के एक छोटे बच्चे की आकस्मिक मृत्यु का गहरा प्रभाव पड़ा था। शशि देखता ही रह गया और बच्चा हाथ से निकल गया। आशा उसे दूध पिलाकर खाना बनाने चली गई थी। दूध की स्लीपिंग डोज़ पाकर वह सो गया था। घण्टा-भर बाद उसके रोने की आवाज़ सुनकर आशा भागी हुई आई। गोदी में उठाकर देखा तो वह काँप उठी—इस तरह तो पहले वह कभी नहीं रोता था। रह-रह कर बच्चे के होठ बल खा रहे थे।

शशि को बुलाकर उसने कहा :

"देखो तो, इसे न-जाने क्या हो गया है ?"

बच्चे को लेकर शशि डॉक्टर के यहाँ गया। देखते-देखते तेज़ बुख़ार उसे चढ़ आया। साँझ होते-होते उसका जी अधिक ख़राब हो गया। रात होते-न-होते उसे अस्पताल में भरती करा दिया और दूसरे दिन, दोपहर होते न होते, वह चल बसा!

दो बच्चे शशि के जीवित थे,—एक लड़का और एक लड़की। अपने

छोटे बच्चे की मिट्टी को मिट्टी में मिलाकर जब वह लौटा तो लड़की पूछने लगी :

"बाबू जी, बेबी कहाँ है ?"

"अस्पताल में है मुन्नी", शशि ने कहा, "डॉक्टर साहब ने उसे रख लिया है। आराम होने पर बेबी आजाएगा।"

इसके बाद आशा को उसने समझाना शुरू किया :

"दुख तो होता ही है। कुत्ते-बिल्ली के बच्चों तक को भी हम, साथ में रहने पर, प्यार करने लगते हैं। वह तो ख़ैर हमारा अपना बच्चा था। लेकिन कोई बात नहीं। तुम तो बनी हो और परमात्मा करे तुम सदा बनी रहो,—बच्चों की फिर कोई कमी नहीं रहेगी।"

आँसुओं से भीगे आशा के कपोलों पर झुंझलाहट और लज्जा की लाली दौड़ गई :

"बस करो अब, मुझे और बच्चे नहीं चाहिएँ। जो हैं, वे बने रहें।"

कई महीने बीत गए। आशा और शशि सात महीने के उस बच्चे को एक तरह से भूल चले, लेकिन लड़की नहीं भूल सकी। वह आकर पूछती :

"बाबू जी, अस्पताल से बेबी अभी तक नहीं आया ? कब तक अच्छा होगा वह ?"

"डॉक्टर साहब ने ही उसे रख लिया है", शशि ने उत्तर दिया, "वह कहते हैं, कि यह बेबी बहुत अच्छा है, इसे हम अपने पास ही रखेंगे।"

"नहीं बाबू जी", मुन्नी ने कहा, "अपने बेबी को अस्पताल से ले आओ। वह तो हमारा बेबी था, डॉक्टर साहब उसे कैसे रख सकते हैं ?"

"लेकिन मुन्नी", शशि ने उसे अपनी गोदी में खींचते हुए कहा, "ममी तुम्हारे लिए एक नया बेबी बना रही हैं—छोटा-सा और बड़ा सुन्दर !"

अपने बाबू जी की गोदी से खिसक कर मुन्नी आशा के पास पहुँची।

बोली :

"बाबू जी कहते हैं, हमारे लिए तुम एक नया बेबी बना रही हो ?"

"तेरे बाबू जी तो पागल हो गए हैं", आशा ने कहा, "इसके सिवा उन्हें और कुछ करने के लिए रह ही नहीं गया है। उनकी बातों में न आना।"

नौ महीने की क़ैद भुगतने के बाद जब नया बेबी बाहर आया तो मुन्नी बहुत खुश हुई। सब से यही कहती फिरती :

"अस्पताल से हमारा बेबी अच्छा होकर आ गया है। मैं तो जानती थी, डॉक्टर साहब के पास वह कभी नहीं रहेगा !"

आशा भी अपने बच्चों को बहुत प्यार करती,—विशेष कर उस समय जब कि वे, नौ महीने की क़ैद भुगतने के बाद, उसकी गोद में आकर खेलने लगते। वह उन्हें देखती और मुग्ध हो कर रह जाती। भूल कर भी कभी कोई अनचाही भावना उसके हृदय में प्रवेश न करती। सपने में भी उसे यह नहीं मालूम होता कि उसके बालक अनचाहे हैं, अथवा कभी अनचाहे हो सकते हैं।

यह सब होते हुए भी नौ महीने की क़ैद का आशा सदा विरोध करती, उस क्रिया विशेष का भी वह विरोध करती जिसके परिणाम स्वरूप नौ महीने की क़ैद उसे भुगतनी पड़ती। शशि को वह रोकती, वह न मानता तो बेमन से और लाश-सी बन कर आत्मसमर्पण करती। इसके बाद भी जब फंस जाती तो गर्भ रूपी नौ महीने की क़ैद से छुटकारा पाने के प्रयत्न भी वह करती। भारी बोझ वह उठा चुकी थी, एक बार सीढ़ियों पर से फिसल कर नीचे गिरने की दुर्घटना को भी वह सही-सलामत पार कर चुकी थी। उस रात जो आशा की तबीयत ख़राब हो गई थी, वह भी इसीलिए कि गरम पदार्थों का काढ़ा पीते समय शायद उसने नहीं सोचा था कि स्वयं उसकी जान पर भी आ बनेगी। शशि तो उसे देखकर घबरा ही गया। लेकिन हुआ कुछ नहीं,—वह नौ महीने की क़ैद से छुटकारा नहीं पा सकी और दो-तीन दिन का काया-कष्ट झेल कर चंगी हो गई !

: ६ :

सन्तानों का होना न-होना शशि के जीवन में बराबर हो गया था। निरोध-आदि के फेर में न पड़कर उन परिस्थितियों से वह लोहा लेना चाहता जिनकी वजह से उनका—आज के समाज का—जीवन इस अवस्था को पहुँच गया है।

"गहरे नश्तर की ज़रूरत है, आशा!" शशि कहता, "जहाँ-तहाँ पैबन्द लगाने से अब काम नहीं चलेगा!"

"गहरा नश्तर!" शशि के शब्द आशा के हृदय में प्रतिध्वनित हो उठे, "लेकिन मैं कहती हूँ कि कभी-कभी तुम मरहम का ध्यान भी कर लिया करो!"

"ज़रा मेरे नश्तर का काम पूरा हो जाने दो", शशि हँसते हुए कहता, "इसके बाद चाहो तो मरहम का एक कारख़ाना तुम खोल देना। सच कहता हूँ, तुम्हारा मरहमी व्यवसाय खूब चलेगा!"

आशा की परवशता और वेदना को लेकर शशि के मित्र जीवनराम ने उस दिन शशि पर आरोप लगाया था कि वह ग़ैरज़िम्मेदार है। शशि के मित्र का वह आरोप अब भी जैसा-का-तैसा बना हुआ था और उसे सप्रमाण तथा सयुक्ति सिद्ध करने के अवसरों की खोज में रहता था।

वह कुछ इस तरह सोचते थे—शशि अपनी पत्नी से असन्तुष्ट ही नहीं, उसे सन्देह की दृष्टि से भी देखता है। लेकिन शशि में इतना साहस नहीं है कि अपने असन्तोष और सन्देह को, उसके मूल रूप में, स्वीकार कर सके। उनका ख़याल था कि सामाजिक व्यवस्था पर नहीं, शशि आघात करना चाहता है आशा पर। उसका सन्देह यहाँ तक बढ़ गया है कि गहरा नश्तर देकर वह अपनी पत्नी का काम तमाम करना चाहता है। गहरे आघात और नश्तर सम्बन्धी शशि की बातों का, उसकी राय में, यही मूल रहस्य था।

"समस्या के मूल रूप को न देखकर तुम इधर-उधर भटकते हो," जीवनराम कहते, "समाज और उसकी व्यवस्था से टकरा कर तुम अपना

अंग भले ही भङ्ग कर लो, आत्मिक सन्तोष तुम्हें कभी नहीं मिल सकता।"

"तुम समझते हो कि मैं अपनी पत्नी को सन्देह की दृष्टि से देखता हूँ," शशि उत्तर देता, "आशा का प्रेम और पूर्ण आत्मसमर्पण मुझे नहीं मिला है और यदि वह मिल गया होता तो सामाजिक व्यवस्था पर आघात करने की बातें मैं नहीं करता। यही तुम कहना चाहते हो न?"

"समस्या के मूल रूप की ओर निर्देश कर देना-भर मेरा काम है," जीवनराम ने कहा, "आत्मसमर्पण मिलने पर तुम क्या करते अथवा क्या न करते, इन सब बातों की तुक लड़ाना मेरा काम नहीं। स्थिति का जो नंगा सत्य है, उसी को खोल कर मैंने तुम्हारे सामने रखा है।"

"जहाँ तुम्हारा काम समाप्त होता है," शशि ने कहा, "वहीं से मेरा काम शुरू होता है। पत्नी का आत्मसमर्पण यदि मुझे मिला होता," शशि का स्वर कुछ दृढ़ हो चला, "तो मैं क्या करता—विश्वास करो जीवनराम, उस अवस्था में पत्नी को साथ लेकर, पहले से भी दूने उत्साह से, आज की सामाजिक व्यवस्था पर मैं आघात करता। आशा को इसके लिए तैयार करना मैंने शुरू कर दिया है।"

जीवनराम अपनी बात से डिग कर नहीं दिए। जितना ही अधिक शशि आज की सामाजिक व्यवस्था पर आघात करने की आवश्यकता को उभार कर रखता था, उतना ही अधिक उन्हें जैसे अपनी बात के पुष्ट होने का प्रमाण मिलता था। जब और कुछ नहीं बनता था तो शशि, अपने मित्र की अ-डिग मूर्ति को लेकर, खेल करना शुरू कर देता था।

जीवनराम भी विचित्र जीव थे। शशि को लेकर जीवन के जिस नंगे सत्य के दर्शन उन्होंने कराये थे, उसका सूत्रपात शशि से ही शुरू नहीं होता। जितने भी पति-पत्नी उन्हें दिखाई पड़ते थे, सभी के हृदय उन्हें सन्देह के इस रोग से ग्रस्त लगते थे,—उनके शब्दों में संन्देह की ज़मीन पर ही आज का दाम्पत्य जीवन खड़ा हुआ है।

सन्देह के इस रोग का जीवनराम ने गहरा अध्ययन किया था। उनके जितने भी मित्र थे, वे सभी विवाहित थे—,कहें कि विवाहित व्यक्तियों से

ही वह मित्रता करना पसन्द करते थे। प्रत्यक्ष अनुभव और आँखों-देखे जीवन के आधार पर ही जीवनराम सब कुछ कहते थे।

"तुम अपने हृदय के दर्द को ही लो," जीवनराम शशि से कहते, "उसका कारण भी यही है। व्यथित-हृदय से पत्नी की प्रेम-भरी थपकियाँ पाने का तुम्हें चस्का पड़ गया है। बीमार पड़ने पर पत्नी अधिक सेवा-टहल करती है न!"

जीवनराम की बात सुन कर शशि कुछ असमञ्जस में पड़ जाता। क्या यह सच है कि आशा की सेवा-टहल पाने से लिए हृदय का यह दर्द उठता है? बात प्रत्यक्षतः ठीक मालूम होती थी,—दर्द उठने पर आशा शशि की अत्यधिक सेवा-टहल करती थी। लेकिन इधर शशि आशा की वेदना और परवशता से कुछ इस हद तक प्रभावित हुआ था कि वह उसे कोई कष्ट नहीं देना चाहता था,—बीमार पड़ने पर सेवा-टहल करने का भी नहीं।

"तुम्हारी यह भावना और भी महत्त्वपूर्ण है", जीवनराम ने नहले पर दहला जड़ते हुए कहा- "बीमार पड़ने पर भी आशा से सेवा-टहल न करा कर तुम आशा को दण्डित करना चाहते हो। किसी भी पत्नी के लिए इससे अधिक कठोर दण्ड और कोई नहीं हो सकता। तुम उसे अपने जीवन के सुख-दुख से एकदम बहिष्कृत कर देना चाहते हो—क्यों ठीक है न?"

"अब तक तो आशा को अपने जीवन से मैंने बहिष्कृत नहीं किया था," शशि ने कहा, "लेकिन सोचता हूँ, अब यदि ऐसा हो भी जाए तो कोई हानि नहीं होगी—विशेष कर ऐसी हालत में जबकि तुम्हारे जैसे मित्र आँसू पोंछने के लिए मौजूद हैं!"

"बात केवल तुम्हारी नहीं है, सच पूछो तो पति-पत्नी के सम्बन्धों में आज कोई तत्त्व रह ही नहीं गया है," अपने स्वर का विस्तार करते हुए जीवनराम कहते, "जितना ही इन सम्बन्धों के वास्तविक तत्त्व की खोज करने का हम प्रयत्न हम करते हैं, उतना ही अधिक हमें निराश होना पड़ता है। एक-दूसरे को अपने जीवन से बहिष्कृत करने के लिए आज के पति-पत्नी

जैसे किसी बहाने की खोज में तैयार बैठे रहते हैं।"

शशि चुप था और जीवनराम कहे जा रहे थे :

"आज के पति-पत्नी ही को दोष क्यों दिया जाए, हमारे सर्वमान्य आदर्श चरित्र भी इस दिशा में पीछे नहीं रहे हैं। राम सीता को कितना चाहते थे,—मानो सीता में ही उनके प्राण समाए हों। सीता को जब रावण हर कर ले गया तो रोने-विलखने में वह किसी से पीछे नहीं रहे—पूरा अट्ट-रोदन उन्होंने किया। लेकिन जब सीता उन्हें मिल गई तो लगे उसकी अग्नि-परीक्षाएँ लेने और उस समय तक उनका यह क्रम चलता रहा, जब, तक कि सीता, उनके जीवन से बहिष्कृत होकर पाताल-लोक में न समा गई!"

कुछ देर बाद जीवनराम ने फिर कहना शुरू किया :

"यही बात द्रौपदी के साथ हुई। राम पुरुष थे और द्रौपदी स्त्री—दोनों में इतना ही अन्तर था। सीता के खोने पर जिस प्रकार राम ने अट्ट रोदन किया, उसी प्रकार द्रौपदी ने भी, पूर्व-जन्म में अपने पति के मर जाने पर, पति का नाम ले-लेकर विलाप किया था। वह इतना रोई थी कि देवताओं की नींद हराम हो गई। अन्त में झुंझला कर उन्होंने उसे शाप दिया : "तुझे पति की इतनी चिन्ता है तो अगले जन्म में तेरे पाँच पति होंगे!"

"द्रौपदी के तो खैर पाँच पति ही थे", जीवनराम के स्वर का अखण्ड प्रवाह जारी था, "लेकिन आज का समाज किसी विधवा को अथवा आज का सन्देह-ग्रस्त पति किसी सधवा को घर से बाहर निकाल देता है, और घर से बाहर निकल कर जब वह बाजार के कोठे पर जा बैठती है तो.... आप लोग जानते ही हैं कि इसके बाद कितने पुरुष-प्रेमियों से अपने मृत अथवा जीवित पति के अभाव की वह पूर्ति करती है!"

"हाल की ही बात है," जीवनराम ने अब जीवन के सत्य का विस्तृत प्रदर्शन शुरू किया, "किसी पुस्तक में एक व्यक्ति का जिक्र मैंने पढ़ा था। विवाहित वह था और अपनी पत्नी को छोड़ कर किसी विधवा से प्रेम वह करने लगा था। अपनी विवाहित पत्नी के सभी गहने-पत्ते, एक एक करके,

वह अपनी विधवा-प्रेमिका पर न्योछावर करता जा रहा था। पहले बात छिपी रही, बाद में धीरे-धीरे प्रकट हो गई। मोहल्ले वाले सब उसके विरुद्ध थे, सब उसे भला-बुरा कहते थे। उससे भी अधिक विरुद्ध थे वे उसकी विधवा-प्रेमिका से जो कि इस अनाचार का केन्द्र बनी हुई थी। विधवा-प्रेमिका का विरोध करते हुए वे कहते—"अपने पति को तो चट कर गई। अब मोहल्ले की अन्य स्त्रियों के सुहाग लूटने पर उतरी है!"

"अब तुलना कीजिए द्रौपदी की और उस विधवा-प्रेमिका की," जीवनराम ने अपना ताना-बाना बुनना शुरू किया, "द्रौपदी का जब पहला, पूर्व जन्म वाला, पति मर गया था तो उसने इस तरह रोना-बिलखाना शुरू किया कि देवताओं की—आज के समाज के ठेकेदारों की तरह—नींद हराम हो गई। द्रौपदी को इस तरह रोते-बिलखते देख कर यही उन्होंने समझा कि एक पति से उसकी भूख शान्त नहीं हुई है और आगे बढ़ने पर, हो सकता है, देवताओं पर भी वह हाथ साफ करने लगे। ऐसी स्थिति में, अपनी रक्षा करने के लिए, एक-साथ पाँच पतियों का दान उसे दे दिया कि लो देवी, इनसे अपनी क्षुधा शान्त करो और हम पर अपनी कृपा-दृष्टि रखना।"

शशि कौतुक और अचरज भरी नज़र से जीवनराम के चेहरे की ओर देख रहा था।

"लेकिन आज के समाज के ठेकेदार," जीवनराम का स्वर सहसा तेज हो चला, "इन देवताओं से भी गए बीते हैं। इस तरह की विधवा को पाँच पति न देकर बाज़ार का कोठा आबाद करने के लिए वे भेज देते हैं—चाहे जितने पुरुष प्रेमियों से वह अपनी क्षुधा शान्त कर सकती है। देवताओं की भाषा में ये भी उस विधवा से जैसे कहते प्रतीत होते हैं—'लो देवी, अनन्त प्रेमियो से अब अपनी क्षुधा शान्त करो, और हम पर अपनी कृपा-दृष्टि रखना!'"

कुछ रुक कर जीवनराम ने फिर कहा :

"कोशिश तो हम बहुत करते हैं कि पति-पत्नी एक दूसरे से बँध कर

रहें, दो आत्माओं के पूर्ण मिलन के लिए विवाह किया ही जाता है, लेकिन होता इसका उलटा है। लड़कों को छुटपन से ही हम शिक्षा देना शुरू करते हैं कि अपनी स्त्री को छोड़ कर किसी दूसरी की ओर आँख उठाकर देखना बुरा है। देखना यदि अनिवार्य ही हो उठे—यह सम्भव भी नहीं है कि हर समय आँखों पर पट्टी बांध कर बाहर निकला जाए—तो इस तरह देखो कि वह तुम्हारी माँ-बहिन हो। प्रत्येक स्त्री को माँ की तरह समझो—वह वेश्या हो, तब भी। लेकिन नहीं, वेश्या नाम की कोई चीज़ होती है, इसका तो हम अपने लड़कों को पता तक नहीं होने देते। संक्षेप में यह कि पत्नी को छोड़कर किसी दूसरी ओर वह न भटके, हम इसकी पूरी रोक-थाम करते हैं।

"लड़कियों के बारे में भी यही बात है," कुछ देर साँस लेकर जीवन-राम ने कहना शुरू किया, "उनका तो जन्म ही पति देवता के चरणों में आत्म-समर्पण करने के लिए होता है। लालन-पालन भी उनका इसी दृष्टि से होता है कि एक दिन पराये घर उन्हें जाना है,—अथवा यह कि पराये घर को अपना बनाने के प्रयत्न करते-करते उन्हें जीवन बिताना है। जिस घर में उन्होंने जन्म लिया है, उस घर में पराया माल बनकर, किसी अनदेखे-अनपहचाने पुरुष-पति की धरोहर के रूप में, वे रहती हैं और विवाह होने के बाद पराये घर को अपना सिद्ध करने के प्रयोग वे शुरू करती हैं!"

"मेरे एक मित्र हैं", अपने प्रत्यक्ष अनुभवों में से एक का परिचय जीवनराम ने देना शुरू किया, "अपनी पत्नी के सीधे-पन पर वह मुग्ध हैं। उनकी पत्नी इतनी सीधी है कि वह कुछ भी नहीं जानती। पति महोदय को शराब पीने की आदत पड़ गई है। वेश्याओं के यहाँ भी वह जाते हैं। जब अपनी जेब का पैसा नहीं रहता तो पत्नी का ट्रंक खोलकर निकाल लेते हैं। पत्नी को इसका कुछ पता नहीं चलता—वह बराबर सोती रहती है। पैसा निकालने के बाद कुछ देर तक सिरहाने खड़े होकर अपनी पत्नी को देखते रहते हैं कि कितनी सीधी है यह। चुपचाप सो रही है। घर में कोई

आये और सब कुछ चुरा ले जाए; तब भी यह इसी तरह सोती रहे !"

एक बार पति महोदय ने अपनी पत्नी की अँगूठी गायब कर दी। पत्नी ने पूछा—"कहाँ गई ?" पति ने जीवनराम का नाम लेते हुए उत्तर दिया—"कहीं नहीं, जीवनराम के पास है। उन्हें ज़रूरत थी, इसलिए मैंने देदी।"

इस घटना का ज़िक्र करते हुए पति देव ने जीवनराम से कहा—"मेरा उत्तर सुनकर वह चुप हो गई। सचमुच, बड़ी सीधी है वह।"

इसके बाद जीवनराम ने अपने मित्र की पत्नी का ज़िक्र शुरू किया। वह इतनी सीधी थी कि उसके पति अबोध-बालिका की तरह उसकी देख-भाल करते थे। और सीधे तरीके से, सहज ही, वह उन्हें प्राप्त हो गई थी—उसे पाने में उन्हें कुछ नहीं करना पड़ा। अपने हाथ और अपनी मेहनत की कमाई का उपभोग करने पर जो आनन्द और गौरव प्राप्त होता है, वह उन्हें अपनी पत्नी से प्राप्त नहीं होता था—वह जैसे एक दैवी अमानत थी जिसकी, जब तक वह जीवित रहे, रक्षा ही की जा सकती थी, उपभोग नहीं !

"लेकिन सीधी पत्नी का यह सीधा आत्मसमर्पण उनके लिए पर्याप्त नहीं था," जीवनराम ने कहा, "उसका आत्मसमर्पण पाने के लिए उन्हें कुछ नहीं करना पड़ता था। इसलिए उन्होंने टेढ़ी स्त्रियों के पास जाना शुरू किया—ऐसी स्त्रियों के पास जिनका आत्मसमर्पण पाना सहज नहीं होता। इस तरह की स्त्रियों का आत्मसमर्पण पाने के लिए वह सब कुछ करते थे। अपनी पत्नी की अँगूठी भी वह इन्हीं में से किसी एक को दे आए थे।"

टेढ़ी स्त्रियों से पीछा छुड़ाने के लिए जीवनराम ने एक दिन उनसे प्रस्ताव भी किया। कहा :

"यह ठीक नहीं है कि तुम अपनी पत्नी को छोड़कर इधर-उधर जाओ। चाहो तो आत्मसमर्पण पाने के यह टेढ़े प्रयोग अपने घर में भी कर सकते हो। धीरे-धीरे ट्रेन करने पर तुम्हारी पत्नी भी सब समझने लगेगी। वेश्यालयों की हवा खाने से तो यह कहीं अच्छा होगा कि अपने घर पर ही

अपनी पत्नी को साथ लेकर........"

'अरे राम का नाम भजो," जीवनराम की बात काटते हुए उन्होंने कहा, "तुम उसे नहीं जानते। यह सब वह देखेगी तो उसका हार्ट फेल हो जाएगा !"

"बड़ी विकट समस्या है," अपने मित्र का उदाहरण देने के बाद जीवनराम ने कहा, "साधारणतया समझा यह जाता है कि कर्कशा स्त्रियों के पति ही वेश्याओं के यहाँ जाते हैं। लेकिन यहाँ बात बिल्कुल उलटी है। पत्नी सीधी है, पति भी उसके सीधेपन पर मुग्ध है और आज के दाम्पत्य जीवन का व्यंग ही इसे कहिए कि पत्नी का हार्टफेल न हो, इसलिए पति महोदय वेश्याओं के यहाँ जाते हैं !"

"भारत न होकर यदि यह विलायत होता," जीवनराम का स्वर कुछ ऊँचा हो चला, "तो जानते हैं, ऐसी अवस्था में क्या होता। यही कि घर छोड़कर पत्नी भी प्रेमियों की खोज में बाहर निकल पड़ती। लेकिन यह भारत है—ऐसा भारत जहाँ की स्त्रियाँ अपने पति को मार कर भी उसके साथ सती होना जानती हैं !"

सती और असती दोनों को ही जीवनराम ने एक घाट पर उतार दिया था। जीवनराम की बातें सुन-सुन कर शशि के हृदय में भी यह पता लगाने की अकांक्षा घर कर चली कि उसके और आशा के सम्बन्धों में, इस दृष्टि से, कितना तत्व रह गया है। किस हद तक आशा उसकी पत्नी बनी है, पति को अपने हृदय में कितना स्थान उसने दिया है, यह जानने के लिए वह परेशान रहने लगा। दूर-ही-दूर से, आशा को जिससे इसका पता न चले, जाने-अनजाने शशि ने आशा के प्रेम और उसके पत्नीत्व की परीक्षाएं भी लेनी शुरू कीं, लेकिन कुछ निश्चय नहीं कर सका—एक नयी उलझन में फँस कर रह गया।

"एक और भी मुसीबत है," आशा के हृदय की थाह न पा सकने पर शशि ने एक दिन जीवनराम से कहा, "पति-पत्नी जो आज-कल एक-दूसरे के हृदय को नहीं पहचान पाते, इसका कुछ दोष विधाता पर भी है।

एक बार जिसको वह पुरुष बना देता है, वह सदा पुरुष ही बना रहता है और नारी के रूप में जिसने जन्म लिया है, वह सदा नारी ही बनी रहती है। यहीं आकर गड़बड़ होती है। पुरुष नारी के हृदय की थाह नहीं पा सकता—केवल इसलिए कि वह पुरुष है। यही बात नारी के बारे में भी है—पुरुष के हृदय की गति के साथ वह नहीं चल सकती- केवल इसलिए कि वह नारी है। यदि किसी तरह, जब तब, दोनों एक दूसरे का रूप धारण कर सकते—पुरुष के लिए नारी और नारी के लिए पुरुष बन सकता—तो दोनों एक दूसरे की हृदय की गति को पहचानने में समर्थ हो सकते, और आज के दाम्पत्य-जीवन में जो बे-सुरा स्वर सुनाई पड़ता है, वह भी न रहता। इस तरह का अब तक कोई वैज्ञानिक आविष्कार भी नहीं हुआ जो........"

"अच्छा आशा," उसी रात इधर-उधर की बातें करने के बाद शशि ने आशा से गम्भीर मुद्रा बना कर कहा, "थोड़ी देर के लिए कल्पना करो कि तुम पुरुष हो और........"

आशा ने शशि के प्रस्ताव को हँसी में टाल दिया और शशि का सुचिन्तित तथा उलटपंथी प्रेमाभिनय अधूरा ही रह गया!

: १३ :

जीवनराम ने बहुरंगी और बहुव्यापी जीवन बिताया था, जीवन के बीते युग में वह किसी मिडिल स्कूल के सर्वेसर्वा—प्रमुख अध्यापक—रह चुके थे। अपने पद को अपना बना कर वह रखते और अन्य किसी का भी हस्तक्षेप स्वीकार न करते। अधिकारों को प्रत्यक्ष करते हुए कहते :

"एक बार जब मैं प्रमुख अध्यापक नियुक्त कर दिया गया हूँ तो इसके बाद किसी को, स्कूल के मामले में, हस्तक्षेप करने की ज़रूरत नहीं। सीधी और साफ़ बात यह है कि आप अपना काम देखिए और मैं अपना काम देखूँगा।"

जीवनराम को नियुक्त करने के बाद स्कूल के संचालकों को कुछ ऐसा मालूम हुआ, मानो उन्होंने अपने हाथ कटा लिए हों। इसी प्रकार जब वे

कुछ कहते तो जीवनराम को लगता कि उनके अधिकारों पर हस्तक्षेप किया जा रहा है। रोज़ ही जीवनराम की उनसे खटपट चलती और एक दिन आया कि जीवनराम को स्कूल से अलग कर दिया गया।

जीवनराम को ऐसा मालूम हुआ मानो इससे बड़ा उनका और कोई अपमान नहीं हो सकता। इसके बाद उन्होंने निश्चय किया कि नौकरी न करके वह अब स्वतंत्र व्यवसाय करेंगे। पहले दरजी की दूकान उन्होंने खोली। संयोजन-शक्ति जीवनराम की अच्छी थी। कारीगरों को जमा करने में वह सफल हो गए और उनका निरीक्षण करते-करते दरजी का काम भी वह सीख गए। लेकिन दूकान चली नहीं। इसके बाद कपड़े धोने और रंगने की फैक्टरी की ओर वह झुके और अपनी संयोजन-क्षमता के बल पर एक फैक्टरी खड़ी भी करली। लेकिन पर्याप्त पूँजी के अभाव में अकेली संयोजन-शक्ति काम न दे सकी, और फैक्टरी को भी उन्हें बंद कर देना पड़ा।

इस तरह जीवनराम ने अनेक प्रयोग किए और अन्त में, बजाए इसके कि कुछ लाभ हो वह बाज़ार के क़र्ज़दार हो गए। जिधर वह निकलते, तक़ाज़ेवालों का भय उनके सिर पर सवार रहता। जीवनराम के जीवन का यह दौर काफ़ी कष्टप्रद था। एक जगह जम कर रहना उनके लिए कठिन हो गया। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, वह इस भय के अभ्यस्त होते गए। उधर तक़ाज़ेवाले भी जीवनराम से कुछ निराश हो चले।

"आप लोग घबरायें नहीं," जीवनराम तक़ाज़ा करने वालों से कहते, "जब तक मेरे हाथों में शक्ति है और मैं जीवित हूँ, आप लोगों का रुपया वापिस करने का प्रयत्न मैं करूँगा। व्यावसायिक जीवन में उत्थान और पतन तो चलता ही रहता है। आज मैं नीचे गिरा हूँ तो कल ऊपर उठने की भी आशा करता हूँ।"

जीवनराम की योग्यता तथा कार्य करने की क्षमता और संयोजन-शक्ति से बाज़ार में बैठने वाले सभी व्यवसायी बन्धु प्रभावित थे। जीवन के उत्थान और पतन के अनेक पहलुओं का जीवनराम जब-तब उन्हें दिग्दर्शन कराते रहते थे। सब कुछ देख-सुन लेने के बाद वे कहते:

"जीवनराम को यदि कुछ सहायता मिल जाए तो जीवन में वह अवश्य सफलता प्राप्त करेगा। आदमी होशियार है।"

जीवनराम को, कुछ व्यवसायी बन्धुओं की ओर से, थोड़ी-बहुत सहायता मिल भी जाती। लेकिन इस सहायता का प्रमुख और मूल उद्देश्य जीवनराम का उत्थान करना नहीं, वरन् अपने फँसे हुए रुपये को—मय ब्याज के—वसूल करना था। जीवनराम पर उनका जो रुपया चाहिए, वह किसी तरह वसूल हो जाए, इसलिए वे जीवनराम के उत्थान की कामना करते। उत्थान की इस कामना के साथ-साथ, कभी-कभी, जीवनराम को इस तरह कुछ सहायता भी मिल जाती थी।

सहायता देने का एक उद्देश्य और भी था। वह यह कि जीवनराम के परिश्रम से जब व्यवसाय खड़ा होने की स्थिति में आ जाए तो उसे हथिया लिया जाए। एक ओर तो वे जीवनराम की सहायता करते, दूसरी ओर उसे घेर-घार कर रखना चाहते—कहीं ऐसा न हो कि वह सब कुछ चौपट करके भाग जाए।

कुछ दिनों तक व्यवसायी बन्धुओं की सहायता और अपनी संयोजन शक्ति के सहारे व्यवसाय चलाने के प्रयोग भी जीवनराम ने किए, लेकिन इस तरह भी कोई लाभ न हुआ। आख़िर उत्थान और पतन के इस झमेले को छोड़ उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया।

जीवनराम की कार्य-क्षमता और संयोजन-शक्ति ने सार्वजनिक जीवन में अच्छा साथ दिया। देखते-देखते वह नगर के एक वार्ड की कांग्रेस-कमेटी के मंत्री बन गए और आगे चलकर मज़दूरों का नेतृत्व करने का सपना देखते। अपने सार्वजनिक जीवन की रूप-रेखा का परिचय देते हुए; वह कहते :

"कांग्रेस-कमेटी को तो सार्वजनिक जीवन का प्राइमरी स्कूल समझिए। इसे पास करने के बाद मजूरों का नेतृत्व करते हुए एक दिन मुझे देखिएगा।"

मज़दूरों का नेतृत्व करने की तैयारियाँ भी उन्होंने शुरू कर दीं। पुस्तकालय में जाकर मार्क्स की पुस्तकों का अध्ययन करते। जब कोई

मज़दूरों की बात करता तो इन पुस्तकों के उद्धरण देना और सुनाना शुरू कर देते। मार्क्स की पुस्तकों का अध्ययन किए बिना मज़दूरों की जो बात करते थे, जीवनराम उन्हें बातूनी कह कर टाल देते थे—बल्कि ऐसे व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शुरू कर देते। उनका विश्वास था कि बिना समझे-बूझे तथा उपयुक्त अध्ययन किए मज़दूरों की बातें जो करते हैं, वे मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं। एक तरह की बहक में आकर वे मज़दूरों की बातें करते हैं।

बहक में आकर मज़दूरों की समस्या से उलझने की अनधिकार चेष्टा करने वालों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए जीवनराम ने फ्रायड का अध्ययन शुरू कर दिया। इस तरह एक साथ कई दिशाओं में वह प्रवेश कर रहे थे—एक तो कांग्रेस कमेटी का मंत्रित्व, दूसरे मज़दूरों का नेतृत्व करने के लिए मार्क्स का अध्ययन और तीसरे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

शशि को उन्हीं व्यक्तियों की श्रेणी में जीवनराम ने रखा था,—मानसिक विकारों से ग्रस्त होकर जो मज़दूरों की समस्या से उलझते हैं। आज के अधिकांश युवक जीवनराम को इसी श्रेणी के दिखलाई पड़ते थे और उन की अनधिकार चेष्टा को रोकने का वह भरसक प्रयत्न करते थे।

मज़दूरों की समस्या को भी जीवनराम ने अपना बना कर रख छोड़ा था। इसके लिए अध्ययन भी उन्होंने गहरा किया था। अवसर पड़ने पर कहते :

"मज़दूरों की समस्या बड़ी जटिल है। मज़दूरों को लेकर बातें तो सब करते हैं, लेकिन उसे समझते कितने लोग हैं? मार्क्स के 'कैपीटल' को इतनी बार मैं पढ़ गया हूँ, लेकिन फिर भी उसके रहस्य को अब तक हृदयंगम नहीं कर सका। जब मेरा यह हाल है तो औरों का ज़िक्र करना ही व्यर्थ है!"

व्यावहारिक अनुभव के अभाव में किताबी-ज्ञान अधूरा रहता है, यह जीवनराम जानते थे। अपने ज्ञान के इस अभाव की पूर्ति के लिए वह किसी उपयुक्त अवसर, साधन और सुविधाओं की खोज में रहते थे। मज़दूरों से

सम्पर्क रखने वाले व्यक्तियों से वह मिलते-जुलते, और जब तब मज़दूरों की बस्ती का भी निरीक्षण वह कर आते।

मज़दूरों में काम करने योग्य उपयुक्त कार्यकर्त्ता तैयार करने के लिए उन्होंने एक अध्ययन-शाला भी खोली। जीवनराम उसमें जाते और मार्क्स के सिद्धान्तों पर लेक्चर दिया करते। अनेक युवक और युवतियाँ इस अध्ययन-शाला में आकर अपने को मज़दूरों का नेतृत्व करने योग्य बनाने की ट्रेनिङ्ग पातीं।

अध्ययनशाला में आने वाली युवतियों में से एक का नाम था चन्द्र-मणि। संक्षेप में उसे सब मणि बहिन कहते थे। मणि बहन की बुद्धि बहुत तेज़ थी और मार्क्स को समझने का जहाँ तक सम्बन्ध है, अध्ययनशाला में आने वाले कतिपय बन्धुओं को वह पीछे छोड़ चुकी थी। एक जीवनराम ही रह गए थे जिन्हें वह मात नहीं दे सकी थी—अथवा कहिए कि जिन्हें वह, अध्ययन-शाला में, अपना सम-कक्ष समझती थी।

मणि बहिन की एक और विशेषता थी। वह यह कि वह किसी मिल-मालिक की लड़की थी और अपने पिता को अप्रसन्न करके भी वह मज़दूरों का साथ देना चाहती थी—कहें कि साथ देती थी। मणि बहन का उत्साह अथक था, और जब वह आती थी तो अध्ययन शाला में एक जान-सी पड़ जाती थी।

जीवनराम और मणि बहन—इन दोनों में से किसका प्रभाव किस पर अधिक था, यह बताना आसान न था। दोनों एक दूसरे का उत्साह बढ़ाते, और इस बढ़े हुए उत्साह को लेकर आगे बढ़ना चाहते। उनका विश्वास था कि वे कभी पीछे क़दम नहीं उठाएँगे।

आखिर वह दिन भी आया जब उन्हें कार्य-क्षेत्र में कूदना पड़ा—स्वयं मणि बहन के पिता के मिल में मज़दूरों की समस्या सामने आगई। मणि बहन के पिता बहुत नाराज़ हुए, यहाँ तक कि उसे घर से अलग कर देने की भी धमकी दी, लेकिन मणि बहन ने मज़दूरों का साथ नहीं छोड़ा। मज़दूरों की समस्या के साथ साथ पिता पुत्री का द्वन्द भी तेज़ हो चला।

पगार बढ़ाने और काम के घन्टे कम करने की माँगों को लेकर मिल में झगड़ा चल रहा था। इससे पहले कि मज़दूर काम बन्द करने की घोषणा करें, मणि बहन के पिता ने ताला-बन्दी की घोषित कर दी—अनिश्चित समय के लिए मिल में ताला डाल दिया। उधर मजदूर, बेकार होकर, मिल से बाहर निकले और इधर मणि बहन अपने पिता का घर छोड़ कर मजदूरों की टोली में आ मिली।

जीवनराम और मणि बहन में बहुत उत्साह था। मज़दूरों में भी उत्साह की कोई कमी नहीं थी। अपने पिता का घर छोड़ कर आने वाली मणि बहन को पाकर वे आश्वस्त हो उठे थे—जब वह नेतृत्व कर रही है तो उनके कष्टों के दूर होने में देर नहीं होगी। मणि बहन के आगमन को सब एक अच्छे शकुन के रूप में देखते थे। बबूल के वृक्ष की शीतल छाया में खड़ी होकर मजदूरों को जब वह भाषण देती तो कानों से अधिक मजदूरों की आँखें काम करतीं—एक टक वे उसे इस तरह देखते मानो वह कोई अजूबा हो। उनकी आंखों में अचरज और कौतुक का भाव खेलता रहता।

दो सप्ताह तक बबूल की छाया में मजदूरों की सभाएँ होती रहीं। उपस्थिति काफी होती। लेकिन धीरे-धीरे यह उपस्थिति कम होने लगी। इसका कारण यह था कि केवल भाषणों से न तो उनका पेट भरता था और न उनकी लड़ाई ही आगे बढ़ पाती थी। शुरू-शुरू में जिस उत्साह से मज़दूर सभा में आते, वह फीका पड़ने लगा। पहले जहाँ दस हजार तक की उपस्थिति हो जाती थी, वहाँ अब गिने-चुने मज़दूर दिखाई देते—आत्म-विश्वास और उत्साह के स्थान पर निराशा से खिन्न और खीज से भूरे चेहरे लिए।

मणि बहन उनकी, उनसे भी अधिक अपने नेतृत्व की, यह अवस्था देखकर बहुत व्यथित होती। शीघ्र ही कुछ-न-कुछ नहीं किया जाएगा तो सब कुछ गड़बड़ हो जाएगा। भाषणों का भी उनपर अब कोई असर नहीं होता था—भाषणों के बीच में मज़दूरों ने उलाहने देना भी शुरू कर दिया था। मणि बहन से यह नहीं देखा गया और बबूल की छाया में, मज़दूरों

के सामने, उसने प्रतिज्ञा की :

"जब तक आप लोगों की समस्या हल नहीं होगी, मैं भोजन नहीं करूँगी।"

मणि बहिन के साथ-साथ जीवनराम ने भी भोजन न करने की प्रतिज्ञा की। मज़दूरों ने यह सुना तो एकाएक स्तब्ध रह गए। वे तो भूखे रहने के कुछ अभ्यस्त भी थे—जीवन ही उनका भूखे रहते बीतता था। लेकिन मणि बहिन—उनके लिए कितना त्याग कर रही थीं वह !

"अद्भुत दृश्य था वह," जीवनराम कहने लगे, 'मणि बहन की प्रतिज्ञा ने मज़दूरों पर जैसे जादू का असर किया। सब कुछ भूलकर वे लोग मणि बहन की प्रतिज्ञा को भंग कराने का प्रयत्न करने लगे। एक मज़दूर तो साथ छुरा भी ले आया। कहने लगा—मणि बहिन भोजन नहीं करेंगी तो मैं यहां छुरा मार कर प्राण त्याग दूँगा !"

लेकिन छुरा मार कर मर जाने वाला यह मज़दूर मणि बहन का ही एक गुर्गा था। अन्य मज़दूरों में ज्यादातर कौतुक और खीज का भी भाव था। एक झुँझला कर बोला : "भोजन नहीं करेंगी तो क्या हुआ ? सन्तरों के रस से इसके गाल और भी दमकने लगेंगे !"

मणि बहन की भूख हड़ताल ने मज़दूरों से अधिक असर किया उसके पिता पर। अन्य व्यक्ति भी इस झगड़े का, जैसे भी हो, अन्त कराने के लिए सामने आगए। समझौते का नाटक इसके बाद शुरू हुआ। मणि बहिन की भूख-हड़ताल को तो उसके पिता तुड़वाना चाहते, लेकिन मज़दूरों की माँगों को बातों में उड़ाने की कोशिश करते। उधर मणि बहन अच्छी-खासी बालहठ का परिचय दे रही थी। स्पष्ट शब्दों में बोली :

"मज़दूरों की माँगों को मज़दूरों की माँग समझ कर ही स्वीकार करना होगा, इसलिए नहीं कि मैं भूख-हड़ताल कर रही हूँ।"

बड़ी उत्सुकता से पिता-पुत्री के इस द्वन्द्व के परिणाम की सब प्रतीक्षा कर रहे थे। आखिर पिता का हृदय-परिवर्तन हुआ और मज़दूरों की समस्या को सुलझाने में उन्होंने अद्भुत उदारता का परिचय दिया। घोषित किया

गया :

"मज़दूरों के प्रतिनिधि जीवनराम को मिल का मैनेजर बनाया जाता है। सियाह और सफ़ेद जो भी चाहें वह करें।"

अपने प्रतिनिधि को मिल का मैनेजर बनते देखकर मज़दूरों में हलचल की एक लहर-सी दौड़ गई। मणि बहन की ओर से मज़दूरों का एक उत्सव भी मनाया गया। मज़दूरों को मिठाई बाँटी गई और मणि बहन ने, स्वयं अपने हाथों से, बधाई देने के बाद, उनके प्रतिनिधि जीवनराम के गले में जयमाल पहनाई।

मिल-मैनेजर बनाते समय मणि बहन के पिता ने कहा—सियाह-सफ़ेद जो भी चाहें वह करें। लेकिन जीवनराम ने न सियाह किया, न सफ़ेद, वरन् उनका अधिकांश समय सियाह-सफ़ेद का समन्वय करने के प्रयत्नों में बीतने लगा। एक ओर मणि बहिन के पिता थे और दूसरी ओर मज़दूर। दो नावों में जीवनराम के पांव थे। मज़दूरों की समस्या से भी अधिक जटिल समस्या उनके लिए यह थी कि अपने पद को किस प्रकार सही-सलामत रखा जाए।

धीरे-धीरे मज़दूरों में जीवनराम के प्रति असन्तोष तर कर चला। उन्हें लगता कि मैनेजरी का पद पाने के लिए ही जीवनराम उनका प्रतिनिधि बना था। मज़दूरों का नेतृत्व कुछ नये युवकों के हाथों में जाने लगा। जीवनराम को लक्ष्य कर के वे खुले शब्दों में कहते :

"मणि बहन के साथ मोटर की हवा खाने में उसका जीवन बीतता है। मणि बहन से छुट्टी मिले तब तो वह मज़दूरों की ओर ध्यान दे!"

जीवनराम के प्रति मज़दूरों में अविश्वास और असन्तोष बढ़ता गया—उसे अपना प्रतिनिधि मानने से उन्होंने इन्कार कर दिया। आख़िर वह दिन भी आया जब मज़दूरों के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ जीवनराम को मिल-मैनेजरी से भी हाथ धोना पड़ा—परिस्थितियों ने स्वयं उसी को त्याग पत्र देने के लिए मजबूर कर दिया। मणि बहन के पिता ने जीवनराम को जो मिल-मैनेजर बनाया था वह भी इसीलिए—मज़दूरों की माँग को पूरा करने

के लिए नहीं वरन् जीवनराम के द्वारा मज़दूरों पर क़ाबू पाने के लिए।

मिल-मालिक से जीवनराम को कोई शिकायत नहीं थी। मणि बहिन के पिता का बड़े आदर के साथ वह उल्लेख करते थे। मज़दूरों के प्रतिनिधि को अपना मैनेजर बनाकर जिस उदारता का परिचय उन्होंने दिया था, उससे जीवनराम बहुत प्रभावित थे। मिल-मैनेजर बनाकर मज़दूरों पर क़ाबू पाने के उद्देश्य का ज़िक्र करने पर जीवनराम कहते :

"वह कुछ नहीं। प्रत्येक व्यवसायी का स्वभाव वैसा ही हो जाता है। सभी मिल-मालिक ऐसा करते हैं। लेकिन मणि बहिन के पिता इन सबसे भिन्न हैं, यह सभी स्वीकार करेंगे।"

मिल-मालिक से नहीं, जीवनराम को शिकायत थी मज़दूरों के नये नेताओं से। उनका ज़िक्र आने पर जीवनराम कहते :

"यह सही हो सकता है कि मेरे द्वारा मज़दूरों का कोई हितसाधन नहीं हो सका, लेकिन अब जो उनका नेतृत्व करने जा रहे हैं, उनसे मज़दूरों का अहित होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।"

मज़दूरों का नेतृत्व जिनके हाथ में चला गया था, जीवनराम उन्हें मानसिक विकारों से ग्रस्त समझते थे। अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहते :

"मेरा विरोध करते समय मज़दूरों का हित उनके सामने नहीं था। नहीं, मज़दूरों का हित नहीं, उनके सामने थी मणि बहिन। उन्हें यह फूटी आँखों नहीं सुहाता था कि वह मेरे अथवा मैं उसके साथ दिखाई पड़ूँ।"

जीवनराम का आरोप निराधार नहीं था। मिल-मैनेजर बनने से पूर्व, अध्ययन-शाला में, चन्द्रमणि को लेकर, इस तरह की बातें चलती रहती थीं। अध्ययन-शाला में आने वाले सदस्यों को यह ज़रा नहीं सुहाता था कि चन्द्रमणि जीवनराम को छोड़ और किसी की ओर आँख उठा कर भी न देखे!

ईर्ष्या-द्वेष भी कुछ सदस्यों के हृदयों में घर करता जा रहा था। सब से अधिक जो बात अखरती थी वह यह कि जीवनराम में ऐसा कुछ नहीं था

जिसे आकर्षक कहा जा सके। स्वयं जीवनराम भी इस बात को जानते थे और अपने बदनुमा चेहरे-मोहरे का उल्लेख करने के बाद कहा करते :

"परमात्मा ने प्रेम-प्रूफ़ बना कर मुझे इस संसार में भेजा है। शायद ही कोई युवती हो जो मुझ पर मुग्ध हो सके!"

यह सब होते हुए भी चन्द्रमणि को उन्होंने जैसे अपना बना कर रख छोड़ा था। एक चन्द्रमणि ही नहीं, वरन् अध्ययनशाला में जितनी युवतियाँ आती थीं, उनमें से अधिकांश को इस ओर लाने का श्रेय जीवनराम को ही था।

इन्हीं सब बातों को लेकर अध्ययन-शाला के सदस्य जीवनराम से मन-ही-मन कुढ़ते। चन्द्रमणि के सामने आने पर उनका यह विरोध और भी प्रत्यक्ष हो जाता। जब नहीं रहा जाता तो उनमें से एक बोल उठता :

"किसी ने ठीक कहा है कि ब्यूटी लव्ज़ बीस्ट!"

इसके साथ-साथ दूसरी ओर से आवाज़ आती :

"बहुत खूब, बहुत अच्छा कहा है किसी ने—हूर की गोद में लङ्गूर खुदा की कुदरत!"

धीरे-धीरे चन्द्रमणि के पिता के पास भी जीवनराम की 'करतूतों' की रिपोर्ट पहुँचने लगी। पिता ने चन्द्रमणि को समझाने का प्रयत्न किया। जितना ही अधिक जीवनराम का वह विरोध करते, उतना ही अधिक चन्द्रमणि जीवनराम की ओर झुकती जाती। पिता कहते कि मज़दूरों की सेवा करना अच्छा काम है, उनकी सेवा करने से मैं मना नहीं करता, लेकिन जीवनराम का साथ उसे छोड़ देना होगा।

चन्द्रमणि पर पिता की बातों का कोई असर न होता। जीवनराम को छोड़ कर मज़दूरों की सेवा करने की छूट पिता देने को तैयार थे, लेकिन चन्द्रमणि इसके लिए तैयार नहीं हुई। वह जैसे कहती प्रतीत होती थी जीवनराम को छोड़ देने पर और कुछ भले ही हो जाए, मज़दूरों का काम नहीं हो सकता!

चन्द्रमणि के पिता पहले तो यह समझे कि बात वास्तव में कुछ नहीं

है, जैसे-जैसे दिन बीतेंगे, चन्द्रमणि के दिमाग़ का यह फ़ितूर अपने-आप दूर हो जाएगा। लेकिन उन्हें निराश होना पड़ा। जीवनराम के साथ वह स्वयं भी उनकी मिल के मज़दूरों का नेतृत्व करने पर उतर आई—यहाँ तक कि उसने अपने पिता का घर भी छोड़ दिया, जीवनराम के साथ वह रहने लगी और सब से अन्त में सामने आई उसकी भूख हड़ताल!

पिता को इस पर बड़ा ग़ुस्सा आया। जीवनराम को यदि उस समय वह पकड़ पाते तो शायद जीता न छोड़ते। लेकिन, सब कुछ होते हुए भी, उनकी एकमात्र कन्या को इस हद तक प्रभावित करने वाले जीवनराम के प्रति, ठीक उस समय जबकि उनका क्रोध ऊँचे शिखर पर पहुँचा हुआ था, प्रशंसा के भाव भी उनके हृदय में उदित हुए।

एक बात इसके साथ और भी थी। वह यह कि मज़दूरों का निर्देशन करने में जिस कौशल का जीवनराम ने परिचय दिया था, उससे भी वह बहुत प्रभावित हुए थे। रह-रह कर वह सोचते कि जीवनराम की इस विशेषता से लाभ उठाया जा सकता है। इन्हीं सब बातों को हर पहलू से देख-समझने के बाद उन्होंने उसे अपना मिल-मैनेजर बनाना घोषित कर दिया। उन्होंने सोचा कि यदि वह अच्छा मैनेजर सिद्ध हुआ तो आगे चल कर चन्द्रमणि के साथ उसका विवाह करने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी।

लेकिन हुआ इसका उलटा। जीवनराम के प्रति प्रशंसा के जो भाव चन्द्रमणि के पिता के हृदय में उभर आए थे, वे सब रोष में परिवर्तित हो गए। मिल-मैनेजरी से जीवनराम के अलग हो जाने के बाद एक काम उन्होंने और किया। वह यह कि काँग्रेस कमेटी के दफ़्तर में उसके लिए कोई स्थान न रहे। देश के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग तो वह नहीं लेते थे, लेकिन चंदा पर्याप्त मात्रा में देते थे। जीवनराम के लिए कांग्रेस कमेटी का द्वार बंद कराने में उन्हें विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा।

जीवनराम अब बिल्कुल अकेले पड़ गए—न उनका कांग्रेस-कमेटी में

कोई स्थान था, न मजदूरों में। यह सब होते हुए भी उन्होंने जीवन से हार नहीं मानी। उन्हें अपनी संयोजन-शक्ति पर विश्वास था और वह समझते थे कि अपना निजी मोरचा—होम फ्रंट जिसे कुछ लोग कहते थे—स्थापित कर वह सार्वजनिक कार्य कर सकेंगे।

लेकिन यहाँ भी बात कुछ बनी नहीं। निजी मोरचे का अधिक प्रचार वह नहीं कर सके और उनका होम-फ्रंट शाब्दिक मानी में होम-फ्रंट बन कर रह गया। झुंझला कर वह कहते :

"गांधी जी की तरह मेरे पास भी यदि तिलक-फन्ड होता, बिड़ला जी जैसे धनी मेरा साथ देते होते तो अपने होम-फ्रंट को नेशनल फ्रंट बनाने में ज़रा भी अड़चन मुझे नहीं पड़ती।"

एक ही काम इसके बाद जीवनराम के पास रह गया था। वह काम था नयी पीढ़ी के मानसिक विकारों की खोद-बीन करना। स्वयं उन्हीं के शब्दों में :

"जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक देश का हित साधन नहीं हो सकता!"

: ११ :

सन्देह ने नहीं, अनेक आशङ्काओं ने शशि के हृदय में प्रवेश किया। नित्य ही वह देखता कि आशा खण्डहर बनती जा रही है। एक अज्ञात आशङ्का से रह-रह कर उसका हृदय काँप उठता। प्रयत्न करने पर भी आशा का वह वाक्य शशि नहीं भूल पाता जिसमें आशा की परवशता और वेदना सशब्द बोल उठी थी :

"इस तरह तो एक दिन तुम मेरे प्राण लेकर छोड़ोगे!"

आशा के मुंह से शशि के हृदय की निहित आशङ्का ही जैसे मूर्त हो उठी। जीवनराम ने इसे सुना तो कहने लगे :

"इस तरह तुम अपनी पत्नी की मृत्यु-कामना करते हो। तुम्हारी यह आशङ्का जैसे कहती प्रतीत होती है कि ऐसे साथी का बोझ अपने सिर पर लादे रहने से क्या लाभ जिसका आत्म-समर्पण हमें नहीं मिल पाया।"

जीवनराम की बात को स्वीकार करते शशि से नहीं बना। उसने जीवनराम से पूछा :

"क्या आत्म-समर्पण नाम की सचमुच कोई चीज़ होती है?"

"हाँ, होती है," जीवनराम ने कहा, "दो आत्माओं के पूर्ण मिलन के लिए ही तो विवाह किया जाता है।"

"दो आत्माओं का पूर्ण मिलन!" शशि के स्वर में व्यंग की पुट थी, "मुझे तो विवाह दास-प्रथा का एक सभ्य संस्करण मात्र मालूम होता है!"

कुछ देर के बाद शशि ने फिर कहा :

"तुम चाहे जो भी कहो, मैं यह चाहता हूँ कि आशा को इस दासत्व से मुक्ति मिल जाए—हो सके तो जीते जी, यह न हो सके तो मरने के बाद!"

लेकिन दासत्व से मुक्त करने की बात भी कुछ जमती नहीं थी। एक अच्छा-खासा व्यंग इसके साथ लगा हुआ था। घर पर आशा शशि के दासत्व का शिकार थी और घर से बाहर शशि को भी किसी की दासता निभानी पड़ती थी। दासत्व का जहाँ तक सम्बन्ध था, उससे मुक्त कोई भी न था—न आशा, और न शशि।

"नहीं, आशा को मुक्त करने से काम नहीं चलेगा," शशि सोचता, "खुद दास बन कर जिसका जीवन बीतता है, उसके लिए इस तरह की बातें सोचना कोई मानी नहीं रखता!"

आशा की परवशता और अपनी दासता को एक ही तल पर ले जा कर शशि देखता—देखने का प्रयत्न करता। उसे लगता कि उसकी और आशा की समस्या में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है। आशा का आत्म-समर्पण पाने अथवा उसे मुक्त करने की भावनाओं के फेर में पड़ना गलत है। इससे कोई लाभ नहीं होगा।

लेकिन फिर भी शशि इस तरह की भावनाओं से बच नहीं पाता। आशा को लेकर उसके हृदय में जो आशंकाएँ उठतीं, उनसे उसका पीछा

नहीं छूटता। सबसे ज्यादा परेशान होता वह उस समय जब आशा गर्भवती होती। जब भी वह गर्भवती होती, अनेक आशङ्काओं से वह घिर जाता। उसके आशंकित हृदय से एक ही ध्वनि निकलती—इस बार आशा नहीं बच पाएगी।

"हर बार जैसे दूसरा जन्म तुम लेती हो, आशा !" प्रसव-वेदना को सकुशल, अर्थात् बिना मरे हुए, पार कर जाने के बाद सन्तोष का साँस लेते हुए शशि आशा से कहता—कुछ इस मुद्रा में मानो आशा ने नहीं, स्वयं शशि ने फिर से जन्म लेकर नया जीवन प्रप्त किया हो !

अनेक बच्चों को आशा जन्म दे चुकी थी। फिर भी शशि की आशङ्काओं में कोई कमी नहीं आती थी। उसकी आशङ्काओं को लक्ष्य कर जीवनराम कहते :

"तुम्हारी यह आशंका महत्वपूर्ण है आज नहीं तो कल तुम मेरी बात स्वीकार करोगे। मेरा यह निश्चित मत है कि जाने-अनजने तुम अपनी पत्नी की मृत्यु कामना करने लगे हो।"

शशि ने जीवनराम के निश्चित मत का विरोध करना अथवा उसके बारे में कुछ कहना छोड़ दिया था—अथवा कहें कि कुछ कहना स्थगित कर दिया था। कहने-सुनने का जीवनराम पर कोई असर भी नहीं होता था। शशि की बात बीच में ही काट कर कहते :

"तुम्हारे विरोध को मैं अच्छी तरह समझता हूँ। शाब्दिक मानी में पत्नी की छाती का बोझ बन जाने पर भी कोई पति यह स्वीकार नहीं करता कि वह अपनी पत्नी के हृदय का बोझ बन गया है—नहीं, पत्नी के अन्तिम दम तोड़ने तक वह तो यही कहता रहेगा कि पत्नी के गले का बोझ नहीं, वरन् हार वह बना हुआ है !"

शशि चुप रहा। जीवनराम के निश्चित मत को उसने जैसे-का-तैसा छोड़ दिया। कुछ दिन बाद शशि ने जीवनराम से, उसी की भाषा का प्रयोग करते हुए, कहा :

"तुम्हें यह जान कर प्रसन्नता होगी कि इधर मेरी मृत्यु-कामना ने

अच्छी प्रगति की है। एक अकेली आशा की ही नहीं, सम्पूर्ण स्त्री-जाति का जब कभी मुझे ध्यान आता है तो इसी तरह की आशंकाओं से मैं घिर जाता हूँ।"

बात सही थी। पास-पड़ोस की, परिचित और अपरिचित—सभी स्त्रियों को लेकर शशि का हृदय आशङ्कित हो उठता था। जब कोई स्त्री गर्भवती होती तो दूर से देख कर ही वह उसे पहचान लेता। इस दिशा में शशि की आँखों ने अपेक्षाकृत तेज़ दृष्टि प्राप्त कर ली थी। जब कभी शशि किसी गर्भवती स्त्री को देखता तो उसे ऐसा मालूम होता था मानो उसकी आँखों के सामने बलि-बेदी की बकरी जा रही हो।

गर्भवती स्त्रियों को देख कर एक टीस-सी शशि के हृदय में उठती और करुण कोमल भावनाओं से वह भर जाता। उसके परिचितों में से जब कोई इस बलाए नागहानी का शिकार होता तो शशि उसके लिए एक अच्छा खासा परामर्शदाता सिद्ध होता। शशि की यह एक ऐसी विशेषता थी जिससे सब परिचित थे।

इसी बीच एक ऐसी स्त्री का चित्र शशि की आँखों के सामने आया जिसने उसके हृदय को बुरी तरह झंझोड़ दिया। वह लेडी-डाक्टर थी और गर्भ गिराने का पेशा उसने अख़्तियार कर लिया था। उसकी मृत्यु-कामना करके शशि को उतना ही सुख प्राप्त हुआ जितना सुख कि बलिवेदी की बकरियों को करुण-कोमल दृष्टि से देखने पर उसे प्राप्त होता था।

कई दिन से आशा तक़ाज़ा कर रही थी कि बच्चों को दूध पिलाने की बोतल टूट गई है। उसी को लाने के लिए शशि बाज़ार जा रहा था। बोतल के साथ-साथ कई अतिरिक्त निपिल लाने के लिए भी आशा ने कहा था। निपिल काटने की बच्चों को कुछ ऐसी आदत पड़ गई थी कि दूध पीने से पहले ही वे इस क्रिया को सम्पन्न कर देते थे।

बच्चों की इस आदत पर विचार करता शशि बाज़ार की पटरी पर चल रहा था। जिस दूकान पर निपिल लेने के लिए वह पहुँचा, वहाँ कुछ व्यक्ति बैठे बातें कर रहे थे—एक लेडी-डाक्टर को लेकर। उनकी बातों से

मालूम हुआ कि लेडी-डाक्टर सुन्दर है। इसके साथ ही यह भी मालूम हुआ कि सुन्दरता के बल पर ही वह अपनी डाक्टरी चलाती है। एक साहब और भी आगे बढ़ गए। उत्साह भरे स्वर में कह रहे थे कि 'हमल गिराना ही उसका पेशा है।'

"सुन्दरता के बल पर किस हद तक उसकी डाक्टरी चल रही है, यह तो मुझे पता नहीं," जब नहीं रहा गया तो शशि ने उनसे कहा, "लेकिन उसकी सुन्दरता के बल पर आप लोगों की बातें अवश्य चल रही हैं।"

चलते-चलते शशि ने जैसे अपनी पहली बात को पूरा करते हुए कहा :

"मालूम होता है कि इस समय ग्राहक नहीं आरहे हैं। इसीलिए आज यह बैठक जमी है।"

लेडी-डॉक्टर के बारे में शशि ने जो कुछ सुना था, उसे वह खुद भी नहीं भूल सका। जीवनराम से भेंट होने पर शशि ने कहा :

"एक लेडी-डॉक्टर का परिचय इधर मुझे मिला है। उसके जितने भी रोगी होते हैं, सभी उसके प्रेमी बन जाते हैं। रोग को दूर करने के लिए नहीं, जैसे उनसे प्रेम करने के लिए ही वह लेडी-डॉक्टर बनी है।"

जीवनराम चुपचाप सुनते रहे। शशि कह रहा था :

"एक बात और भी। उसका पेशा गर्भ गिराना है। सुनते हैं, पैसा देकर लोग उससे यह काम कराते हैं, और मैं सोचता हूँ," शशि का स्वर कुछ करुण-कोमल हो चला, "माँ के पेट में जो बच्चों को रहने देना नहीं चाहते, उनसे यह कैसे आशा की जा सकती है कि दुनिया में, माँ के पेट से बाहर आने पर, प्रेम और दुलार की दृष्टि से वे अपने बच्चों को देख सकेंगे!"

इसके बाद ही शशि के हृदय में लेडी-डाक्टर के प्रति मृत्यु-कामना ने बरबस सिर उभारा। अपनी इस कामना का ज़िक्र करते हुए शशि ने जीवन-राम से कहा :

"मैं सोचने लगा कि जिन अजन्मे शिशुओं को उसकी डाक्टरी का शिकार होना पड़ा है, उनमें से किसी एक की आत्मा यदि किसी प्रकार उसके

गर्भ में प्रवेश कर जाऊँ तो कैसा हो। कुछ इस तरह सब होना चाहिए कि स्वयं लेडी-डॉक्टर को भी इसका पता न चले और अनेक आशङ्काओं से वह घिर जाय। कभी तो वह समझे कि गर्भ है, कभी उसे ऐसा मालूम हो कि नहीं है—यहाँ तक कि अन्त तक वह निश्चय न कर सके कि उसके गर्भ में वास्तव में कोई शिशु पनप रहा है अथवा आशंकाओं और है-भी तथा नहीं-भी का केवल हवाई ववण्डर उठ रहा है!

"और यही मैंने किया भी", कुछ देर रुक कर शशि ने कहा—"इस द्वन्द्व और लेडी-डॉक्टर की आशंकाओं को एक उपन्यास लेखक की भांति यहाँ तक मैंने बढ़ाया कि अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे उसे मार डाला,—ठीक उसी समय जब कि गर्भस्थ शिशु को वह जन्म दे रही थी। मृत्यु और जीवन का इतना सजीव हृदय मैंने अपनी कल्पना से मूर्त्त कर लिया था कि·········!"

"लेडी-डॉक्टर तक ही अभी तुम पहुँचे हो," मृत्यु और जीवन के इस सजीव गठबन्धन का परिचय पाने के बाद जीवनराम ने कहा, "लेकिन मैं जो कहता हूँ, उसे भी तुम एक दिन स्वीकार करोगे। मृत्यु-कामना की भावनाएँ तुममें इतनी प्रबल हैं कि उन्हें करुण-कोमल आवरण में छिपा कर तुम नहीं रख सकते।"

"मैं मानता हूँ," शशि ने कहा, "मृत्यु-कामना मुझमें बड़ी प्रबल है—इतनी प्रबल है कि तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन," शशि भी जैसे अपना निश्चित मत प्रकट करने जा रहा था, "मृत्यु-कामना की इन भावनाओं को आशा पर आजमाने का मेरा इरादा ज़रा भी नहीं है उसके लिए मैं दूसरे शिकार की खोज रहा हूँ।"

इसके बाद शशि आशा को और भी अधिक करुण और कोमल दृष्टि से देखने लगा। जहाँ तक उससे बनता, आशा से सम्बन्ध रखने वाली आशङ्काओं का वह दमन कर देता। लेकिन शशि की आशंकाओं ने अब उसके स्वप्नों में उभरना शुरू कर दिया।

आशा की मृत्यु-शैया के स्वप्न शशि देखने लगा। बार-बार, थोड़े-बहुत

अन्तर के साथ, वह इन स्वप्नों को देखता। मृत्यु-शैया के इन स्वप्नों पर जैसे उसका कोई काबू नहीं था, और जीवनराम के शब्द जैसे सत्य बन कर उसके सामने आ जाते थे।

"तुम ठीक कहते थे जीवनराम," मृत्यु शैया के स्वप्नों का ज़िक्र करने के बाद शशि ने कहा, "आशा को लेकर मेरे हृदय में जो आशङ्काएँ उठती थीं, मृत्यु-शैया के स्वप्नों के रूप में मुझे अब वे दिखाई पड़ रही हैं। लेकिन," शशि ने जैसे एक साँस लेकर कहा, "अपनी आशङ्काओं को मृत्यु-कामना के रूप में स्वीकार करने के लिए मैं अब भी तैयार नहीं हूँ। एक ही सत्य इन स्वप्नों में उभर कर आता है। वह यह कि केवल करुण-कोमल भावनाओं के सहारे मैं आशा को जीवित नहीं रख सकता। आशा को लेकर मेरे हृदय में जो आशङ्काएँ उठती हैं, उन्हें दूर करने के लिए कुछ और भी करना होगा।"

मृत्यु-शैया के इन स्वप्नों में एक बात और होती थी। कुछ इस तरह के स्वप्न शशि देखता कि एक ओर तो आशा मृत्यु-शैया पर पहुँचती और दूसरी ओर, आशा के दम तोड़ने से पहले ही, किसी दूसरी स्त्री से उसका विवाह हो जाता। विवाह होने के बाद एकाएक मालूम होता कि आशा मृत्यु के किनारे से लौट आई है। इसके बाद शशि को इतनी गहरी वेदना होती कि उसकी आँखें खुल जातीं।

"स्वप्न का जो अर्थ तुम लगाते हो," जीवनराम ने कहा, वह ठीक हो सकता है। लेकिन एक बात तुम भूल जाते हो। वह यह कि आशा की मृत्यु-शैया के साथ-साथ किसी दूसरी स्त्री से विवाह भी तुम करते हो। यह क्यों? मैं फिर कहता हूँ कि तुम्हें अपनी पत्नी पर सन्देह है, तुम्हें विश्वास नहीं है कि उसका आत्म-समर्पण तुम्हें मिल सका है अथवा कभी मिल सकेगा। इसीलिए अपने स्वप्नों में एक ओर तुम आशा की मृत्यु देखते हो और दूसरी ओर तुम्हारा विवाह होता है।"

दूसरी स्त्री से विवाह करने की बात सामने आने पर शशि निरुत्तर हो जाता। अनेक बार वह इन स्वप्नों को देख चुका था और हर बार स्वप्न में

दूसरी स्त्री से विवाह करता था। लेकिन इस दूसरी स्त्री के चेहरे-मोहरे की कुछ भी स्मृति शेष नहीं रहती थी। दूसरा विवाह करने के बाद जब उसे मालूम होता कि आशा फिर से जी उठी है तो उसके जीते जी दूसरा विवाह करने की वेदना इतनी घनी हो उठती कि सिवाय उसके और किसी चीज़ का उसे ध्यान ही नहीं रहता। ऐसा मालूम होता, मानो इस वेदना को घनीभूत करने के लिए ही शशि का इन स्वप्नों में दूसरा विवाह होता था।

जीवनराम इस दूसरी स्त्री और उसके साथ शशि के दूसरे विवाह को ही अपना अमोघ अस्त्र बनाये हुए थे। शशि जीवनराम के सामने निरुत्तर तो हो जाता, लेकिन फिर भी उसे यह विश्वास नहीं होता कि जीवनराम जो कुछ कहते हैं, वह सत्य हो सकता है।

"तुम कहते हो," शशि ने एक दिन जीवनराम से पूछा, "दो आत्माओं के मिलन के लिए विवाह किया जाता है।"

"हाँ" स्वीकारात्मक उत्तर देने के बाद जीवनराम चुप हो गए।

"उद्देश्य शुभ है," शशि ने कहा, "लेकिन दो आत्माओं के मिलन पर ही बस क्यों की जाए! कोई ऐसा काम क्यों न किया जाए कि अधिक आत्माओं का मिलन जिससे सम्भव होसके?"

कुछ देर रुक कर शशि ने फिर कहना शुरू किया:

"जीवन की जटिलताओं को दूर करने के लिए दो आत्माओं का मिलन ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए हमें अधिक संगठित और सबल साधन से काम लेना पड़ेगा।"

"अधिक संगठित और सबल साधन तक पहुँचने के लिए ही विवाह पहली पाठशाला का काम देता है," जीवनराम ने कहा, "विवाह को इस दिशा का पहला काम समझिए। दो आत्माओं को छोटे परिवार से शुरू करके एक बड़े परिवार—विश्व-परिवार—तक हम पहुँच सकते हैं। क्रमिक विकास का यही मार्ग है—एकाएक सातवीं सीढ़ी पर नहीं पहुँचा जा सकता।"

"नहीं, ऐसा नहीं है," शशि ने कहा, "दो आत्माओं के मिलन के इस नुस्खे का उद्देश्य रहा है अधिक संगठित, सबल और व्यापक समाज को

अपने-आप में सिमटी और एक-दूसरे से अलग पारिवारिक इकाइयों में विभाजित कर तीन-तेरह कर देना !"

शशि के स्वप्नों का यह सिलसिला भी अजीब था। इनका प्रारम्भ होता था आशा की मृत्यु-शैया से और इसके साथ-ही-साथ उसके दूसरे विवाह से। दूसरे विवाह के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा—ऐसा मालूम होता मानो इसका कभी अन्त ही नहीं होगा।

लेकिन एक दिन आया जब इन स्वप्नों का भी अन्त हो गया और शशि के लिए इन अटपटे स्वप्नों को फिर देखना सम्भव नहीं रहा। स्वप्नों के इस क्रम का अन्तिम सपना देख कर शशि बुरी तरह चौंक उठा। उसने देखा कि आशा के मृत्यु-शैया तक पहुँच जाने के साथ-साथ जिस स्त्री के साथ उसका दूसरा विवाह होता है, वह है उसकी बहिन।

बहिन, भाई, पत्नी—जीवन की जटिलताओं ने जैसे सभी को एक ही तल पर लाकर पटक दिया था।

: १२ :

शशि से जब और कुछ नहीं बनता था तो वह हँसता था। समय और परिस्थितियों के साथ-साथ शशि की यह हँसी भी अनेक रूप धारण करके सामने आती थी। जहाँ कोई नहीं हँस पाता, वहाँ भी शशि हँसने से नहीं चूकता और इस तरह हँसता कि सब देखते ही रह जाते। एक बार बाबूजी ने, जिनके यहाँ शशि काम करता था, शशि की हँसी को लक्ष्य करके सत्-परामर्श दिया :

"तुम्हारी हँसी में मात्सर्य की गंध आती है—लगता है जैसे दूसरों की हँसी उड़ाने के लिए ही तुम हँसते हो। इसे छोड़ दो, नहीं तो यह एक ऐसी चीज़ है जो तुम्हें कभी सोशल नहीं बनने देगी।"

शशि भी जब-तब अपनी हँसी की व्याख्या करता। कहता :

"एक यही चीज़ तो अब मेरे पास रह गई है। जैसा जीवन आजकल चल रहा है, दो ही काम उसमें सफलतापूर्वक किये जा सकते हैं—एक हँसना और दूसरा रोना। इन दोनों में हँसी का दामन मैंने पकड़ा है। मैं हँसता हूँ

और हँसता ही रहूँगा—मरने के बाद भी यह हँसी मेरे होठों से इसी तरह चिपकी रहेगी।"

शशि की यह हार्दिक इच्छा थी कि उसकी मृत्यु पर आँसुओं की वर्षा करने वाला एक भी व्यक्ति साथ में न रहे। रोने वालों की आँखों के प्रत्येक आँसू को हँसी में परिवर्तित वह देखना चाहता था। सब से पहले आशा को शशि ने इसके लिए तैयार करना शुरू किया। लेकिन आशा शशि की इन बातों को सुना-अनसुना कर देती। उसका विश्वास था कि वह उस दिन को देखने के लिए जीवित नहीं रहेगी। वह कहती :

"यह नहीं हो सकता। पहला नम्बर मेरा है। पंडित जी ने मेरी जन्म-पत्री देखकर बताया था कि मैं बड़ी भाग्यवान हूँ। वैधव्य का योग मेरे ग्रहों में नहीं है—पति के कंधों पर चढ़ कर मैं सीधी स्वर्ग को जाऊँगी।"

अपने विवाह की चूनरी को जिसे पहिन कर उसने शशि के हृदय में प्रवेश दिया था, आशा ने उसे सहेज कर रख छोड़ा था। प्रथम दर्शन की तरह अपने अन्तिम दर्शन को भी वह उतना ही शुभ और आकर्षक बनाना चाहती थी!

"ठीक कहती हो आशा", जन्म-पत्री की बात सुनने के बाद शशि कहता, "अब समझ में आया कि मैं तुम्हारी मृत्यु के स्वप्न क्यों देखता था। स्वप्नों में जीवन के सत्य की अग्रिम झांकी ही दिखाई पड़ती है।" लेकिन, एक क्षण रुक कर शशि कहता, "यह न समझना कि तुम्हारे चले जाने पर मैं राम की तरह 'हाय आशा, हाय आशा' करते हुए अपने जीवन की इति-श्री करूँगा। नहीं, अपने स्वप्नों में मैं यह भी देखता हूँ कि तुम्हारे दम तोड़ने से पहले ही मैंने दूसरा विवाह कर लिया है!

अरे, "कहाँ चलीं आशा, ज़रा ठहरो! तुम्हारे मतलब की बात तो मैंने अभी कही ही नहीं," आशा की भौहों में बल पड़ते देख शशि कहता, "इसका यह मतलब नहीं कि मैं तुम्हें बिल्कुल भूल ही जाऊँगा। नहीं, राम की तरह मैंने तुम्हें भी अमर करने का सोच लिया है। यदि मेरे पास स्वर्ण हुआ तो तुम्हारी एक प्रतिमा बनवाकर अपने शयन-कक्ष में प्रतिष्ठित

करूँगा। दूसरे विवाह के बाद घर में पाँव रखने पर सबसे पहले नयी पत्नी से तुम्हारी स्वर्ण-प्रतिमा का सुनहरी परिचय कराऊँगा। कहूँगा कि यह देवी जी हैं। विधाता के विधान से मेरी पत्नी यह बन गई थीं। लेकिन मेरे भाग्य में इनका पति बन कर रहना नहीं बदा था। फिर भी मैंने कोशिश की और कोशिश करते-करते हृदय में दर्द तक उठने लगा। बड़ी कठिनता से यह प्रसन्न होती हैं। इन्हें नमस्कार करो!"

आशा को यह समझने में देर नहीं लगी कि किस की बातें शशि के मुँह से निकल रही हैं। जीवनराम जब-तब शशि के घर आया करते थे। आशा अनेक बार जीवनराम की बात सुन चुकी थी। जीवनराम की बातों में उसे सार दिखाई पड़ता था, लेकिन उसकी समझ में यह नहीं आता था कि दीन-दुनिया की अन्य सब बातों को भूल कर पति-पत्नि के बीच आत्म-समपर्ण के अभाव की ही बातें वह क्यों करते हैं। शुरू-शुरू में आशा के हृदय में जीवनराम के प्रति एक प्रकार का कौतुक सा उत्पन्न हुआ था। लेकिन यह कौतुक अधिक दिनों तक टिक नहीं सका। मन-ही-मन वह जीवनराम से कुढ़ने भी लगी।

"मित्र भी तुम छांट कर ही लाते हो," एक दिन आशा ने शशि से कहा, "एक तुम्हारे जीवनराम हैं। हर समय वह यही देखा करते हैं कि किसकी पत्नी किससे कितना प्रेम करती है। प्रेम पर ही उनकी दृष्टि होती तो भी एक बात थी। वह तो देखते हैं कि किसको पत्नी किससे कितना विश्वासघात करती है। एक यही चिन्ता है जो हर घड़ी उनके सिर पर सवार रहती है।"

शशि चुपचाप सुनता रहा। अपनी बात को पूरा करते हुए आशा ने कहा:

"मैं पूछती हूँ, तुम्हारे यह जीवनराम कभी घर बसा कर भी बैठेंगे अथवा सारी उमर इसी उलट-पंथी खोद-कुरेद में बिताएँगे। ?"

आशा की बातों को शशि ने जीवनराम के सामने उगल दिया। जीवनराम ने सुना, सुन कर एक क्षण चुप रहे, फिर बोले:

"घर बसा कर बैठने के अवसरों की मेरे जीवन में कमी नहीं रही, लेकिन मेरी आशा, अथवा यह कहिये कि तुम्हारी आशा की आशा अबतक पूरी नहीं हो सकी है— कभी-कभी दूर से आहट पाकर लगता है कि ओट में न रह कर मेरे हृदय की रानी अब सामने आया ही चाहती है, लेकिन वह आई नहीं और तुम्हारा यह जीवनराम अब तक अकेला ही जीवन बिताता रहा है।"

आशा ओट में खड़ी जीवनराम का उत्तर सुन रही थी । उसे शशि पर भी क्रोध आया कि घर की सब बातें वह जीवनराम से कह देते हैं । लेकिन अपने क्रोध को वह पी गई और वहीं खड़ी दोनों की बातें सुनती रही। आशा को यह देख कर सन्तोष भी हुआ कि बाद की बातों में जीवनराम ने उसके नाम का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं किया—जैसे उसके लिए आशा का कोई अस्तित्व ही न रह गया हो ।

"पति-पत्नियों के हृदय की खोद-बीन करना सहज नहीं है," जीवन-राम ने कहना शुरू किया, "कदम-कदम पर गढ़े मिलते हैं । जरा चूके नहीं कि गए । बड़ी सावधानी से, अपना दामन बचा कर, चलना पड़ता है । तुम्हें क्या बताऊं," जीवनराम ने शशि के निकट खिसकते हुये—कुछ इस मुद्रा में कि कोई तीसरा व्यक्ति न सुन ले—कहा, "शायद ही कोई स्त्री हो जिसे मैंने अपने पति से सन्तुष्ट देखा हो । कितनी तो ऐसी थीं जो मेरे गले पड़ने को तैयार हो गईं । गृहस्थी के जंजाल से पीछा छुड़ाने के लिये सब कुछ छोड़-छाड़ कर वे मेरे साथ चलने को तैयार हो गई थीं" । लेकिन, जीवनराम का स्वर कुछ तेज़ और दृढ़ हो चला, "मैं उनकी इन हरकतों के रहस्य को जानता था कि किस लिये वे मेरे साथ चलने के लिये इतनी उतावली हो उठी हैं । आज वे अपने पति से असन्तुष्ट थीं । कल मुझ से भी हो सकती थीं । अपनी ओर से मैंने उन्हें कभी प्रोत्साहित नहीं किया । मेरे स्थान पर यदि और कोई होता तो न-जाने क्या-क्या गुल खिलते।"

कुछ रुक कर जीवनराम ने फिर कहना शुरू किया :

"बात इतनी ही नहीं है । मैंने ऐसे पतियों को भी देखा है जो स्वयं

अपनी स्त्रियों को पर-पुरुषों के सामने लाकर खड़ा कर देते हैं और समझते यह हैं कि वे बहुत बड़ी आधुनिकता का परिचय वह दे रहे हैं। यह एक नयी लहर है जो आजकल हमारे समाज में, विशेषकर नवयुवकों में, चल पड़ी है। लेकिन इस आधुनिकता के पीछे जो मूल भावना छिपी है, उसे कोई नहीं देखता। यदि देखें तो पता चले कि आधुनिकता का यह अभिनय कितनी पतित जमीन पर खड़ा हुआ है। इस तरह के आधुनिक पतियों में, और उन पतियों में जो पहले, ज़रा ज़रा सी बात पर, अपनी पत्नी का झोंटा पकड़ कर घर से बाहर निकाल देते थे, वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। दोनों को एक ही थैली के चट्टे-बट्टे समझिए।"

"लेकिन जीवनराम," शशि ने कहा, "यह तो मैं भी सोच रहा था कि आशा का तुमसे परिचय कराऊं। इसके लिए आशा से मैंने कहा भी, लेकिन वह तैयार नहीं हुई। कहने लगी—जीवनराम के सामने जाकर मैं क्या करूंगी। ले जाना हो तो किसी ऐसी को ले जाओ जो उनका साथ दे सके, जिसके सहारे वह घर बसाकर बैठे।"

"तुम्हारी आशा समझती है," जीवनराम ने कहा, "अब तक जो मैंने विवाह नहीं किया, इसका कारण यह है कि मुझे उपयुक्त,—मतलब यह कि साथ देने वाली,—लड़की नहीं मिली। आशा का यह ख्याल ग़लत है। साथ देने वाली लड़कियों की कमी नहीं है— साथ देने को तो वे यहाँ तक साथ दे सकती हैं कि मरते मर जाओ, फिर भी साथ न छोड़ें। ऐसी लड़की के गले पड़ जाने पर तो मुझे भी तुम्हारी तरह दूसरे विवाह अथवा पत्नी-बदलौवल के स्वप्न देखने पड़ेंगे।"

इसके बाद जीवनराम ने अपनी आँखों देखा और स्वयं भुगता हुआ एक उदाहरण देना शुरू किया। एक बार उन्हें कुछ लड़कियों की एक क्लास लेनी पड़ी। कुल मिलाकर पच्चीस-तीस लड़कियों का एक ग्रूप तैयार करना था। उसी के लिये जीवनराम को नियुक्त किया गया और वह उन्हें लेक्चर देते थे। इन लड़कियों में एक मद्रासिन बहुत तेज़ थी। क्लास में सबसे पीछे वह बैठती और ठीक लेक्चर के मध्य में, जबकि

क्लास में सन्नाटा छाया होता, एकाएक, किसी-न-किसी प्रकार का शोर बह कर बैठती। इस तरह पूरी क्लास का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के बाद वह मुस्करा कर कहती,—"कुछ नहीं। मेरी पुस्तक फर्श पर गिर गई थी।"

सब को बड़ा बुरा लगता, लेकिन वह इस तरह की हरकत करने से बाज़ नहीं आती थी। ऐसे ही एक दिन वह अनायास चीख़ उठी। पूछने पर मालूम हुआ कि न-जाने कहाँ से एक छिपकली उस पर आ गिरी थी।

कुछ दिन तक यह चलता रहा। इसके बाद उसने क्लास में देर से आना शुरू किया। सब लड़कियाँ आकर बैठ जातीं, लेक्चर भी शुरू हो जाता, लेकिन उसका कुछ पता नहीं। काफ़ी देर करके वह आती और बहुत ही विचित्र बहाने बनाती। एक दिन वह कहने लगी, अमुक स्थान पर जो झाड़ी है, उसमें मेरी साड़ी उलझ गई। मैं जितना ही अपनी साड़ी को काँटों से छुड़ाने का प्रयत्न करती, उतनी ही वह उलझती जाती। छुटकारा मिला साड़ी के तार-तार हो जाने पर। उस दशा में भला यहाँ कैसे आसकती थी। साड़ी बदलने के लिए फिर घर जाना पड़ा।

"मैं बड़े ध्यान से उसका अध्ययन कर रहा था," जीवनराम ने कहा—इधर कुछ दिनों से उसके पहनावे में भी अन्तर आगया था। पहले वह बन्द गले के कपड़े पहनती थी, बाहें भी पूरी ढकी हुईं। लेकिन अब उसने वी-कट—खुले गले के जम्पर का प्रदर्शन करना शुरू किया है। लेक्चर के बाद सब लड़कियाँ चली जातीं, लेकिन वह फिर भी खड़ी रहती। एक दिन मैंने उससे पूछा,—"तुम अभी तक यहाँ हो ?"

"हाँ, आपसे एक प्रश्न पूछना है", उसने उत्तर दिया और जो कुछ भी मन में आया, प्रश्न बनाकर सामने रख दिया। प्रश्न करते-करते एक दिन वह प्रेम का प्रदर्शन करने पर उतर आई। अकेले में कहने लगी,—"आप बुरा मानें, चाहे भला, मैं आपके बिना नहीं रह सकती। लेक्चर देने के लिए नहीं, आप प्रेम करने के लिये बने हैं।"

वह जीवनराम के पीछे पड़ गई। जीवनराम भी ढील देते गए कि

देखें, कहाँ तक जाती है। सीमा आने पर उन्होंने रास खींची। उसे अपने घर पर बुला कर कहा :

"प्रेम करना तो बुरा नहीं, लेकिन प्रेम के पीछे पागल होना बुरा है। तुम तो प्रेम की इस हद तक भूखी मालूम देती हो कि मानो तुम्हें स्वप्न में भी कभी कोई प्रेम करने वाला नहीं मिला। जो भी सामने आ जाए, उसी के पीछे पड़ना ठीक नहीं। तुम लोगों को लेक्चर देने के लिए ही मैं नियुक्त हुआ हूँ, प्रेम करने के लिए नहीं।"

बात बहुत कुछ ठीक थी। घर के आदमियों में से भी कोई उस युवती से सीधे मुँह बात नहीं करता था। घर वालों के दुर्व्यवहार से छूट कर वह किसी की शरण में जाना चाहती थी। जीवनराम उसे घर वालों से छुटकारा तो दिला सकते थे, लेकिन उसके प्रेमी नहीं हो सकते थे। किसी का आश्रय-दाता बनना एक बात थी, प्रेमी बनना दूसरी। जब बात बहुत आगे बढ़ी तो तो जीवनराम के लिए किसी निश्चयात्मक स्थिति पर पहुँचना ज़रूरी हो गया। एक दिन उससे पूछा :

"सोच कर बताओ, आख़िर तुम चाहती क्या हो? अब इधर-उधर करने से काम नहीं चलेगा। तुम्हें बताना ही होगा कि चाहती क्या हो—आश्रयदाता अथवा प्रेमी?"

इसका वह कोई उत्तर नहीं दे सकी। दे भी नहीं सकती थी। वह स्वयं नहीं जानती थी कि उसे क्या चाहिए। वह तो बस एक सहारा चाहती थी,—जैसे भी हो घर पर होने वाले दुर्व्यवहार को आँखों की ओट करने के लिए।

"फिर तुम ने क्या किया?" मद्रासी लड़की के बारे में सब कुछ जानने के बाद शशि ने पूछा।

"कुछ नहीं," जीवनराम ने कहा, "मेरे दो मित्र थे। दोनों का पता मैंने उसे बता दिया। एक उनमें से उसका अच्छा प्रेमी हो सकता था, और दूसरा अच्छा आश्रयदाता। दोनों में से जो भी उसे पसन्द हो, अपना ले।"

रात को शशि और आशा आपस में बातें कर रहे थे—जीवनराम को

प्रेम करने वाली मद्रासिन लड़की को लेकर। आशा कह रही थी :

"जितने मनोयोग और उत्साह के साथ जीवनराम यह सब करते हैं, उतने ही उत्साह से यदि वह किसी से प्रेम भी करते तो फिर कहने के लिए कुछ नहीं रह जाता। सब कुछ समझते हुए भी तुम्हारे जीवनराम कुछ नहीं समझते।"

शशि चुपचाप आशा की बातें सुनता रहा। आशा कह रही थी :

"वह कौतुक प्रिय लड़की थी। क्लास में गुरुदेव के सामने भी उसकी कौतुक-प्रियता बनी रहती थी। जीवनराम न हो कर गुरुदेव के स्थान पर यदि उस समय कोई और होते, तो भी वह अपने कौतुक-प्रदर्शन से नहीं चूकती। जीवनराम ने उसकी दृष्टि में या हृदय में कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं किया था। लेकिन जब जीवनराम उसके कौतुक-प्रदर्शन की ओर आकर्षित हुए,—यहाँ तक कि उसकी ज़रा-ज़रा-सी बात का भी वह अध्ययन करने लगे तो उसका कौतुक-प्रदर्शन भी एक प्रत्यक्ष आकार ग्रहण करता गया। जीवनराम के इस लगाव ने ही उसके कौतुक को वी-क्रट-जम्पर की सीमा तक पहुँचा दिया और इस तरह जाने-अनजाने एक ही सूत्र पकड़ कर दोनों एक दूसरे के निकट आते गए।

उस लड़की में दोष हो सकते हैं, उसका कौतुक-प्रदर्शन अतिरञ्जिता हो सकता है," आशा ने कहा, "लेकिन जीवनराम का अध्ययन भी तो अतिरञ्जित और कौतुक से शून्य नहीं था। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि जैसे जीवनराम के हृदय में कोई चोर बैठा हुआ है।"

शशि बड़े ध्यान से आशा की बातें सुन रहा था और इतना तन्मय वह हो गया था कि उसे पता ही न चला कि कब में आशा की बात समाप्त हो गई। उसे इसका ध्यान नहीं रहा था कि किस उद्देश्य को लेकर आशा यह सब कह रही थी। मुग्धभाव से वह आशा को देख रहा था, और देखता ही रह गया था।

"इस तरह क्या देख रहे हो?" अपने सिर के पल्ले को सहसा ठीक करते हुए आशा ने पूछा।

"देख तो मैं कुछ नहीं रहा," शशि ने कहा, "लेकिन कुछ सोच रहा हूँ—सोच रहा हूँ कि तुम्हें किसी उपन्यास की हीरोइन बनना चाहिए था, आशा !"

"और तुम्हें उस उपन्यास का हीरो—नहीं, हीरो नहीं", आशा ने अपने प्रस्ताव का संशोधन करते हुए कहा, "तुम्हें बनना चाहिए उस उपन्यास का रचयिता।"

"नहीं आशा किताबी जीवन की रचना करना नहीं", शशि ने कहा "मैंने तो अपने लिए दूसरा ही कार्य-क्रम बनाया है। सोचता हूँ तुम्हें अपना साथी बनाकर सामाजिक व्यवस्था पर गहरा आघात करूंगा।

"ओह, पर एक बात है ?" आशा ने हंसते हुए कहा, "अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता, इसलिए मैं भी तुम्हारे साथ रहूँगी।"

"तुम बिलकुल रोमान्टिक हो आशा !" शशि ने बीच में ही कहा और मुग्धभाव से कुछ देर तक आशा की ओर देखता रहा। इसके बाद शशि ने जैसे स्वयं अपने से ही कहना शुरू किया, "लेकिन तुम्हारा यह पति भूख और वासना की झूंझल उतारना तो जानता है, प्रेम करना नहीं !"

उत्तर में आशा ने शशि से कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप बैठी रही। इसके बाद एकाएक शशि ने आशा के हाथ को अपने हाथ में लेते हुए पूछा :

"तुम्हें मेरी क़सम है। सच-सच बताना, तुम मुझे अपना क्या समझती हो— आश्रयदाता अथवा प्रेमी ?"

पहली बार शशि ने इतने प्रेम से इस तरह का प्रेमहीन प्रश्न किया था। एक क्षण तक आशा ने शशि के मुंह की ओर देखा और फिर कहा—

"दोनों !"

"हाँ दोनों" शशि कह रहा था, "लेकिन अपनी पत्नी का आश्रयदाता बनना आज कितना कठिन हो गया है। नोन-तेल-लकड़ी के चक्कर से ही यहाँ पीछा नहीं छूटता !" कहते-कहते शशि का स्वर एक दम बदल गया।

नोन-तेल लकड़ी के चक्कर को जैसे आँखों की ओट करते हुए बोला "सच कहता हूं आशा, कभी-कभी जी करता है कि सब कुछ छोड़ छाड़कर बस तुमसे प्रेम ही प्रेम मैं किया करूं!"

आशा शशि को, उतनी ही मुग्ध मुद्रा में, देख रही थी— अपनी मौन भाषा में जैसे कह रही थी—

कहने को चाहे जो कहो, लेकिन सत्य यही है कि तुम भी कुछ कम रोमाण्टिक नहीं हो!"

पाँचवाँ खण्ड

चार महीने की बात

: १ :

घर अथवा पांव रखने के लिए ज़मीन मिलने से पूर्व शशि को घर-वाली मिल गई और 'नौकर' बनने से पूर्व नौकरी। एक बार, संयोगवश—परिस्थितियों वश भी इसे हम कह सकते हैं,—छापाख़ाने में शशि ने नौकरी क्या की कि वह बाबाजी के कम्बल की भांति उससे चिपक कर रह गई। छापाख़ाना न होकर यदि और कुछ शशि के सामने होता तो वहाँ भी शशि उतनी ही सफलता—अथवा विफलता—प्राप्त करता। किसी भी काम को चलता करने की शक्ति और समझ शशि में थी और अपनी इस शक्ति और समझ का, क़ायल करने योग्य, परिचय भी वह अनेक बार दे चुका था। लेकिन जीवन का वह पहला संयोग भी शशि के जीवन के साथ ऐसा नत्थी हुआ कि उसने उसका साथ नहीं छोड़ा।

छापाख़ाने के अलावा शशि ने दूसरी जगह काम पाने और करने का प्रयत्न किया। जहाँ भी वह जाता, उससे प्रश्न किया जाता,—आपने पहले कहीं काम किया है? शशि उत्तर देता—'हाँ, अमुक छापेख़ाने में किया है'। बस, इतना ही प्रर्याप्त होता। काम न देकर शशि को इसके बाद परामर्श दिया जाता :

"तो आप किसी छापाख़ाने में ही कोशिश कीजिए। वहाँ आपको सहूलियत होगी।"

जहाँ भी शशि जाता काम के स्थान पर इसी तरह का परामर्श उसे मिलता—उसके मार्ग को सहज-सुगम बनाने के लिए। यह देखने के लिए जैसे किसी के पास अवकाश नहीं था कि शशि अपना ही नहीं, वरन् दूसरों का मार्ग सहज और सुगम बनाने में भी योग देना और पाना चाहता है। जब कभी शशि इस तरह की बात करता भी तो हल्की-सी ऊँह के साथ शशि की बात को टाल दिया जाता। कभी-कभी व्यङ्गपूर्ण हँसी का भी शशि को सामना करना पड़ता।

"देखिए मिस्टर शशि," जीवन का मर्म समझाते हुए एक अनुभव-प्राप्त साहब शशि से बोले, "आपने अभी जीवन नहीं देखा। मेरी बात मानिये, व्यर्थ का तूमार बांधने से कोई लाभ नहीं। आप अपनी बात कहिए। इस समय आपके लिए मेरे पास कोई काम नहीं है। इसका मुझे दुख है। लेकिन आप युवक हैं, आपमें प्रतिभा है और मुझे आपसे पूरी सहानुभूति है। यदि आपको रुपये-पैसों की कुछ आवश्यकता हो तो कहिए। मुझसे जितना बन पड़ेगा, आपकी कुछ सहायता करने का मैं प्रयत्न करूँगा।"

लेकिन शशि काम चाहता था, सहायता नहीं। शुरू-शुरू में जब कभी कोई सहायता की बात करता तो सक्रिय धन्यवाद देने के लिए शशि के होंठ फड़कने लगते, हाथों की मुट्ठियाँ कस कर बंध जाती। सहायता की बातें करने वालों की बत्तीसी ढीली करने के लिए वह उतावला हो उठता। लेकिन धीरे-धीरे यह उतावलापन जाता रहा। रटे-रटाए शब्द इसके बाद उसके मुँह से निकलते:

"सहायता नहीं, मुझे काम चाहिए। आशा है, इन दोनों का अन्तर आप समझते होंगे। नहीं समझते हों तो समझने की कोशिश कीजिए। तभी आपसे कुछ बातें हो सकेंगी।"

शशि का यह उत्तर, एक तरह से, टकसाली बन गया। जीवन के अनेक टेढ़े-सीधे अनुभवों को प्राप्त करने के बाद शशि ने यह उत्तर गढ़ा था। शशि सब कुछ भूल सकता था, लेकिन अपने इस उत्तर को नहीं—साथ ही

उन व्यक्तियों को भी नहीं जिन्हें शशि ने जब-तब यह उत्तर दिया था।

इनमें एक साहब सबसे विचित्र थे। काम कराने के लिए नहीं; वरन् बेकारों की बेकारी पर तरस खाकर वह अपने कर्मचारियों को रखते। पैसा वह अपने कर्मचारियों को देते, लेकिन वेतन के रूप में नहीं, वरन् सहायता के रूप में। बड़े गर्व से वह कहते :

"मेरी तो आत्मा काँप उठती है, बेकारों की बेकारी का जब मैं ध्यान करता हूँ।"

बेकारों की बेकारी का ध्यान किए बिना वह किसी काम का श्रीगणेश ही न करते। उनके कर्मचारियों में जब कभी असन्तोष सिर उभारता तो वह बड़े ज़ोरों से उनका पक्ष लेते और उन लोगों को काफ़ी तेज़ और कटु भाषा में भला-बुरा कहते जो बेकारों की बेकारी पर ज़रा भी तरस नहीं खाते। पढ़े लिखे बेकारों और झल्ली ढोने वाले मज़दूरों की तुलना करना भी उनका एक प्रिय विषय था। दोनों का सजीव चित्र प्रस्तुत करने के बाद कहते :

पढ़े-लिखे बेकारों की अवस्था झल्ली वाले मज़दूरों से भी गई-बीती है। बोझा ढोकर दो-चार पैसे उन्हें मिल जाते हैं। उतने में ही वे मस्त रहते हैं। लेकिन पढ़े-लिखे बेकार,— उनकी वेदना का तो कोई अन्त ही नहीं है।"

इसके बाद शिक्षा की दोष पूर्ण प्रणाली का रोना रोते। कहते :

"यहाँ तो सम्पूर्ण ढाँचा बदलने की ज़रूरत है। जड़ को छोड़कर टहनियों पर प्रहार करने से काम नहीं चलेगा। आप लोगों को शिकायत है कि मैं नियत और निश्चित वेतन नहीं देता। बात ठीक है। वेतन मैं दे भी नहीं सकता,— मेरे जीवन का ध्येय उससे उलझ कर रह जाना नहीं है। जब तक मेरे जीवन का स्वप्न सत्य में परिणत नहीं हो जाता, तब तक एक ही बात पर मैं सन्तोष कर सकता हूँ। वह यह कि बेकारों की बेकारी के बोझ को कुछ हल्का करने में मैं योग दे रहा हूँ।"

अपनी बेकारी का बोझ हलका करने के लिए शशि ने भी इनके यहाँ

नौकरी की और उन्होंने भी अपनी ओर से, कोई कसर नहीं छोड़ी। शशि उन्होंने घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया और इससे पहले कि शशि कभी अपने वेतन अथवा हाथ तंग होने के बारे में कुछ कहता, वह शशि को समझाना शुरू करते :

"आपका खर्च ही क्या है। आप हैं और आपकी बीबी— साथ में एक छोटा-सा बच्चा। दो के गेहूँ, दो का घी, एक को लकड़ी, बारह आने के मसाले, एक कपड़ों के लिए, एक मनोरंजन और पाँच फुटकर खर्च के लिये। इसके साथ साथ आप एकाध बीमा-पालिसी भी ले सकते हैं,— भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए।"

कुछ क्षण रुक कर वह फिर कहते :

"और देखिए, हमारे घर में भी वही मिट्टी का एक चूल्हा है। आप आश्चर्य करेंगे यदि मैं आपको बताऊं कि हमारे घर में कितना कम खर्च होता है। आप अपनी पत्नी को हमारे यहाँ छोड़ दीजिए। हमारे घर से बहुत होशियार हैं। वह आपकी पत्नी को सब सिखा देंगी कि किस तरह कम खर्च में गृहस्थी का काम चल सकता है।"

शशि उनकी बातें सुनकर चकित रह जाता। ऊपर से नीचे तक एक नज़र वह शशि को देखते और उसकी अनेक गुप्त-अगुप्त विशेषताओं का बखान करने लगते।

"मैं देख रहा हूँ कि आप अपनी विशेषताओं से भी परिचित नहीं हैं। इसमें आपका नहीं, आज के ज़माने का दोष है। सब अंधे की लाठी ही घुमाते हैं। कौन किस दिशा और क्षेत्र में कितना उपयोगी हो सकता है, यह कोई नहीं देखता। न काम की कमी है, न काम करने वालों की, असल में कमी है पारखी लोगों की। बिना पारखी के हीरे का टुकड़ा भी धूल में पड़ा-पड़ा खो जाता है। यदि आप मेरे साथ रह गए तो देखियेगा कि आप कितना आगे बढ़ते हैं।"

बहुत दिनों के बाद शशि का इन बेजोड़ पारखी से वास्ता पड़ा था। शशि उनकी बातें सुनता और स्तब्ध रह जाता—कहें कि स्तब्ध रहकर,

मूक भाव से, उनकी बातें सुना करता। जब तक वह उनके साथ रहता उसे ऐसा मालूम होता मानो बिना ईंधन के चूल्हा चाहे न भी गरम हो, लेकिन उसका हृदय अवश्य गरम हो जाता। शशि का आत्म-विश्वास जगाए रखने में वह सदा तत्पर रहते और शशि को घेर-घार कर अपने निकट रखना चाहते—यह इसलिए कि कहीं शशि अपने प्रेरणाकेन्द्र से छिटक कर अलग न हो जाए।

बेकार और बेकारी को लेकर भी वह शशि से बातें करते, लेकिन कुछ परिवर्तित रूप में। शशि जब कभी उनके सामने जाता तो बेकारी से अधिक बेकारों की बातें करते,—कुछ इस तरह कि देखते-देखते बेकारी और बेकारों के बीच का अन्तर ग़ायब हो जाता। बेकारी की निन्दा तो वह फिर भी करते, लेकिन उससे भी अधिक निन्दा करते थे वह उन बेकारों की, जिनका बेकारी ने निर्माण किया था,—कुछ इस तरह मानों बेकारी का मूल,कारण स्वयं बेकारों में ही निहित हो।

"आप सच जानिये मिस्टर शशि," बेकारी की ज़मीन पर खड़े बेकारों का विश्लेषण करते हुए वह कहते, "आज के अधिकांश बेकार कुछ इसी तरह के हैं। ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँ के पेट से ही बेकारी का पट्टा लिखा कर लाते हैं। हाथ पाँव हिलाएंगे नहीं, और चाहेंगे यह कि उनकी बेकारी दूर हो जाए।"

उदाहरण और प्रमाण देने के लिए उन्हें दूर जाने की जरूरत नहीं होती। अपने कर्मचारियों में से ही किसी एक का नाम लेकर वह पुष्ट प्रमाण पेश करते। न-जाने उनमें ऐसी क्या बात थी कि उन्हें एक-के-बाद-एक छंटे हुए बेकार ही मिलते थे। यह भी हो सकता है कि वह अपने यहाँ रखते भी छंटे हुए बेकारों को ही हों। इसीलिए, एक बार, हंसी-हंसी में उन्होंने अपने कार्यालय को बेकारों की धर्मशाला कहा था। खुले हृदय से अपने कार्यालय में बेकारों का वह स्वागत करते, उनकी बेकारी का बोझ हल्का करने में योग देते, और अन्त में, सम्बन्ध-विच्छेद के समय, यह कहना भी नहीं भूलते कि संकट पड़ने पर उनकी याद अवश्य कर ली

जाए। वह सब कुछ सहने के लिए तैयार थे, लेकिन यह नहीं कि एक बार उनका जिससे सम्बन्ध हो गया है, वह उनके रहते, जीवन से निराश होकर रेल की पटरी पर लेट जाए, अथवा इसी तरह का और कोई काम कर बैठे।

अत्यधिक उदार हृदय पाया था उन्होंने,—सहानुभूति और संवेदना से भरा हुआ। अपने कर्मचारियों के दुर्भाग्य की जब कभी वह कल्पना करते तो उनका हृदय काँप उठता। सबसे अधिक वेदना होती उन्हें उस समय जब वह देखते कि जिनके लिए वह इतना सब-कुछ कर रहे हैं, वेही उनकी उपेक्षा करते हैं। कभी-कभी वह इस उपेक्षा को लेकर खीज भी उठते। ऐसे ही एक अवसर पर शशि से बोले :

"मेरी समझ में नहीं आता कि आजकल के बेकारों को क्या हो गया है। बहुत कोशिश करता हूँ, लेकिन उनका दिमाग़ मुझे ढूंढ़े नहीं मिलता।"

आज के बेकार उनकी समझ से बाहर थे। उन्हें अपनी समझ के दायरे में बांध कर रखना बाबूजी के लिए सम्भव नहीं था। सबसे अधिक अखरने वाली बात उनमें यह थी कि बेकारों की धर्मशाला अथवा, कार्यालय से एक बार बाहर होने के बाद उनकी ओर पलट कर देखने से बजाय वे रेल की पटरी पर लेट जाना अधिक पसन्द करते थे। उनका एक कर्मचारी इस तरह से आत्म-हत्या भी कर चुका था और कई दिन तक—नहीं, महीनों तक—उसकी आत्म-हत्या का भूत उनके सिर पर सवार रहा था और उन्हें मुर्दे ही मुर्दे दिखाई देते थे। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि मानो कर्मचारी उन्हें हत्या का दोषी बनाने के लिए उनके यहाँ काम करने आते हैं। तभी से उन्होंने यह नियम बना लिया था कि और चाहे जो हो जाए, भविष्य में रीती आँखों से वह अपने किसी कर्मचारी को विदा नहीं करेंगे।

शशि से उन्हें बहुत-बहुत आशाएँ थीं और एक आदर्श बेकार के ढांचे में वह उसे ढालना चाहते थे।

: २ :

शशि नौकरियाँ करता और करके छोड़ देता। नौकरियों के साथ शशि

का अच्छा-ख़ासा रोमान्स चलता। यह तो वह चाहता कि नौकरियाँ उसकी होकर रह जाएँ, उसके ज़रा-से इशारे पर हाथ बाँधे उसके सामने आकर खड़ी हो जाएँ, लेकिन जब कभी उससे नौकरियों का होकर रहने के लिये कहा जाता तो वह हाथ खींच लेता। नौकरियों को अपना बनाना तो वह चाहता, लेकिन खुद नौकरियों का बनना वह नहीं चाहता था।

नौकरियाँ ही शशि के जीवन का अवलम्ब थीं। उन्हीं के सहारे उसका जीवन बीतता और सम्भवतः इसीलिए किसी एक का होकर रहना वह नहीं चाहता। शशि को कुछ इस बात का भी डर था कि एक का होकर रह जाने से वह किसी और के काम का नहीं रहेगा। नतीजा इसका यह था कि शशि जहाँ भी जाता, जमकर काम नहीं करता। जम कर काम करने की शक्ति-सामर्थ्य के रहते हुए भी वह कहीं जम नहीं पाता।

"बेकार मैं हूँ और बेकार ही मैं रहूँगा", सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ने पर शशि कहता, "जम कर काम करना क्या होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। न-जाने कितनी नौकरियाँ मैंने की हैं और न-जाने कितनी और करूँगा। अब आप ही बताइए, आखिर किस-किस की जयमाला मैं अपने इस एक अदद गले में डालता फिरूँ !"

नौकरियों के बाज़ार में उसका भाव गिर न जाए, इसका शशि पूरा ध्यान रखता। अपना बाज़ार-भाव बढ़ाने अथवा नये प्रयोग करने के लिए शशि नौकरियों को एक साधन-मात्र समझता। नौकरियाँ क्या थीं, मानो शशि के मार्ग का पड़ाव थीं ! एक-के-बाद एक युवती से प्रेम करने वाले युवक जैसी शशि की दशा थी। अनेक युवतियों से वह प्रेम करता और प्रेम करके छोड़ देता। जब तक उपयुक्त प्रेमिका नहीं मिलेगी, तब तक वह अपने प्रेम के प्रयोग करता ही रहेगा। जब मिल जायगी, तो उससे विवाह कर लेगा।

नौकरियाँ करते-करते सञ्चालक के पद तक शशि पहुँच जाना चाहता था। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि वह अपने जीवन में ऐसा दिन देखे जब कि वह भी दूसरों को नौकर रख सके। कभी-कभी शशि इस तरह के

स्वप्न भी देखता कि आज जिन्हें नौकरियाँ करनी पड़ रही हैं, वे सब सञ्चालक बन गए हैं। जो नीचे थे वे ऊपर चले गए हैं और जो ऊपर थे, वे नीचे आ गए हैं। इस तरह की उलट-पंथी अथवा शीर्षासनी कल्पनाएं करने में शशि को बड़ा आनन्द आता और जीवन के इस आनन्द को सार्थक करने के लिए गम्भीर आवेश के साथ जब तब वह उनका बखान भी किया करता।

आदर्श बेकार बनने के लिए शशि को कोई खास प्रयत्न नहीं करना पड़ा,—बिना प्रयत्न किए ही वह आदर्श बेकार बन गया। आदर्श बेकार न कहकर चिर बेकार उसे कहना चाहिए। यही शशि का वास्तविक रूप था और अपने इस रूप को वह अच्छी तरह पहचानता था। वह जानता था कि बेकार रहकर ही उसे अपना जीवन बिताना है। करने को नौकरियाँ वह करेगा, लेकिन मोह जाल में फंसकर कोल्हू का बैल कभी नहीं बनेगा।

शशि सब कुछ करता लेकिन पैसे की दासता कभी स्वीकार न करता। केवल यह दिखाने और सिद्ध करने के लिए कि पैसे की दासता को उसने स्वीकार नहीं किया है, अच्छी-से-अच्छी नौकरियों को शशि ठुकरा देता। सगे-सम्बन्धी तथा मित्र शशि को बहुत समझाते, लेकिन वह किसी की न सुनता। नतीजा यह कि जान-पहचान और उसका भला करने के पीछे दुबला होने वाले व्यक्ति खीज उठते। इस दिशा में शशि यहाँ तक आगे बढ़ता कि उसकी इस आदत को एक सनक समझ कर वे सब मुँह बिचकाते।

लेकिन इस सनक ने,— अगर इसे सनक ही कहा जाए, शशि को कोल्हू का बैल बनने से बचाया। इसके पीछे शशि दूसरों का ही नहीं, अपना भी नुकसान करता। अपने को काम का सिद्ध करने में वह पीछे नहीं रहता, लेकिन हाथ खींच लेता उस समय जब कोई उससे लाभ उठाना चाहता। यह एक ऐसी बात थी जो शशि को फूटी आँखों भी नहीं सुहाती। अपनी उपयोगिता से न वह खुद लाभ उठाता, और न किसी दूसरे को उठाने देता।

शशि ने कुछ ऐसा ही रूप धारण कर लिया था! अपनी

उन के पीछे शशि जीवन के अनेक सुखों तथा आकर्षक प्रलोभनों को ठुकरा चुका था। बड़ी-बड़ी आशाओं और उत्साह के साथ सञ्चालक शशि को अपने यहाँ रखते। उत्साह के प्रदर्शन में शशि भी अपनी ओर से कभी कोई कसर नहीं छोड़ता और यह सिद्ध करके दिखाने में ज़रा भी पीछे नहीं रहता कि उसे रखकर सञ्चालक विशेष ने ग़लती नहीं की है। सञ्चालक की आशाओं को पूरा करने और जगाने के लिए वह अपनी प्रतिभा का पर्याप्त परिचय देता,—काफी सतर्क और सशङ्क रहकर और इस बात का ध्यान रखते हुए कि कहीं कुछ कहने लायक बात न रह जाए।

शशि के इस सतर्क प्रतिभा-प्रदर्शन को देखकर सञ्चालक महोदय मन-ही-मन बहुत खुश होते और समझते कि सोने की मुर्गी हाथ लग गई है। यह सोचकर कि अभी नया-नया काम पर लगा है, उसे मनमानी सुविधाएं देते। शशि इन सुविधाओं को अपने प्रतिभा-प्रदर्शन का उचित मुआवज़ा समझकर अपनाता। लेकिन जब सञ्चालक महोदय देखते कि दिन-पर-दिन बीतते जा रहे हैं, मगर शशि ने अभी तक उनकी गाड़ी को खींचना शुरू नहीं किया है तो उनके हृदय में, धीरे-धीरे असन्तोष घर करने लगता।

शशि चुपचाप सब कुछ देखता। प्रतिभा-प्रदर्शन के द्वारा सञ्चालक महोदय के असन्तोष को भी एक हद तक संभालने का प्रयत्न करता और जब देखता कि अब इससे काम नहीं चलेगा, सञ्चालक महोदय अपने व्यवसायिक हितों का जुआ उसकी गरदन पर लादना चाहते हैं तो वह हाथ खींच लेता। इससे पहले कि सञ्चालक महोदय शशि को बुलाकर कहें कि व्यवसाय को आगे बढ़ाने के लिए ही उन्होंने उसे अपने यहाँ जगह दी है, उसकी प्रतिभा की नुमायश करने के लिए नहीं, वह त्याग-पत्र देकर अलग हो जाता।

"शशि की बात आप कह रहे हैं," जिक्र छिड़ने पर शशि के भूतपूर्व सञ्चालक नाक-भौंह सिकोड़ कर माथे में बल डालते हुए कहते "आदमी होशियार है, लेकिन ग़ैर-जिम्मेदार बहुत है। हमारे यहाँ भी वह काम कर

चुका है। सीनियर स्टाफ़ का आदमी था, उसके भरोसे सब कुछ हमने छोड़ रखा था, लेकिन जाते समय उसने हमें नोटिस तक नहीं दिया।"

शशि के कानों में जब यह बात पड़ी तो बोला :

"मेरे नोटिस न देने से वह नाराज़ हैं, लेकिन जब वह खुद किसी को अलग करते हैं तो नोटिस देना तो दूर, पूरा हिसाब तक चुकता नहीं करते!"

बिना नोटिस नौकरी छोड़ने पर अपनी खीज उतारने के बाद, कुछ देर ठहर कर उन्होंने फिर कहना शुरू किया :

"आप नहीं जानते कि इस तरह नौकरी छोड़ने पर मुझे कितनी परेशानी उठानी पड़ी। मेरा नुक़सान जो हुआ, वह हुआ ही, मुझसे अधिक शशि ने अपना नुकसान भी किया। अगले महीने से ही मैंने उसे तरक्की देने का निश्चय कर लिया था।"

वह इस तरह बातें करते मानों शशि ने उनके कार्यालय को नहीं अपने उज्ज्वल भविष्य को ठुकराया था। यदि शशि उनके यहाँ बना रहता तो उसके लिए क्या-क्या वह करते, यह सब वह बताते। उनका इरादा था कि आगे चलकर वह उसे अपने व्यवसाय में भागीदार तक बना लेते। लेकिन शशि ने उनकी किसी बात पर ध्यान नहीं दिया, और वह छोड़-छाड़ कर चला गया। उन्हें गहरा दुःख था। शशि के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य को अन्तिम स्पर्श देते हुए कहते :

"शशि की भी मुझे इतनी चिन्ता नहीं है। वह अकेला होता तो कोई बात नहीं थी। चाहे जहाँ वह रहता, चाहे जो वह करता। लेकिन वह विवाहित है, और बड़ी सुशील पत्नी उसने पाई है। कम से कम उसकी सुख-सुविधाओं का तो उसे ध्यान करना चाहिए था।"

ऐसी ही बात, सहृदतापूर्ण भूमिका के साथ, उन्होंने शशि से भी कही थी। शशि ने सुना और सुनकर चुप रहा। उसने कहा कुछ नहीं। एक विचित्र प्रकार की हसी उसके होठों पर खेल गई। शशि की वह ऐसी हंसी थी जिसे वह सह नहीं सके। वही पुरानी बात बोले :

"आपकी यह मुस्कराहट बड़ी घातक है। इसमें मात्सर्य की गंध

आती है। इसे आप छोड़ दीजिए। नहीं तो यह एक ऐसी चीज़ है जो आपको कभी सामाजिक जन्तु नहीं बनने देगी!"

उनके इस सत् परामर्श को भी शशि चुपचाप हज़म कर जाता। कुछ देर तक वह देखते रहते कि शशि पर उनके कथन का क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। जब कुछ पता न चलता तो सूरदास का एक पद गुन-गुनाने लगते :

"प्रभुजी, मोरे अवगुण चित्त न धरो !"

सूरदास का यह पद उन्हें अत्यधिक प्रिय था। जब तक वह इसे गुन-गुनाते रहते, इस पद के साथ स्वर-से-स्वर मिलाकर ही जैसे उनका व्यवसाय चलता था—चलता नहीं था, वरन् समस्त अवगुणों से भी मुक्त होता जा रहा था। व्यवसाय को वह काजर की कोठरी समझते थे। संसार का जो रूप उनके सामने था, वह भी शायद कुछ इसी प्रकार का था। काजर की कोठरी में रहने पर कालिख का लगना वह उतना ही सहज और स्वाभाविक समझते थे जितना कि रोटी खाना। कालिख को साफ़ करने के लिए,—अथवा उसे पचाने के लिए,—सूरदास के पद का वह सहारा लेते और समय-असमय उनकी आत्मा से यही स्वर प्रवाहित होता :

'प्रभुजी, मोरे अवगुण चित्त न धरो !'

शशि आदर्श बेकार था और वह आदर्श सञ्चालक। अनादर्शों से भरी इस दुनिया में दोनों ने जन्म लिया था और एक व्यवसाय का सूत्र पकड़कर दोनों ही भवसागर से पार होना चाहते थे,—अथवा कहें कि पार होने का प्रयत्न कर रहे थे।

: ३ :

शशि आदर्श बेकार था और जिनके यहाँ वह काम करता था, वह आदर्श सञ्चालक। कार्यालय के निम्नतम कर्मचारी से लेकर जेनरल मैनेजर तक,—सभी उन्हें बाबू जी कहते और बाबूजी कहलाना शशि के आदर्श सञ्चालक पसन्द भी करते। कार्यालय का सम्पूर्ण भेद-भाव, कार्यालय में काम करने वालों की अनेक विभिन्नताएँ, उनका छुटप्पन और

बड़प्पन, रामलखन की घुटनों तक चढ़ी धोती से लेकर जनरल मैनेजर की पतलून तक—बाबूजी की मूर्ति में मानो इन सभी का समन्वय था। एक ही दृष्टि से बाबूजी सब को देखते : प्यार करने के समय भी, और डाँट-फटकार के समय भी।

अपने कार्यालय को बाबूजी एक संयुक्त परिवार की संज्ञा देते। उनके कर्मचारी इस परिवार के सदस्य थे। इनमें छोटे भी थे, और बड़े भी। कुछ ऐसे भी थे जो इस परिवार के काम तो आते थे, मगर स्थायी सदस्य नहीं बन सकते थे। स्थायी सदस्य बनने का गौरव सभी को प्राप्त नहीं होता था। काफ़ी सतर्क और सजग भाव से बाबूजी अपने कर्मचारियों का चुनाव करते थे। व्यावसायिक परिवार के स्थायी-अस्थायी सदस्यों का ज़िक्र छिड़ने पर कहते :

"जिस दिन मेरा परिवार पूरा हो जाएगा, मैं देखूँगा कि योग्य और जिम्मेदार आदमियों का सहयोग मुझे मिल गया है तो अपने सम्पूर्ण व्यवसाय को उन्हीं पर छोड़ कर मैं छुट्टी ले लूंगा। अधिक दिनों तक व्यावसायिक पचड़े में पड़े रहना मैं नहीं चाहता। यदि मेरे गले से परिवार और बीवी-बच्चे न बंधे होते तो मैं कभी का सब कुछ छोड़-छाड़ कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताना शुरू कर देता। लेकिन अब एकाएक वैसा नहीं कर सकता। जिन्हें मैंने जन्म दिया है, उनके प्रति मेरी कुछ जिम्मेदारी है। पहले उस जिम्मेदारी को निभाना मेरा कर्त्तव्य है। मैं और कुछ नहीं चाहता। आप लोग मिलकर एक बार इस व्यवसाय को खड़ा कर दीजिए। इसके बाद मेरे बीबी-बच्चों के लिए बतौर पेन्शन एक मुनासिब रक़म तय कर दीजिए। इस से अधिक मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

अपने लिए इतना ही बाबूजी चाहते कि व्यवसाय से छुट्टी लेने के बाद उनके बीबी-बच्चों को किसी और का मुंह न ताकना पड़े। अपने वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते :

"मेरे व्यवसाय की जो अवस्था है, उसे आप देख ही रहे हैं। इतनी गिरी हुई हालत में होने पर भी पाँच सौ रुपये मासिक की आय यह दे

देता है। इस व्यवसाय को बनाने में मुझे कितनी मेहनत करनी पड़ी है, यह मैं ही जानता हूँ। मैं जो कुछ कर सकता था, वह कर चुका। अब आप लोगों की बारी है। जितना आप इसे आगे बढ़ाएँगे, उतना ही आप लोगों को लाभ होगा। मुझे इस व्यवसाय से अब कुछ नहीं लेना है। आप महीने बीबी-बच्चों के लिए डेढ़ सौ रुपये देते रहना। बाकी तुम लोग जानो और तुम्हारा काम। सब कुछ आप लोगों के जम कर तथा इस व्यवसाय को अपना समझ कर काम करने पर निर्भर करता है।"

बाबूजी जो कहते, उसे पूरा करने का भी प्रयत्न करते। इससे पहले कि कर्मचारियों का सम्पूर्ण समय उनके व्यवसाय में लगे, उन्हें घर-गृहस्थी की चिन्ताओं से मुक्त करना ज़रूरी था। बाबूजी इस ओर पूरा ध्यान देते। अपने कर्मचारियों की सम्पूर्ण जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हुए अपने कर्मचारियों को मुक्त हृदय से आश्वासन देते।

"आप लोग निश्चिन्त रहें। जब मैं देखूंगा कि आप लोग मेरे लिए सब कुछ कर रहे हैं तो यह असम्भव है कि मैं आप लोगों का ध्यान न रखूं। यह आपके अपने हाथ की बात है कि मुझे अपना बना लें और प्रत्येक बात के लिए मुझे आपका ही मुंह देखना पड़े। चाहें तो आप लोग इस व्यवसाय के आधार-स्तम्भ हो सकते हैं।"

सबको अपना बना कर बाबूजी रखना चाहते थे। उनके इस अपनत्व आत्मीयता का प्रसार शैतान की आँत से कम लम्बा नहीं था। यह एक किसी प्रकार की ना-नुकर अथवा किसी ओर से आपत्ति और आशङ्का के उठने पर कहते :

"व्यर्थ की बात करते हैं आप लोग। ओछी बातों में न पड़कर आप लोगों को ऊपर उठना चाहिए। मैं तो आप लोगों में आत्मविश्वास और दृढ़ता देखना चहता हूँ। यह ठीक है कि आप लोग मुझसे अपने दुःख-दर्द कहें, अपनी आवश्यकताओं का भी ज़िक्र करें। लेकिन सच पूछिए तो मुझे यह ज़रा भी अच्छा नहीं लगता कि दो-दो चार-चार रुपयों की खातिर आप सामने आकर मेरा मुँह ताकें। मैं चाहता हूँ कि आप लोग आगे बढ़ें और

मेरे व्यवसाय को इस हद तक अपना बना लें कि जब कभी मैं आप लोगों में से किसी को अलग करने की बात कहूँ तो आप भी मुझसे कह सकें—"नहीं, यह नहीं हो सकता। यह व्यवसाय हमारा है। इसे हमने बनाया है। इसमें अलग करने से पहले स्वयं आपको अलग हो जाना होगा।"

बाबूजी को यह अच्छा नहीं मालूम होता और वह यह चाहते भी नहीं थे कि उनके कर्मचारी कष्ट में रहें, लेकिन यदि कष्ट में रहने की स्थिति आ ही पड़े तो किसी के मुँह से कष्टों का रोना सुनना वह कतई पसन्द नहीं करते। जब भी ऐसा अवसर आता तो एक ही सत्य को उभार कर वह रखते। वह यह कि रोने से कष्ट दूर नहीं होते, । दूर भी नहीं हो सकते, कष्टों को दूर करने का एक ही उपाय वह बताते, वह यह कि जम कर काम करो,—कष्टों में रहते हुए भी काम करो। इतना कहने पर भी उनके कर्मचारी जब जम कर काम नहीं करते तो कहते :

"देखता हूँ, आप लोग काम नहीं कर रहे हैं। एक ही मतलब इसका हो सकता है। वह यह कि आप को मुझ पर और मेरी बातों पर विश्वास नहीं है। ताली एक हाथ से कभी नहीं बजती। जब आप लोगों का मुझ पर विश्वास नहीं है तो मैं ही कैसे आप पर निर्भर कर सकता हूँ!"

एक हाथ से ताली बजाने तथा लूले लंगड़ों अथवा मुर्दे की भांति काम करने वाले कर्मचारियों को ठीक राह पकड़ने का पूरा अवसर बाबूजी देते। और उस समय तक देते रहते थे जब तक कि वह स्वयं उकता कर अलग न हो जाते। बाबू जी हृदय के इतने अच्छे थे कि अपनी ओर से किसी को अलग नहीं करते। प्रत्येक कर्मचारी को अपने लड़के से भी अधिक वह समझते थे। अपने कर्मचारियों के बीबी-बच्चों के पालन-पोषण का भार भी वह अपने ऊपर ले लेते। एक ही बात इसके बाद उनके कमचारियों के लिए रह जाती। वह यह कि इधर-उधर की सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर उनके व्यवसायिक परिवार में वे अपने आप को घुला-मिला दें।

लगा-बांधा वेतन देने का नियम बाबूजी ने उड़ा दिया था। खर्च

की जरूरत पड़ने पर वह एडवांस देते। एडवांस का यह क्रम तीन-तीन चार-चार महीने तक चलता और बाबूजी चाहते कि सदा इसी तरह चलता रहे।

अपने कर्मचारियों को,—खास तौर से अपने व्यवसायिक परिवार के स्थायी सदस्यों को हिसाब-किताब के जाल से बाँध कर रखना उन्हें अच्छा नहीं लगता। गड़बड़ होती उस समय जब मुर्दों की भांति काम करने वाले कर्मचारियों से पाला पड़ता। ऐसा होने पर हिसाब किताब चुकता करने में बाबूजी भी किसी से पीछे नहीं रहते। एक बार देकर जिन रकमों की बाबूजी को कभी याद न आती, वे सबकी सब, देखते-न-देखते, सामने आ-जातीं।

तब मालूम होता कि वेतन तय कुछ हुआ था, और उन्होंने लगा कुछ लिया है। कर्मचारी के हिसाब से तो उसे पूरा वेतन मिल भी नहीं पाया है, जबकि बाबूजी के हिसाब से एडवांस में भी बहुत कुछ मिला दिखाई पड़ता है। कर्मचारी समझता कि उसे धोखे में रखा गया, जब वह आया था तो उसकी प्रत्येक बात को स्वीकार किया गया था, उसे पूरा आश्वासन दिया गया था कि जो कुछ वह कहता है, वही होगा। लेकिन अब हिसाब करने पर सब कुछ उलटा ही दिखाई पड़ता है।

बाबूजी सब कुछ समझते, लेकिन धोखे की बात उनकी समझ में नहीं आती। कर्मचारी की स्थिति को वह समझते, उससे उन्हें पूरी सहानुभूति भी होती—इसलिए और भी अधिक कि इतना सब कुछ हो जाने पर भी वह वेतन का ही रोना रो रहा है। वेतन का दुःख उसे हो सकता है, होना चाहिए भी, लेकिन वेतन से भी अधिक महत्वपूर्ण चीज जो उसने खोई है, वह है बाबूजी का विश्वासपूर्ण सहयोग। प्रयत्न करने पर भी जब वह इस तथ्य को प्रकाशित नहीं कर पाते थे तो कहते:

"हाँ मैंने आपको यह आश्वासन दिया था कि जो आप चाहेंगे, वही होगा। एक ज़रा सी बात को लेकर मैं आपका जी दुखाना नहीं चाहता था। मुझे भरोसा था आपकी समझ पर, लेकिन मालूम होता है कि

आपका लड़कपन अभी गया नहीं है। बचपन का रूठना-मचलना अभी तक जारी है, कि हमें चाँद चाहिए, और सोने का हाथी चाहिए। इस तरह की माँगों की पूर्ति करना मेरे लिए सम्भव नहीं। सोने के हाथी की जगह मिट्टी का हाथी ही मैं भेंट कर सकता हूँ और चाँद के स्थान पर उसके प्रतिबिम्ब से ही आपको सन्तोष करना होगा।"

कहने को तो बाबूजी और भी बहुत कुछ कहते, लेकिन इन सब बातों से उन्हें बड़ा दुःख होता। उनके विश्वासपूर्ण सहयोग को छोड़ कर वेतन के हिसाब-किताब के पीछे पड़ने वाले अपने कर्मचारियों की समझ पर उन्हें भारी दया आती। कोशिश करने पर भी वह यह नहीं समझ पाते कि उनके कर्मचारी वेतन के बारे में इस हद तक चिन्तित क्यों रहते हैं। आखिर बेकारी के दिनों में भी तो वे किसी तरह गुज़र करते ही थे? उनके यहाँ आजाने पर बेकारी के सारे कष्ट दूर नहीं हो सके, यह ठीक हो सकता है, लेकिन इसके साथ-साथ यह भी उतना ही सही है कि बेकारी के दिनों की स्थिति से अब की स्थिति में कुछ सुधार ही हुआ है, बिगाड़ नहीं। लेकिन उनके कर्मचारी हैं कि यह सब कुछ नहीं देखते। उन्हें तो बस वेतन चाहिए। वेतन से ऊपर न वे उठ सकते हैं, न उठना ही चाहते हैं।

काफी सादा जीवन बाबूजी ने अपनाया था और अपने कर्मचारियों से भी वह इसी की आशा करते थे—कम-से-कम उस समय तक जब तक कि उनका व्यवसाय अपने पांवों पर खड़ा न हो जाए। एक मुश्त बँधा हुआ वेतन न देने के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी था कि उनके कर्मचारी व्यर्थ की बातों में सब खर्च कर डालेंगे। बिगड़े हुए लड़कों के हाथों में एक मुश्त पैसा सौंपते हुए किसी भी पिता के हृदय में जो दुविधा उठ सकती है, उसी तरह की दुविधा बाबूजी के हृदय में भी उठती थी। इसीलिए अपने प्रत्येक कर्मचारी के घर का एक बजट उन्होंने तैयार कर लिया था, और उसीके अनुसार वह खर्च भी दिया करते थे।

अपने प्रत्येक कर्मचारी के व्यक्तिगत जीवन से घनिष्ट सम्पर्क स्थापित

करने में बाबूजी काफी आगे बढ़ते। स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन का परिचय देने के अवसरों का निर्माण करने में भी कोताही न करते। दफ्तर में बैठ कर भोजन करना बाबूजी की आदत में शामिल था। भोजन करते-करते अपने कर्मचारियों में से किसी एक को बुलाकर वह आदेश भी देते जाते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि घर पर बाबूजी को खाना नहीं मिलता। कर्मचारियों में से जो कोई उस समय सामने होता तो उसे सम्बोधित करके कहते :

"आज घर में आटा नहीं था, इसलिए खाना नहीं बन सका। मजबूरन बाज़ार घाट उतरना पड़ेगा। बड़ी मुसीबत है। घर हो चाहे दफ्तर, सभी जगह एक ही गड़बड़ का मुझे सामना करना पड़ता है। घरवालों से इतना भी नहीं होता कि वक़्त पर आटा तो मँगा लिया करें !"

मोती न चुग कर रोटी ही बाबूजी खाते हैं, अपनी आँखों से यह देख लेने के बाद भी उनके कर्मचारियों की नज़र आसमान से नीचे उतर कर धरती की ओर देखना पसंद नहीं करती। अनेक रूपों में बाबूजी अपने व्यक्तिगत जीवन का परिचय इस तरह देते रहते थे। व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ उनका एक ओर था—व्यावसायिक जीवन। जिन गद्देदार कुरसियों तथा राजसी ठाठ से सजे हुए कमरे में बैठ कर गिनती की दो-चार रूखी-सूखी रोटी वह खाते, उनकी ओर इशारा करते हुए कहते :

"इन्हें देखकर आप लोग भ्रम में न पड़ें। यह मेरी दूकानदारी है। बाज़ार में बैठ कर वेश्याओं की तरह हमें सभी साज सजाना पड़ता है।"

उनके कमरे में एक ही चित्र लगा था—भगवान् बुद्ध का। दूकानदारी के लिए अपनाए गए राजसी ठाठ के पीछे छिपी वास्तविकता का परिचय देने के बाद वह कहते :

"यही मेरे जीवन का आदर्श है।"

बढ़िया चौखटे में जड़े अनेक आदर्श-वाक्य भी बाबूजी के कमरे में लगे थे और जो कोई भी उनसे मिलने आता, उनकी ओर वह उसका ध्यान आकर्षित करते। इन आदर्श-वाक्यों में एक बड़ा विचित्र था। जो भी

उसे देखता, अटक कर रह जाता। वह आदर्श-वाक्य था—'लव ऑल, ट्रस्ट फ्यू'—अर्थात् प्रेम सबसे करो, लेकिन विश्वास किसी का न करो।

जिन पर हमारा विश्वास नहीं है, उनसे प्रेम कैसे किया जा सकता है अथवा जिनसे हम प्रेम करते हैं, उन्हें अपने विश्वास से अलग करके कैसे रखा जा सकता है, यह एक ऐसी बात थी जिसे समझना सबके लिए आसान नहीं था। बाबूजी के इस आदर्श-वाक्य को लोग देखते और अटक कर रह जाते। लेकिन बाबूजी के लिए इस आदर्श-वाक्य का भारी महत्त्व था—उनके व्यक्तिगत और व्यावसायिक जीवन का समन्वय इस आदर्श-वाक्य में हुआ था। यह वाक्य उनके जैसे जीवन के अनुभूति-जन्य सत्य को व्यक्त करता था। बात यह थी कि बाबूजी के लिए किसी पर विश्वास करना कठिन था। सिवाय अपने उन्हें किसी और पर विश्वास करते नहीं बनता था। शाब्दिक मानी में यह कि एकांगी आत्म-विश्वास उनका एकमात्र आधार था—एक ऐसा आत्म-विश्वास उन्होंने पाया था, दूसरों पर अविश्वास करके कि जिसका पोषण हो रहा था।

एकांगी आत्म-विश्वास ने बाबूजी के व्यक्तित्व को विचित्र रूप दे दिया था—कुछ इस तरह कि प्रेम और अविश्वास उसमें घुलमिल कर एकाकार होगए थे। उनका जो सबसे अधिक प्रियपात्र होता, वही उनके अविश्वास का भी सबसे अधिक शिकार होता। बाबूजी के व्यक्तिगत जीवन की यह एक ट्रेजेडी भी थी कि उनके घनिष्टतम मित्रों में से ही उनके तीव्रतम विरोधी भी निकलते। सामने आने पर बाबूजी को जो आदर की दृष्टि से देखते, पीठ फिरने पर वेही उनकी सबसे अधिक निन्दा भी करते।

लेकिन बाबूजी के व्यक्तिगत जीवन की यह ट्रेजेडी उनके व्यावसायिक जीवन का आदर्श थी। प्रेम सबसे करो, लेकिन विश्वास किसी का न करो का सूत्र पकड़ कर उनका व्यवसाय चल रहा था।

शशि ने बाबूजी की इन दोनों विशेषताओं का प्रचुर मात्रा में परिचय पाया था,—उनके प्रेम का भी, और अविश्वास का भी। इसके साथ-साथ शशि अपने बाबूजी को जितना अधिक आदर की दृष्टि से देखता था, उतना

ही अधिक उनसे घृणा भी करता था।

: ४ :

शशि का काम करने में उत्साह नहीं था। इसके साथ-साथ, यह भी था कि जो काम उसे मिला हुआ था, बिना उत्साह के भी वह उसे निबटा सकता था। लेकिन बाबू जी को इससे सन्तोष न होता। वह चाहते थे कि जो भी शब्द उनके मुहं से निकले, जो भी और जिस तरह का भी काम वह बताएं, उत्साह और लगन के साथ प्रत्येक कर्मचारी उसे पूरा करे।

शशि की समझ में बाबू जी की यह बात नहीं जंचती। वह कहता, "आपकी बात मेरी समझ में नहीं आती। समझ में आने पर भी मुझे यह दिखाई नहीं पड़ता कि उसे गाजे-बाजे और उबाल-उफान से कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। आपका काम ही ऐसा है कि उसे देखकर उत्साह नहीं होता—उसे पूरा करने के लिए, उत्साह की ऐसी कोई खास ज़रूरत भी नहीं ऐसा यदि देखने का कष्ट करें तो आपको पता चल जायगा कि उत्साह का परिचय दिए बिना भी मैं आपका काम पूरा कर रहा हूँ।"

बाबूजी शशि की यह बात तो मानते थे कि वह अपना काम पूरा कर रहा है। लेकिन इतना ही उनके लिए प्रर्याप्त नहीं था। वह कहते, "यह नपे-तुले ढङ्ग का ठंडा काम मुझे पसंद नहीं, मानों मुर्दे ढोए जा रहे हों। चलने को तो ऐसे भी चल जाता है, लेकिन व्यवसाय में इस तरह उन्नति नहीं हो सकती। आप लोगों को उत्साह और सरगर्मी से काम करना चाहिए।"

उत्साह से काम करने पर बाबूजी बहुत ज़ोर देते और उत्साह का परिचय देने में भी पीछे नहीं रहते। जब उन्हें लगता कि कार्यालय का कार्य एक रस हो चला है तो कोई नयी योजना खड़ी करके वह अपने कर्मचारियों को नये काम में जुटा देते। नयी योजना को सफल बनाने में कौन कितने उत्साह का परिचय दे रहा है, यह देखने के लिए प्रत्येक कर्मचारी का निरीक्षण भी करते।

इस दिशा में बाबूजी काफी आगे बढ़ते। अपने कर्मचारियों में जब किसी को वह खाली अथवा उत्साह-हीन अवस्था में बैठा देखते तो उसे एक ओर ले जाकर कहते, "देखिए इस तरह मुर्दों की भांति बैठने से कार्यालय डिसिप्लिन बिगड़ता है। आपसे मुझे कोई शिकायत नहीं है। लेकिन आपकी देखा-देखी अन्य कर्मचारी भी यदि इसी तरह मुर्दा बनने लगे तो मुसीबत हो जायगी।"

काम का कोई निश्चित विभाजन बाबूजी ने नहीं किया था। कब किसको कौनसा काम करना पड़ जायगा, इसका कुछ पता नहीं था— बाबू जी इसका किसी को पता होने भी नहीं देते थे। रह-रह कर जब भी मन में आता, वह अपने कर्मचारियों का काम बदल देते थे। कई बार उनसे कहा गया कि यह नीति ठीक नहीं। एक काम का तार बंध भी नहीं पाता कि दूसरा काम दे दिया जाता है। ऐसी स्थिति में कोई काम ठीक तरह से नहीं हो सकता।

सब कुछ सुनने के बाद बाबू जी कहते, "आप लोगों का कहना ठीक है। लेकिन मेरे यहाँ का काम इसी तरह से चलता है। मैं चाहता हूँ कि मेरा प्रत्येक कर्मचारी हर काम में दक्ष हो। किसी एक लकीर का फकीर बन कर न रहे जो भी काम उसे दिया जाए, उत्साह और लगन के साथ वह करे। मुझे काम करने वाले आदमियों की ज़रूरत है, मेज-कुरसी तोड़ने वाले मुर्दा लोगों की नहीं यहाँ तो भाई, ज़रूरत पड़ने पर, सभी काम आप लोगों को करना पड़ेगा।"

अपने कर्मचारियों को काम से लगाए रखने और उनकी मुर्दनी दूर करने के लिये मौलिक-अमौलिक प्रयत्न बाबू जी करते। नयी योजना की सृष्टि के साथ-साथ नये कर्मचारियों के लिए वह पत्रों में विज्ञापन भी देते एक के बाद एक अनेक उम्मीदवार आते। इनसे बाबूजी कई का ट्रायल भी लेते—यदि काम अच्छा हुआ तो रख लिया जायगा। लगभग सभी पुराने कर्मचारियों का काम वह उनसे कराकर देखते। अधिकांश उम्मीदवारों को वापिस लौटना पड़ता। उन्हें लक्ष्य कर बाबूजी अपने कर्मचारियों से कहते,

"देखा आप लोगों ने। एक छोटा-सा विज्ञापन मैंने दिया था। बी० ए० और एम० ए० की मुर्दा डिग्रियों का बोझ ढोने वाले उम्मीदवारों का ताँता बंध गया। बेकारी की आजकल कोई सीमा नहीं है।"

"लेकिन," कुछ क्षण रुककर बाबूजी कहते, "काम पाना तो सब चाहते हैं, लेकिन काम करना कोई नहीं चाहता। नौकरी मिलते ही सब काम चोर हो जाते हैं। दस बार कहो, तब बाबू साहब काम करने के लिए तैयार होते हैं,—वह भी रोनी-सूरत बनाए हुए। काम क्या करते है मानो मुर्दे ढोते हैं।"

'मुर्दे ढोना' बाबू जी का प्रिय वाक्य था और बड़ी उदारता से वह इसका प्रयोग करते थे।

"बेगार समझ कर ही सही, लेकिन करते तो हैं," बाबूजी की बात सुनकर शशि कहता, "यह दूसरी बात है कि रोकर करते हैं, अथवा हंस कर। रोने-हंसने के कारण बिल्कुल दूसरे भी हो सकते हैं। और फिर," अपने स्वर का विस्तार करते हुए शशि कहता, "यह तो दफ़्तर के काम की बात है—सुबह के दस बजे से शाम के ६ बजे तक जहाँ ड्यूटी बजानी पड़ती है। दफ्तर के काम के स्थान पर अगर सुबह से शाम तक राह में मिलने वाली प्रत्येक लड़की से प्रेम करने की ड्यूटी बजाने का काम किसी को सौंपा जाए तो वह भी उत्साह से नहीं किया जा सकता।"

"जिस तरह प्रत्येक लड़की हृदय में प्रेम करने का उत्साह उत्पन्न नहीं करती," अपने वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता अनुभव कर शशि कहता, "उसी तरह प्रत्येक काम करने के लिए हममें उत्साह उत्पन्न हो, यह ज़रूरी नहीं है। इसके अतिरिक्त एक बात और है। बाबूजी इसकी शिकायत तो करते हैं कि हम उत्साह से काम नहीं करते, लेकिन यह उन्होंने कभी नहीं बताया कि उत्साह से उनका मतलब क्या है। उत्साह के भी अनेक प्रकार और मात्राएं होती हैं—किसी स्त्री को देखकर हमारे हृदय में मातृ-भावना जाग्रत होती है, किसी को हम अपनी बहिन के अतिरिक्त और कुछ नहीं बना सकते, किसी से प्रेम करने को जी

चाहता है और कोई-कोई ऐसी भी होती जिसकी मिट्टी पलीद करने पर भी हम उतर आते हैं। यही बात काम के बारे में भी है,—किसी को हम बेगार समझ कर करते हैं, और किसी को लगन के साथ। उत्साह और लगन पर ही यदि इतना ज़ोर देना है तो ऐसा काम दीजिए जिसे देखकर उत्साह उत्पन्न हो। यह तो तबीयत की बात है। एक युवती का प्रेम पाने के लिए हम अपना घर-बार फूंक कर सन्यासी बनने पर उतर आते हैं, और दूसरी की ओर भोग की तमाम सुविधाओं के मौजूद रहने पर भी हम आँख उठा कर नहीं देखते।"

अपनी बातों पर इस तरह 'काम' की चाशनी चढ़ाकर जब शशि सामने रखता तो कार्यालय के एक-रस जीवन में कुछ देर के लिए सरसता लहराने लगती। बड़े चाव से सब शशि की बातें सुनते।

"एक नया रोग आजकल चल पड़ा है," शशि कह चलता, "आत्म-समपर्ण का रोग उसे कहते हैं। पति को जब वह रोग होता है तो अपनी पत्नी को छोड़कर वह वेश्यालयों की धूल छानने लगता है, पत्नी को जब होता है तो पति को झाड़ू मार कर वह प्रेमियों को अपने हृदय से लगाती हैं और कुआरे को जब यह रोग होता है तो—आप लोग जानते ही हैं कि वह क्या करता है!"

"मेरे एक मित्र इस रोग के विशेषज्ञ हैं," अपनी बात को सम्पूर्ण करते हुए शशि कहता, "मैं समझता हूँ कि अगर वह बाबूजी की नब्ज परखें तो उनका रोग भी दूर हो जाए, और आप लोगों की मुसीबत भी छूट जाए।"

जीवनराम से भी शशि ने अपने बाबूजी का जिक्र किया। अपने काम-चोर कर्मचारियों को काम से लगाने का उत्साह उन दिनों बाबूजी में बहुत बढ़ा हुआ था और शाब्दिक मानी में वह अपने कर्मचारियों से बेगार लेने लगे थे,—तुके-बे-तुके सभी तरह के कामों की वह बैठे-बैठे रचना करते रहते थे। काम की इस भरमार को शशि बड़े ध्यान से देख रहा था। एका-एक उसे जीवनराम की बातों का ध्यान हो आया और वह सोचने लगा कि

निश्चय ही बाबूजी को भी आत्म-समर्पण का रोग हो गया है जो उन्हें अपने सभी कर्मचारी मुर्दा होते दिखाई देते हैं।

"जिनके यहां मैं काम करता हूँ," शशि ने जीवनराम को अपनी सूझ का परिचय देना शुरू किया, "वह भी तुम्हारे रोग से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। मालूम होता है कि उन्हें अपनी पत्नी का आत्म-समर्पण नहीं मिला और अब उसकी कसर निकालना चाहते हैं वह अपने कर्मचारियों से। उनका बस चले तो अपने प्रत्येक कर्मचारी को ताले में बन्द करके रखें और जब तक उनका काम समाप्त न हो,—जिसकी कि मरते दम तक कोई आशा नहीं है,—उन्हें कभी छुट्टी न दें।"

बाबू जी ने कर्म-योग का कुछ ऐसा आल-जाल फैलाया था कि उसका कोई ओर-छोर नहीं दिखाई देता था। काम के इस सीमा-हीन विस्तार के साथ-साथ वह चाहते थे कि उनके कर्मचारी भी क़दम-से-क़दम मिला कर चलें। सुबह के दस बजे से शाम के छ बजे तक कार्यालय में जो काम होता था, उसे बाबू जी काम की संज्ञा नहीं देते थे। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहते, "इसमें कौन ऐसी बात है जिस पर ध्यान दिया जाये। इस तरह तो सभी मुर्दे ढोते हैं,—न ढोएं तो रोटी मिलना मुश्किल हो जाए। वह काम करते हैं, इसलिये कि उनका दोज़ख़ ईंधन से ख़ाली न हो। मेरे लिए आखिर वह क्या करते हैं?"

दो खना मकान था। ऊपर के हिस्से में बाबूजी रहते थे और नीचे के हिस्से में दफ्तर था। कर्मचारियों को काम से लगाये रखने के लिए खुद बाबू जी जो कुछ करते, वह तो करते ही थे, इस मामले में उनकी पत्नी भी पीछे नहीं थीं। दिन-भर झरोखों में से, यहां-वहां की ओट का सहारा लेकर, वह सबको देखा करती और रात को, बजाय इसके कि बाबूजी के साथ प्रेम की बातें वह करें, कर्मचारियों में से वह किसी एक की शिकायत करना शुरू कर देती। इसके अतिरिक्त दस-बारह साल का उनका एक लड़का भी था। वह रोज़ दफ्तर में आकर उत्पात मचाया करता। कर्मचा-रियों से वह पैसे भी माँगा करता, और जब कोई नहीं देता तो वह अपनी

मां से जाकर कहता,—"आज अमुक व्यक्ति ने कुछ काम नहीं किया। दिन भर इधर-उधर टहले बाज़ी करता रहा।"

रात को यही रिपोर्ट बाबू जी के पास पहुँचती और दूसरे दिन बाबू जी उस कर्मचारी विशेष के लिए अतिरिक्त काम तैयार कर देते।

"लड़का शैतान तो जरूर है," अपने लड़के का उल्लेख करते हुए एक दिन बाबू जी शशि से कहने लगे, "लेकिन वैसे होशियार काफ़ी है। माना कि दफ्तर में जाकर थोड़ा बहुत उत्पात मचाता है, लेकिन समझता खूब है। मैंने इसे ट्रेनिङ्ग देना शुरू कर दिया है।"

"अच्छा मिस्टर शशि, एक बात तो बताइए", अपने लड़के का प्रसंग छोड़कर बाबू जी ने एकाएक शशि से पूछा, "आप कुछ कल्पना कर सकते हैं कि मेरा भविष्य क्या होगा?"

इस प्रश्न को सुनकर एक क्षण के लिए शशि कुछ अचकचाया। फिर बाबू जी की ओर एकटक देखते हुए उसने कहा, "टोटल क्रैश!"

बाबूजी ने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना—कहें कि सुनकर भी नहीं सुना। उन्होंने फिर पूछा, "इसका मतलब? क्या कहा तुमने?"

"यही कि एक दिन आप बुलबुले की भांति फूट जायेंगे।" शशि ने कहा।

"यह कोई खास बात नहीं।" बाबूजी बोले, "बुलबुले की भांति तो सभी को एक न एक दिन फूटना है।"

"मेरा मतलब यह कि आप पागल हो जायेंगे अथवा ········"

"अथवा क्या?"

"अथवा यह कि," अपनी बात संभालते हुए शशि ने कहा, "एक दिन आप सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो जायेंगे।"

शशि की यह व्याख्या सुनकर बाबूजी की आँखों में चमक दौड़ गई, मानो उसने उनके ही मन की बात कह दी हो। बोले— "कहते तो ठीक हो। मैं खुद भी ऐसा ही सोचता हूँ।"

किसी घर में बड़े लड़के का जो स्थान होता है, बाबूजी के कार्यालय

में वही स्थान शशि का था। बाबूजी शशि को बड़े प्रेम की दृष्टि से देखते और उससे आशा करते कि अन्य कर्मचारियों के सामने वह एक आदर्श प्रस्तुत करे। शशि भी बाबूजी से कुछ इसी तरह की आशा करता—यह कि वह कर्मचारियों के लिये एक आदर्श सञ्चालक सिद्ध हो। अपने कर्मचारी बन्धुओं का एक तरह से जाने-अनजाने वह प्रतिनिधित्व भी करता। कर्मचारी भी शशि की बात मानते,— अथवा कहें कि उसका विरोध न करते।

बाबूजी की बातें सुनने के बाद शशि कहता :

"आपका यह कहना ठीक है कि यहाँ आकर आदमी काम-चोर हो जाता है, और आश्चर्य नहीं कि एक दिन मैं भी काम-चोर हो जाऊं। सीधी बात यह है कि अगर आदमी ईमानदारी के साथ जमकर काम करे तो चार घन्टे से अधिक काम नहीं कर सकता। लेकिन दफ्तर में ड्यूटी बजानी पड़ती है आठ घन्टे की। चार घन्टे का काम आठ घन्टों में फैलाकर करना पड़ता है,— केवल इसलिए कि आप आठ घन्टे की हाज़री चाहते हैं, और साथ ही यह भी कि वह कभी खाली न बैठा रहे। चार घन्टे के काम को आठ घन्टे में फैला कर करने में जो टल्ला-नवीसी करनी पड़ती है, वह इसी लिए।"

"यही तो मैं भी कहता हूँ कि मुझे धोखा दिया जाता है," बाबू जी ने कहा, "तुमने ईमानदारी के साथ स्वीकार तो कर लिया कि चार घन्टे से अधिक तुम काम नहीं कर सकते, अथवा यह कहिए कि चार घन्टों में तुम अपना काम पूरा कर सकते हो। तुम्हारी बात समझ में आ जाती है, और ऐसी हालत में चार घन्टे से अधिक तुम्हें घेरे रखना ठीक भी नहीं मालूम होता, लेकिन अन्य लोग,— कम्बख्त काम क्या करते हैं, मानो मुर्दे ढोते हैं।"

"नहीं, मैं केवल अपनी बात नहीं कर रहा हूँ," शशि ने बीच में ही बात काट कर कहा, "मैं तो सबके लिए यही कहता हूँ कि दिन-भर में चार घन्टे से अधिक कोई भी मुर्दे नहीं ढो सकता,— इससे अधिक के लिए

अतिरिक्त शक्ति-सञ्चय की आवश्यकता है। यह तो आदमियों की बात है, मैं कहता हूँ कि अगर मशीन को भी बिना तेल दिए अधिक चलाइएगा तो उसमें आग लग जायेगी, या फिर वह भी मुर्दा हो जाएगी !"

उस समय बाबूजी ने शशि से कुछ नहीं कहा। इधर-उधर की बातें करने के बाद उसे विदा कर दिया और जब तक वह आँखों की ओट नहीं हो गया, ध्यान से उसे देखते रहे। तीन दिन बाद, दफ्तर का समय समाप्त होने पर, उन्होंने शशि को अपने पास बुलवाया। शशि ने बाबूजी से पूछा :

"कहिए, क्या काम है ?"

"काम के लिए नहीं," बाबूजी ने कहा, "वरन् काम की थकान उतारने के लिए मैंने तुम्हें बुलाया है। आओ, बैठो।"

शशि के बैठ जाने पर बाबूजी ने कहा :

"व्यावसायिक झंझट एक घड़ी के लिए पीछा नहीं छोड़ते। इतना भी समय नहीं मिलता कि किसी के साथ बैठकर भाई चारे की दो चार बातें कर सकें। मुझे तो ऐसा लगता है कि यदि कुछ दिन यही दौर चलता रहा तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

मुँह से बाबू जी के शब्द निकल रहे थे और आँखें टिकी हुई थीं शशि के चहरे पर। शशि उस समय निर्विकार भाव से बैठा था। एकाएक बाबूजी उठ खड़े हुए। बोले :

"चलो, जी हलका करने के लिए कुछ देर बाज़ार टहल आएँ।"

दोनों बाज़ार चले। सामने एक रेस्तोराँ के आ पड़ने पर बाबूजी ने कहा :

"अरे, यह मुर्दनी छोड़ो। बोलो चाय पिओगे ?"

"मुझे कोई आपत्ति नहीं", शशि ने कहा, "पी सकते हैं।"

रेस्तोराँ की ओर बाबूजी ने कदम बढ़ाया ही था कि फिर वापिस लौट आए। कहने लगे :

"चाय ठीक नहीं, ठण्डाई पी जाएगी।"

ठण्डाई वाले की दूकान के सामने पहुँचने पर बाबू जी ने कहा :

"क्यों, थोड़ा विजया का भी छींटा रहे तो कैसा?"

शशि को चुप देखकर बाबूजी ने फिर कहा :

"मालूम होता है तुम्हें यह प्रस्ताव पसन्द नहीं। मुर्दनी उतारने के लिये कोई तेज़ चीज़चाहते हो। अच्छी बात है। चलो, और कहीं चलें।"

इसके बाद शशि को लेकर बाबूजी एक 'बार' में पहुंचे और बीअर की बोतल मेज़ पर आ बिराजी। बीअर समाप्त करने के बाद बाबू जी ने कहा :

"एक-एक छोटा पेग ह्विस्की का भी जमाते चलें।"

काम से लगाए रखना ही नहीं, बाबूजी काम की थकान उतारना भी जानते थे। कुछ घन्टे पहले जो शशि के मालिक थे, वही अब शशि के मित्र बने घुल-घुल कर बातें कर रहे थे।

"आजकल जीवन में कुछ इतनी मुर्दनी छगाई है," बाबूजी ने कहा—"कि उसे गरमाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार की उत्तेजना अनिवार्य हो जाती है। जम कर जिन्हें काम करना पड़ता है, घर-गृहस्थी के अनेक झंझट जिनके सिर पर सवार रहते हैं, दो घड़ी जी बहलाने के लिए यदि वे इधर-उधर घूम-फिर लिया करें तो इसमें कोई बुराई नहीं।"

'बार' से निकल कर बाबू जी ने सवारी की और शशि को लेकर उस बाज़ार में पहुँचे जहाँ सौन्दर्य की हाट लगती है। शशि का हाथ उन्होंने अपने हाथ में लिया और एक कोठे पर चढ़ चले। सामने के कमरे में बाई जी बैठी थीं। पास में उस समय एक तमाशबीन भी बैठा हुआ था। बाबूजी ने जाते ही कहा :

"आपका वह मुर्दा कहाँ है?"

"कौन सरकार?" बाईजी ने आँखें फाड़कर पूछा।

"अरे वही तुम्हारा नौकर," बाबूजी ने कहा।

"अभी आता है, सरकार!" बाई जी ने कहा, "कहिए, क्या हुकुम है?"

"कुछ नहीं," बाबूजी ने लापरवाही से कहा, "जॉनी की एक बोतल मँगाना था।"

बाई जी नौकर की इस तरह खोज करने लगीं, मानो अभी बगल में बैठा-बैठा वह कहीं ग़ायब हो गया है। कुछ ही क्षण बाबूजी बैठे होंगे कि उठ खड़े हुए और बाई जी के अनुरोध की उपेक्षा करते हुए नीचे उतर आए। पचास क़दम आगे बढ़ने पर उन्होंने शशि से पूछा :

"जानते हो, मैं चला क्यों आया?"

"इसलिए कि वहाँ एक मरदूद और मौजूद था," शशि ने कहा, "इसके अतिरिक्त वहाँ सर्व करने के लिए किसी जानदार अथवा बेजान मुर्दे तक का पता नहीं था।"

"नहीं," बाबूजी ने कहा, "इसलिए कि मैं तुम्हें अपने हाथ से खोना नहीं चाहता!"

शशि के जी में आया कि कहे— "आपने मुझे पाया ही कब था जो खोने की आशङ्का हृदय में उठ आई" लेकिन वह चुप रहा। बाबूजी अपनी बात कहे जा रहे थे।

"जो भी हो, तुम्हारी क्षमता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। कुछ लोग होते हैं जो मुंह से लगते ही बहकने लगते हैं, लेकिन तुम उनमें से नहीं हो। तुममें यह एक ऐसी विशेषता है जो बहुत उपयोगी हो सकती है।"

बाबू जी शशि की इस उपयोगिता से लाभ उठाने में पीछे नहीं रहे। एक तरह से शशि को उन्होंने अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया था।

: ५ :

बाबूजी का प्राइवेट सेक्रेटरी अथवा विश्वास-पात्र बनने के बाद जिस जीवन में शशि ने प्रवेश किया, वह घुँघरुओं की झङ्कार पर थिरकता चलता था,—मद-भरे पात्रों को छलकाता हुआ। बाबूजी ने शशि को अपना साथी बना लिया और इससे उन्हें बड़ा सन्तोष भी हुआ। एक दिन शशि से कहने लगे :

"तुम नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम्हें अपना साथी बनाकर कितना भारी रिस्क मैंने लिया है। मेरी कोई भी बात अब तुमसे छिपी नहीं है और यदि तुम चाहो तो मेरी प्रतिष्ठा को धूल में मिला सकते हो। सियाह और सफेद—,मेरे जीवन में जो कुछ भी है, सब तुम्हें मालूम है।"

आत्मीयता के इस उबाल को बाबूजी खूब उभार कर रखते और चाहते कि शशि भी इसका अनुभव करे। बातों-ही-बातों में कहते :

"तुम्हें जो मैंने अपना साथी बनाया है वह सब देख-भाल कर बनाया है। पहले दिन जो आशंका मेरे हृदय में उठी थी कि कहीं मैं तुम्हें अपने हाथ से खो न दूँ, उसका भी एक अपना मतलब था। प्रश्न केवल तुम्हारे खोने का ही नहीं था, वरन् यह जानना भी था कि अगर तुम में बहकने की आदत हुई तो मुझे किस हद तक नुकसान पहुँचा सकते हो।"

बाबू जी शशि की इस विशेषता से बहुत प्रभावित हुए कि घुँघरुओं की झङ्कार और मद-भरे पात्रों के तीखे पर मधुर प्रवाह के साथ शशि बह नहीं जाता। शशि को भी अपनी इस विशेषता पर आश्चर्य हुआ। मद-भरे पात्र को पहली बार मुँह से लगाने के बाद वह प्रतीक्षा करता रहा कि अब उसके मुँह से अटपटी बातें निकलना शुरू होंगी, अब उसके पाँव लड़खड़ाने लगेंगे, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ, और वह प्रतीक्षा करता ही रह गया!

कुछ दिन बाद शशि की यही विशेषता बाबूजी को अखरने लगी। उन्होंने पलटा खाया और वह अब शशि को बहते और बहकते हुए देखना चाहने लगे। शशि को वह अपने हृदय का चोर समझते और उन्हें ऐसा मालूम होता मानों शशि, इस तरह चुप रहकर, अपनी कमज़ोरियों को तो अपने हृदय में छिपाये रखता है और उनकी कमज़ोरियों से परिचित होता जाता है। बाबूजी को यह अच्छा नहीं लगता और यह देखने के लिए कि शशि कितने गहरे पानी में है, नित नये कौतुक रचते।

शशि इन सब बातों में रस लेता—घुंघरुओं की झङ्कार भी उसे अच्छी लगती, और मद-भरे पात्रों से भी उसका कोई विरोध नहीं था। सहज भाव

से वह इन दोनों को स्वीकार करता और जब-तब, दीन-दुनिया को भूल, घुँघरुओं की झङ्कार में अपने को खो देने की कल्पना भी उसमें प्रबल हो उठती। लेकिन वह ऐसा कर नहीं पाता। रह-रह कर यह बात उसके हृदय में खटकती कि इस तरह बाबूजी का साथी बने रहने में कोई तत्त्व नहीं है। यह बाबूजी की कृपा का,—अथवा उनकी विलास-प्रिय सहृदयता का—फल है जो वह उनका साथी बन सका है, अन्यथा उसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

आत्मीयता के अपने इस रूप को बाबूजी अत्यधिक उभार कर रखते और चाहते कि शशि भी उसका अनुभव करे, लेकिन उसी से शशि बचना चाहता। बाबूजी की यह आत्मीयता शशि के लिए बोझिल हो उठती—इतनी बोझिल कि घुंघरुओं की झङ्कार भी उसके सामने फीकी पड़ जाती। शशि बहुत चाहता कि बाबू जी स्थिति के इस तीखेपन का अनुभव करें। उन्हें मालूम हो कि इस रंगीन महफिल में वह कौनसा तार है जो बेसुरा बोल रहा है, लेकिन बाबूजी इधर ध्यान न देते और जब भी अवसर पाते, आत्मीयता के इस रूप को ही उभार कर रखते। हँस कर कहते :

"अरे भाई, यह तो मुर्दे ढोने का वक्त नहीं है। कम-से-कम इस वक्त तो अपने हृदय की गांठ खोल लिया करो।"

कुछ क्षण शशि चुप रहता। फिर घुमा-फिरा कर अपनी स्थिति को व्यक्त करने का प्रयत्न करता। कहता :

"एक बहुत पुरानी कहावत है, बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख!"

"इसका मतलब?" बाबू जी अचरज से पूछते।

"कुछ नहीं," शशि ने कहा, "यों ही आजकल के मज़दूरों की दशा का ध्यान आ गया था। कुछ भी कहो, जीवन उनका बड़ा मस्त होता है। दुनिया की तमाम मुसीबतें एक-तरफ़, और उनका ताड़ी खाना एक तरफ़। उनकी इस मस्ती को लेकर किसी ने खूब कहा है—तन आसानी ऐशपरस्ती, दिन-भर फ़ाका, शब-भर मस्ती।"

बाबूजी शशि के चेहरे की ओर एकटक देख रहे थे। बोले वह कुछ नहीं।

"गरीबी का नशा भी बड़ा तेज होता है," बिना पिये ही शशि ने बहकना शुरू किया, "ताड़ीखाने में जाकर बालम खीरा नचाने अथवा किसी 'मूँछों वाली सजनी' को पकड़ कर उसके सामने नयना मटकाने में जो आनन्द है वह............"

अपनी बात अधूरी छोड़ शशि ने एकाएक बाबूजी से पूछा :

"आपने कभी ताड़ीखाने की बहार देखी है ?"

बाबू जी ने कोई उत्तर नहीं दिया। ताड़ीखाने के प्रति उनकी उदासीनता देख शशि ने कहा :

"मुझे अपना साथी तो आप बनाना चाहते हैं, लेकिन आप स्वयं मेरा साथी बनना नहीं चाहते।"

अपनी और बाबूजी की स्थिति के अन्तर को प्रत्यक्ष करने के लिए शशि ने ताड़ीखाने का चित्र प्रस्तुत किया था। सब कुछ भूल जाने पर भी शशि इस अन्तर को आँखों की ओट न होने देता था। बाबू जी का ध्यान भी वह जब-तब इस अन्तर की ओर खींचता रहता था।

"जब तक मैं आपके यहाँ हूँ" शशि कहता :—"तब तक तो ठीक : लेकिन आपका साथ छूटने पर रास-रंग कैसे चलेगा, रह-रह कर यही मैं सोचता हूँ। बेकारी के दिनों का अभ्यास छूट न जाए, इसलिए भोग में रत रहते हुए भी मुझे बैरागी बनना पड़ता है!"

अपने चुने हुए मित्रों को लेकर बाबू जी ने एक महफिल जमाने का निश्चय किया था। शशि भी बाबू जी की उस सूची में शामिल था। उनका विश्वास था कि यह महफिल शशि के 'गरीबी के नशे' तीन-तेरह कर देगी। उपर्युक्त भूमिका बांधने के बाद शशि से बोले, "उस दिन तुम भी मुर्दों की भांति क्या बालम खीरा नचा रहे थे। लेकिन जिस चीज़ का आज हम आयोजन करने जा रहे हैं, उसे देखोगे तो दङ्ग रह जाओगे।'

शशि के अनुरोध करने पर बाबू जी ने प्रकट किया कि नगर की एक प्रमुख वेश्या के नंगे नृत्य का उन्होंने आयोजन किया है।

"नंगा नृत्य !" शशि ने जैसे चकित होने से इन्कार करते हुए कहा, "वह तो मैं रोज़ ही देखता हूँ।"

"किसका ?" बाबू जी ने पूछा।

"हाड़-मास की एक जीती-जागती पुतली का— एक ऐसी नारी का धर्म और अग्नि की दुहाई देकर जिसके शरीर और आत्मा को मैंने हथिया लिया है और जिसके सहारे" कच्चे धागे की तरह जलकर शशि का स्वर जैसे बल खा चला, "भूख और वासना की भूंझल में अब उतारता हूँ !"

लेकिन इस उत्तर ने खुद शशि को जितना अप्रतिभ किया, उतना बाबू जी को नहीं। उसे लगा कि जैसे बाबू जी के कानों तक न पहुँच कर वह उत्तर उसके चारों ओर ही मंडरा रहा है। कुछ संभल कर और अपने इस उत्तर को सहज-स्वाभाविक आवरण में लपेटते हुए शशि ने कहा :

"मैं कहना कुछ चाहता था, लेकिन मेरे मुंह से निकल कुछ गया। असल में बात यह है कि मेरी पत्नी को न-जाने कैसे बहने-बहकने की इन सब बातों का पता चल गया है। और तो उससे कुछ करते बनता नहीं, बस झगड़ना शुरू कर देती है। परसों से मुंह फुलाए बैठी है। खाना-वाना भी उसने कुछ नहीं बनाया। कहती है,— घर में लकड़ियाँ नहीं, आटा नहीं, दाल नहीं ...."

बाबू जी अभी भी चुप थे और शशि के चेहरे पर आते-जाते भावों को ध्यान से देख रहे थे।

"अच्छी-खासी स्ट्राइक उसने कर डाली है," शशि ने अपनी बात को पूरा करते हुए कहा, "सच कहता हूँ, मेरी पत्नी न बन कर यदि वह मज़-दूरों का नेतृत्व करती होती तो न जाने कितने मिल-मालिकों को नाकों चने चबा देती !"

बाबू जी ने अनुभव किया कि शशि अपने जीवन से असन्तुष्ट है,—

यह सन्तोष का अभाव ही है जो शशि को परेशान किए है। जीवन में सन्तोष जब नहीं रहता तो किसी करवट चैन नहीं पड़ता—अपने से असन्तोष, अपने सगे-सम्बन्धियों से असन्तोष, जिस परिस्थिति में हम रहते हैं उससे असन्तोष— मतलब यह कि चारों ओर वह-ही-वह दिखाई पड़ता है।

"असन्तोष का पेट बहुत बड़ा होता है," शशि को समझाते हुए बाबू जी कहते, "इसकी पूर्ति न पचास से हो सकती है, न पाँच सौ से। सच तो यह है कि सन्तोष पैसे से खरीदा भी नहीं जा सकता— यह समझना भी ग़लत होगा कि जिनके पास पैसा है, उनके जीवन में सन्तोष भी है ...."

"हो सकता है कि पैसे वालों के जीवन में सन्तोष न हो," बीच में ही बाबू जी की बात का सूत्र पकड़ते हुए शशि ने कहा, "लेकिन उनके जीवन में एक बात अवश्य होती है। वह यह कि अपने असन्तोष को वे सन्तोष के साथ व्यक्त कर सकते हैं।"

बाबू जी चुप थे। शशि के प्रत्येक शब्द को पकड़ने का प्रयत्न वह कर रहे थे। शशि की बात सुनकर एकाएक चौंके। शशि कह रहा था :

"सचमुच, आपको देखकर मुझे बड़ी ईर्ष्या होती है।"

"ईर्ष्या किस लिए?" बाबू जी ने पूछा।

"इस लिए कि असन्तोष की बातों पर आप बड़े सन्तोष के साथ विचार करते हैं—कर सकते हैं," शशि ने कहा, "यह एक बहुत बड़ी बात है, और बड़े आदमी ही ऐसा कर सकते हैं।"

"असन्तोष का होना बुरा है," कुछ क्षण रुककर शशि ने फिर कहना शुरू किया, "लेकिन इसका न होना और भी बुरा है। यह असन्तोष ही तो हमें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। असन्तोष को मैं बुरा नहीं समझता। वह प्रगति का अस्त्र है और जिस दिन जीवन का यह असन्तोष संगठित होकर आगे बढ़ेगा, उसी दिन से नये युग का आरम्भ होगा।"

शशि के जीवन में असन्तोष की कमी नहीं थी। घुँघुरुओं की झङ्कार

और मद-भरे पात्रों ने शशि के इस असन्तोष को और भी तीखा बना दिया था। एक ओर वह बाबू जी का आत्मीय और साथी बन गया था, दूसरी ओर वह उनका कर्मचारी भी था। बाबू जी को इस बात पर गर्व था कि अपने एक कर्मचारी को उन्होंने अपना साथी बनने का अवसर प्रदान किया है, लेकिन शशि को बाबू जी का यह गर्व एक अच्छा-खासा व्यंग मालूम होता।

अपने कर्मचारियों का बाबूजी ने एक बजट तैयार कर लिया था। उनका खयाल था कि कर्मचारी इतने मुर्दा हैं कि अपने घर का बजट तक नहीं बना सकते। इसलिए यह काम खुद उन्होंने ही कर दिया था और उसी के अनुसार वह उन्हें 'वेतन' देते थे। शशि के वेतन का निर्णय भी उसी अनुपात से हुआ था। यह इसलिए कि यह व्यवसाय है और आत्मीयता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। बड़ी देख-भाल के बाद बाबूजी अपने कर्मचारियों के खर्च का हिसाब-किताब लगाते—कुछ इस तरह कि महाजन-महा व्याधि में वे एकदम डूबें भी न; और उससे निकल भी न सकें—बस, उलझे-उलझे से ही रहें।

"यह ठीक है कि आप लोगों को जो कुछ मिलता है, वह अधिक नहीं है," बाबूजी कहते, "लेकिन वह इतना कम भी नहीं है कि आप लोग एकदम मुर्दा ही बन जाएं।"

इसके बाद बाबूजी, असन्तोष का पेट कितना बड़ा होता है, यह बताना शुरू करते कि उसकी पूर्ति न पचास से हो सकती है, न पाँच सौ से। थोड़े धीरज और सन्तोष से काम लिया जाए तो सब कुछ आसानी से चल सकता है। अपने कर्मचारियों के कष्टों पर बाबूजी सहानुभूति दिखाते और बेहद व्यथित होते,—बीमार पड़ने पर खैराती अस्पतालों की ओर उंगली उठाते, खाने की तङ्गी होने पर अपने घर खिलाने के लिए तैयार हो जाते और अपनी स्थिति से वे सन्तुष्ट रहें, उसे गनीमत समझें, इसीलिए उन 'माई के लालों' की मिसाल सामने रखते जिन्हें एक समय भी भर-पेट भोजन नहीं मिलता!

"यह तो आप जानते ही हैं कि आज कल आर्थिक संकट का मुर्दा इस दुनिया में चक्कर लगा रहा है," बाबू जी कहते, "चार महीने भी की बात और है। बहुत कुछ मैंने संभाल लिया है, चार-एक महीने में शेष सब ठीक हो जाएगा।"

यह चार महीने की बात भी एक मुद्दत से चल रही थी—दिन-पर-दिन और महीने-पर-महीने बीत जाते, लेकिन न आर्थिक संकट दूर होता और न चार महीने की बात ही पूरी हो पाती। बाबूजी का बजट भी जैसा का तैसा बना हुआ था। एक तो वेतन मिलता ही कम था, तिस पर आर्थिक संकट के कारण एडवांस के रूप में टुकड़े-टुकड़े करके दिया जाता था।

शशि का असन्तोष इधर विचित्र रूप धारण कर रहा था। छोटे बच्चे के लिए दूध रोज़ आता था। महीना बीत गया, दूध वाले का पैसा नहीं दिया जा सका और दूसरा महीना भी चढ़ चला। दूध वाला आशा के सामने रोज़ बड़बड़ाता और आशा शशि से कहती-सुनती। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि दूधवाले ने अगले दिन से दूध न देने का फ़तवा दे दिया।

बाबूजी ने पैसा नहीं दिया। दिन हाँ-न के झकोलों पर झूल रहे थे। दूध वाले के अल्टीमेटम दे देने पर स्थिति नाज़ुक हो गई—यह कि स्थिति नाज़ुक चाहे न भी हुई हो, लेकिन शशि की परेशानी—उसका असन्तोष—उच्चतम शिखर पर अवश्य पहुँच गया। शशि ने बाबूजी से कहा। बाबूजी ने उत्तर दिया :

"कैश बॉक्स की इस वक़्त वही हालत है जो कि प्राण- पखेरू उड़ जाने पर मानव शरीर की हो जाती है। खुद आकर देख लो। उसमें कुछ भी नहीं है। हाँ, यदि चाहो तो चैक इसी समय ले सकते हो।"

संध्या का समय था। चैक उस समय भुन नहीं सकता था। शशि ने कहा :

"चैक लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे रुपया चाहिए।"

"क्यों, अपने किसी मित्र से तुम चैक के रुपये ले सकते हो," बाबूजी कह कर चुप हो गए। फिर कुछ देर बाद बोले, "देखो, तुम समझते हो कि मैं

तुम्हारी चिन्ता नहीं करता। मैं तुम्हारा वेतन बढ़ाना चाहता हूँ, लेकिन तुम मेरी कठिनाइयों को नहीं समझते। प्रश्न तुम्हारे अकेले का नहीं है। तुम्हारे साथ-साथ कार्यालय में अन्य मुर्दे भी तो मौजूद हैं। उनका भी मुझे ध्यान रखना है। वैसे, एक मित्र के नाते, जब-तब मैं तुम्हारी सहायता करता रह सकता हूँ।"

शशि को बड़ा बुरा लगा। वह अपने वेतन का पैसा चाहता था, लेकिन बाबूजी सहायता की बात पर उतर आए। आर्थिक संकट और चार महीने की बात का भी उन्होंने जिक्र किया, और अन्त में वेतन के अनुकूल शशि के घरेलू खर्च का बजट बनाने में सहायता देने का वचन दिया।

बाबूजी का सहानुभूति पुराण अभी चल रहा था कि उनकी गोष्ठी के दो मित्र आ गए। शशि के कष्टों के प्रति प्रदर्शित सद्‌भावनाएँ और शुभेच्छाएँ, मय चार महीने की बात के, रंगीन चुहलों और कह-कहों में उड़ गईं। फिर कैश-बॉक्स खुला, उसमें से दस का एक नोट निकला और शशि को एक ओर ले जाकर बाबूजी ने धीरे से कहा :

"परफेक्शन की एक बोतल ले आओ!"

एक बार शशि के जी में आया कि वह नोट के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, लेकिन उसने ऐसा किया नहीं। वह चुपचाप बाज़ार गया और बोतल ले आया। बाबूजी का साथ भी उसने खुलकर दिया। उस दिन जितना नशा शशि को पहले कभी नहीं हुआ था। आधी रात बीतने के बाद जब वह घर के लिए रवाना हुआ, तब उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे। हृदय में आशङ्का घर किए थी। घर के पास पहुँचने पर उसे किसी के रोने की आवाज़ सुनाई दी। शशि को लगा कि जैसे उसकी आशा रो रही है और उसका बच्चा,—वह मीठी नींद सो रहा है,—ऐसी नींद जो कभी भंग नहीं होती!

काँपते हृदय से शशि ने घर में प्रवेश किया। आशा जाग रही थी। शशि को अस्त-व्यस्त देख वह काँप उठी,—उसे लगा कि हृदय का दर्द फिर उठ आया है। शशि तमाम रात बड़बड़ाता रहा। सिरहाने बैठी आशा उसका सिर सहलाती रही। सुबह होते शशि को नींद आई और देर तक

वह सोता रहा। उठने पर आशा ने उससे कहा :

"मैं कहती हूँ कि यह नौकरी तुम छोड़ दो। जो कुछ होगा, देखा जाएगा।"

"जो कुछ होगा, देखा जायगा!" दफ्तर की ओर जाते समय भी शशि के मस्तिष्क में आशा के येही शब्द गूंज रहे थे। प्रेस में पहुँचने पर शशि ने दूसरा दृश्य देखा। तीन महीने से कर्मचारियों को वेतन नहीं मिला था। दो-दो चार-चार रुपये करके बाबू जी देना चाहते थे, वह उन्होंने लिया नहीं। आखिर उन्होंने भी अल्टीमेटम दे दिया कि वे काम बंद कर देंगे।

बाबूजी ने शशि को बुलवाया। प्रेस कर्मचारियों का अल्टीमेटम उसके सामने रखते हुए पूछा :

"कुछ बता सकते हो मुर्दे ढोते-ढोते मेरे आदमियों ने यह अल्टीमेटम देना कहाँ से 'सीखा?"

कुछ देर बड़े ध्यान से बाबूजी शशि को देखते रहे। फिर दूधवाले के अल्टीमेटम की याद ताज़ा करने के बाद उन्होंने कहा :

"मुझे इस बात का हार्दिक दुःख है कि तुम्हारे बच्चे के लिए वक्त पर दूध का प्रबन्ध नहीं हो सका। यह भी हो सकता है कि मेरे प्रमाद के कारण ऐसा हुआ हो। उसका प्रायश्चित करने के लिए मैं तैयार हूँ। लेकिन इस तरह की घटनाओं को लेकर अगर मज़दूर-नेताओं वाली चाल तुम मेरे कार्यालय में चलना चाहते हो तो यह किसी तरह नहीं बनेगा!"

शशि को विदा करने के बाद बाबू जी ने प्रेस के फोरमैन को बुलाकर कहा :

"जाओ, अपने आदमियों से कह दो कि तीन दिन बाद उनका वेतन मिल जायगा।"

तीन दिन तक बाबू जी उपर से नीचे नहीं उतरे। यह भी सुनने में आया कि बाबू जी ने मौन साध लिया है और पूजा करने में अपना समय बिता रहे हैं। ऐसा मालूम होता था मानो किसी की हत्या का वह प्रायश्चित कर रहे हों। प्रेस के कर्मचारियों की परेशानी एक प्रकार के कौतुक में

परिवर्तित हो गई और बड़ी उत्सुकता से वह प्रतीक्षा करने लगे कि देखें तीन दिन बाद क्या होता है। एक उत्साही कर्मचारी, आँखों-देखी रिपोर्ट पाने के लिए, बाबू जी के कमरे तक भी हो आया। कमरे का दरवाजा बन्द था, इसलिए दिखाई तो उसे कुछ नहीं दिया। बाबू जी के मुँह से प्रवाहित स्वर उसे अवश्य सुनाई पड़ा :

"प्रभुजी मोरे अवगुण चित न धरो !"

तीन दिन बाद प्रेस का फोरमैन फिर बाबू जी के पास गया और उनके कमरे के दरवाजे पर ठिठक कर खड़ा हो गया। बाबू जी का कमरा क्या था, अच्छा-खासा पूजा-गृह मालूम होता था। एकाएक उसका साहस नहीं हुआ कि अन्दर पाँव रखे। बाबू जी के मुंह से अब भी वही स्वर प्रवाहित हो रहा था :

"प्रभु जी मोरे अवगुण चित न धरो !"

"तुम आ गये," बाबू जी ने फोरमैन की ओर देखते हुए कहा। "वह देखो, छोटी मेज़ पर एक पोटली रखी है। उसे उठा लाओ।"

फोरमैन पोटली उठा कर ले आया। बाबू जी ने कहा :

"इसमें कुछ जेवर हैं। इन्हें बेचकर अथवा गिरवी रखकर जो रुपया पा सको, आपस में बाँट लो, जाओ।"

फोरमैन की कुछ समझ में नहीं आया— और अगर कुछ समझ में आया भी तो उसे पूरा करने का साहस उसे नहीं हुआ। पोटली हाथ में लिए वह खोया सा खड़ा रहा। इतने में बाबू जी का स्वर सुन वह चौंक उठा। ऊँची आवाज़ में वह कह रहे थे :

"अब मुर्दे की भांति यहाँ क्यों खड़े हो ? कह तो दिया कि यहाँ से चले जाओ, जाओ !"

फोरमैन के हाथ से पोटली छूट गई और वह खाली हाथ नीचे चला गया। अन्य कर्मचारियों के व्यंग का भी उसे शिकार होना पड़ा। लेकिन इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ कि जाकर बाबू जी के कमरे से पोटली उठा लाए। जब कुछ नहीं बना तो बाबू जी के लड़के से उन्होंने कसर निका-

खनी शुरू की।

"दिवाला निकल गया है तुम्हारे बाबू जी का," लड़के के सामने आने पर उन्होंने कहा, "हमारा पैसा चुकाने के लिए अपनी बीवी के गहने बेचने के लिए दे रहे थे।"

"जी हाँ," लड़के ने मुंह बिचकाते हुये कहा, "मेरी माँ इतनी भोली नहीं है कि जो जिस-तिस के हाथ में अपने गहने देती फिरे। अपने सारे गहने वह पहले ही मामा जी के घर रख आई हैं। बाबू जी देंगे कहाँ से ? जेवर यहाँ हों, तब न!"

लड़के ने कहा और अंगूठा दिखाकर भाग गया। जेवर यहाँ हों, चाहे न हों, प्रेस के कर्मचारियों के पल्ले कुछ नहीं पड़ा। सबने मिलकर फिर से अपने पूर्व निश्चय को दुहराया—इस बार धोखा खाया-सो-खाया, अगली बार अपना वेतन लेकर ही रहेंगे।

: ६ :

सब कुछ हुआ, लेकिन बाबू जी ने अपनी आत्मीयता में फिर भी कोई अन्तर नहीं आने दिया। स्ट्राइक आदि की अग्नि-परीक्षाओं में से जैसे-जैसे वह गुज़रते जाते, उनकी आत्मीयता में भी एक अजीब निखार आता जाता। परिस्थितियों के अनुसार अनेक संशोधन-परिवर्द्धन उन्होंने किए, लेकिन उसका मूल रूप पहले जैसा ही बना रहा।

"पैसे में बहुत शक्ति है," बाबू जी कहते। "पैसे के बल पर सम्पूर्ण संसार को नचाया जा सकता है और इसके बाद, एक दिन आता है, जब हम स्वयं भी उसके इशारे पर नाचने लगते हैं। पैसे का दास होना बुरा है, और मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति पैसे की दासता से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करे।"

पैसे के बल पर जो काम होता, उसे वह अधिक महत्त्व न देते। पैसे को सामने रखकर जो कर्मचारी काम करते, उन्हें भी वह अधिक महत्त्व न देते, और वे उनकी नज़र में सबसे अधिक दयनीय और हेय थे जो पैसे को सामने रखकर स्ट्राइक आदि का सहारा लेते।

"पैसे के बल पर बहुत से काम होते हैं, यह मैं जानता हूँ," बाबू जी कहते, "लेकिन मैं उसे अधिक महत्त्व नहीं देता। पैसे के बल पर ही यदि काम कराना हो तो मैं किसी से भी करा सकता हूँ,— आप न करेंगे तो कोई और करेगा। मुर्दे ढोने वालों की इस दुनिया में कमी नहीं है। लेकिन इसका श्रेय आपको न होकर मेरे पैसे को होगा और आप लोग," बाबू जी का स्वर कुछ ऊँचा हो चलता, "और आप लोग—लेकिन नहीं अपने कर्मचारियों को मैं इतना हृदय-हीन नहीं समझता कि वे इतनी सी बात भी न समझ सकें!"

बाबू जी के साथ-साथ उनकी आत्मीयता भी पैसे की दासता से मुक्त होती गई। स्ट्राइक-आदि का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी ओर से बाबू जी उसमें कोई अन्तर नहीं आने देते। उनकी आत्मीयता से दूसरे भले ही तङ्ग आ जाएं, लेकिन बाबू जी अपनी ओर से उसमें कोई कसर नहीं छोड़ते।

बाबू जी की आत्मीयता शशि के लिये बोझिल हो उठी। जब नहीं रहा गया तो एक दिन उसने त्याग-पत्र दे दिया। बाबू जी ने शशि के त्याग-पत्र को वापिस लौटाते हुए कहा:

इसकी क्या ज़रूरत थी? मैं जानता हूँ कि हृदय के दर्द से, तुम परेशान हो, यह भी हो सकता है कि काम करते-करते तुम थक गए हो, लेकिन इतनी सी बात के लिए त्याग-पत्र देने की क्या ज़रूरत है? तुम छुट्टी ले सकते हो।"

शशि त्याग-पत्र लिए चुपचाप खड़ा था और नीची नज़र किए ज़मीन कुरेद रहा था। बाबू जी कह रहे थे:

"मैं भी कुछ इस बुरी तरह घिर गया हूँ, कि समझ में नहीं आता, क्या करूं। कितने ही दिनों से मैं खर्च कम करने की बात सोच रहा था। लेकिन एक आदमी के कम अथवा अधिक होने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अभी स्थिति इतनी गई-बीती नहीं हुई है कि तुम्हारी रोटियों का भी मैं प्रबन्ध न कर सकूं। तुम यदि जाना ही चाहते हो तो चार महीने

की छुट्टी ले लो। तब तक," बाबू जी का स्वर आश्वासन और संवेदना से भर चला, " मेरी स्थिति भी ठीक हो जाएगी।"

आर्थिक संकट, चार महीने की बात और उसके लिए चार महीने की छुट्टी—त्याग-पत्र स्वीकार न करके बाबू जी ने शशि को छुट्टी दे दी। यह उन्हें अच्छा नहीं मालूम हुआ कि उनका कर्मचारी किसी से जाकर कहे कि वह अलग कर दिया गया अथवा बाबूजी से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए उसे त्याग-पत्र देना पड़ा।

"इसमें दोनों की ही बदनामी है," बाबू जी कहते, "मेरा तो खैर कुछ नहीं, काम करने वाले मिल ही जाएँगे। लेकिन यदि तुम बदनाम हो गए तो नौकरी मिलना कठिन हो जाएगी और जीवन-भर मुर्दे ढोते रहोगे। इसका मतलब यह मत समझना कि मैं तुम्हें अभी से अलग कर रहा हूँ," कुछ क्षण रुक कर बाबू जी ने अपने वक्तव्य को सम्पूर्ण किया, "नहीं, मैं अलग नहीं कर रहा हूँ। स्थिति के ज़रा सम्भलते ही मैं तुम्हें फिर बुला लूँगा।"

जिस उद्देश्य को सामने रख कर बाबू जी ने शशि के त्याग-पत्र को छुट्टी में परिवर्तित किया था, वह पूरा नहीं हुआ। सम्बन्ध-विच्छेद होते ही शशि ने इधर-उधर कहना शुरू किया :

"बाबूजी के शब्दकोष में त्याग पत्र का अर्थ होता है चार महीने की छुट्टी। यह भी हो सकता है कि उनके शब्द-कोष में त्याग-पत्र नाम का शब्द ही न हो। हाँ, उनका कर्मचारी यदि दुनिया को ही छोड़ कर चला जाए तो दूसरी बात है, अन्यथा बाबूजी की 'आत्मीयता' उसका पीछा छोड़ने वाली नहीं !"

शशि के जीवन में जितना असन्तोष था वह जैसे एक केन्द्र-बिन्दु पर जम रहा था। वह केन्द्र-बिन्दु था बाबूजी। शशि के जीवन का जैसे यह एक खुला रहस्य था। अपने असन्तोष को छिपा कर वह नहीं रहता था। बाबूजी को जब इसका पता चला तो वह भी बहुत असन्तुष्ट हुए और 'खतरनाक' आदमियों की लिस्ट में उन्होंने शशि का नाम लिख लिया।

"मेरा इरादा था शशि को अपने यहाँ फिर बुलाने का," बाबूजी ने कहा, "लेकिन मुर्दे ढोते-ढोते उसकी बुद्धि सठिया गई है। यहाँ से अलग होने के बाद मेरे विरुद्ध उसने जो प्रचार करना शुरू किया है वह ...."

दाँत पीस कर बाबूजी अपने अधूरे वाक्य को पूरा करते। शशि भी बाबूजी को लेकर दाँत पीसने में पीछे नहीं रहता। लेकिन यह सब होते हुए भी उसके मन में बाबूजी के प्रति एक अजीब खिंचाव था जो कहता प्रतीत होता था कि अगर वह नौकरी करेगा तो बाबू जी के यहाँ, अन्यथा बेकार रह कर ही वह अपना जीवन बिता देगा। बाबूजी भी शशि को एक बार फिर अपने यहाँ देखना चाहते थे,—यदि और किसी लिए नहीं तो पुरानी कसर निकालने के लिए ही।

शशि और बाबूजी मानो एक ही सिक्के के दो पहलू थे जो एक-दूसरे बिना रह नहीं सकते थे।

चार महीने की बात को पूरा करने के लिए शशि ने चार महीने की छुट्टी ली। लेकिन चार महीने खत्म होने पर भी शशि बाबू जी के यहाँ नहीं गया और देखने में ऐसा मालूम होता था कि कभी जाएगा भी नहीं। लेकिन शशि का यह विरोध ऊपरी था। बाबूजी के यहाँ जो वह अब तक नहीं गया था, इसका कारण वह नहीं था कि वह जाना नहीं चाहता था। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी। सच तो यह है कि बाबूजी को वह छोड़ना नहीं चाहता था और यह भावना इतनी प्रबल हो उठी थी कि उस पर काबू पाना शशि के लिए सहज नहीं था।

शशि के हृदय पर गहरा प्रभाव बाबू जी का पड़ा था और जैसे इस प्रभाव को एकाएक स्वीकार कर सकने अथवा उस पर काबू पाने के लिए शशि बाबू जी का विरोध करता था। शशि के इस विरोध को देख कर कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि मन-ही-मन वह बाबू जी का आदर करता है। सब यही समझते थे कि बाबू जी के प्रति शशि के हृदय में गहरी घृणा है। सब कुछ हो सकता है, लेकिन शशि और बाबू जी का समझौता नहीं

हो सकता।

खुद बाबू जी भी ऐसा ही समझते और शशि के विरोध को देख कर गिनते खतरनाक आदमियों की गिनती में शशि को, लेकिन यह सब होते हुए स्वयं वह भी शशि को फिर से पाना चाहते,— काम कराने के लिए नहीं, वरन् शशि द्वारा प्रचारित इस भावना को झूठा सिद्ध करने के लिए कि वह बाबू जी के यहाँ फिर कभी नहीं जा सकता।

अलग हो जाने पर भी बाबू जी शशि से मिलते रहते और इस तरह बातें करते मानो उसकी छुट्टियाँ अभी तक समाप्त नहीं हुई हैं और किसी समय भी शशि उनके कार्यालय में पहुँच सकता है। चलते-चलते वह यह याद दिलाना भी नहीं भूलते कि शशि के लिए उनका दरवाज़ा सदा खुला है। जब भी चाहे, वह उनके यहाँ आ सकता है।

आखिर वह दिन भी आया जब शशि बाबूजी के यहाँ फिर पहुँच गया। शशि के मित्रों ने इसे एक अनहोनी घटना के रूप में लिया—शशि के असन्तोष का परिचय पाने के बाद किसी को यह विश्वास नहीं था कि वह फिर कभी बाबू जी के यहाँ काम करेगा।

"शशि फिर चार महीने की बात के चक्कर में फँस गया," बाबू जी के यहाँ फिर से पहुँचने पर शशि के एक मित्र ने कहा, "मालूम होता है, वह अपने पिछले जीवन के कटु अनुभव भूल गया है। अन्यथा आँखें रहते काजर की इस कोठरी में वह कभी प्रवेश नहीं करता।"

मित्र की यह बात शशि को कुछ अजीब सी मालूम हुई। बाबूजी को छोड़-कर किसी दूसरी जगह शशि काम कर सकता है, मित्र इसकी तो कल्पना कर सकते थे, किसी दूसरे के यहाँ काम करने का परामर्श भी वह दे चुके थे, लेकिन यह वह नहीं चाहते थे कि शशि बाबू जी के यहाँ काम करे। शशि के हित को अपनी दृष्टि में रखकर ही वह ऐसा कहते थे।

"आपको यह अच्छा नहीं लगा कि मैं फिर बाबू जी के यहाँ आ गया," शशि ने अपने मित्र से कहा, लेकिन शायद आप यह नहीं जानते कि बहुत पहले ही मैं इसका निश्चय कर चुका था कि नौकरी करूंगा तो

बाबू जी के यहाँ, अन्यथा बेकार ही रहूँगा। नौकरी करने-न-करने के बारे में मैंने बाबू जी को अपनी कसौटी बना लिया है।''

शशि की यह बात भी कुछ कम अजीब नहीं थी। उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए शशि ने कहना शुरू किया :

''जहाँ तक मेरे असन्तोष का सम्बन्ध है, वह आज भी बना हुआ है। उसका रूप और आकार-प्रकार भी पहले से कहीं अधिक व्यापक हो गया है। बाबूजी के यहाँ काम करने से उसमें और भी वृद्धि हो सकती है। लेकिन इसका मुझे डर नहीं। और अगर आप भी समझते हों कि बाबू जी को छोड़ कर किसी दूसरे के यहाँ काम करने में असन्तोष नहीं रहेगा, तो मैं यह मानने के लिये तैयार नहीं। कम-से-कम मेरा असन्तोष ऐसा नहीं है जो इस तरह की सञ्चालक-बदलौवल से शांत हो सके।''

संचालक-बदलौवल से ऊपर उठ कर एक दैवी निधि के रूप में शशि अपने असन्तोष को देखना चाहता था। पहली बार जब प्रेस में स्ट्राइक हुई तो शशि ने कौतुकपूर्ण उत्साह के साथ उसमें योग दिया। लेकिन अब वह मज़दूरों की इस अवज्ञा-नीति के पक्ष में नहीं था। एक संचालक को छोड़कर किसी दूसरे के यहाँ इसलिए काम करना कि वहाँ कुछ अधिक सुविधाएं प्राप्त होंगी, अथवा इसी उद्देश्य को सामने रखकर स्ट्राइक-आदि करना शशि को शक्ति का अपव्यय मालूम होता।

''पथ-भ्रान्त असन्तोष ही इस प्रकार की अवज्ञा-नीति के फेर में पड़ सकता है,'' शशि कहता, ''मेरा असन्तोष ऐसा नहीं है जो गिनी-चुनी सुविधाओं की पूर्ति के भ्रम में पड़कर रह जाए। नहीं इससे मुझे कितना बड़ा काम करना है — इसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते!''

असन्तोष के सहारे जिस बड़े काम की पूर्ति शशि करना चाहता था, उसमें अभी बहुत देर थी। इसलिए, एक छोटा काम— बाबू जी के यहाँ एक बार फिर से नौकरी करके देखना— शशि ने अपने हाथ में ले लिया था। शशि को विश्वास था कि इससे उसके बड़े काम में कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

"देखो शशि, इतने दिनों से मैं बराबर तुम्हारा अध्ययन कर रहा हूँ," स्वागत सत्कार का दौर शिथिल पड़ने पर बाबूजी ने कहा, "और मैंने देखा कि तुम पहले से अधिक समझ-दार हो गए हो। मेरा विश्वास है कि इस बार हमारा सम्बन्ध अधिक स्थायी होगा।"

शशि का खयाल था कि इधर-उधर की बातों में न पड़ कर अपने काम में जुटा रहेगा। इसके लिए उसे किसी प्रकार की भूमिका की आवश्यकता नहीं थी—एक तरह तैयार होकर ही वह आया था। लेकिन इस बार बाबूजी ने शशि को कोई निश्चित काम नहीं दिया। कार्यालय का डिसिप्लिन भङ्ग न हो, इसलिए बाबूजी शशि को ऐसे ही उठा धरी का कोई-न-कोई काम देते रहते। वह काम ऐसा नहीं होता जिसके लिए किसी को नौकर रखने की अवश्यकता हो,—शशि को ऐसा मालूम होता मानो तलवार से तरकारी काटने का काम लिया जा रहा है!

"तुम्हारा कहना ठीक है," शशि के शिकायत करने पर बाबूजी ने उत्तर दिया, "इस तरह के काम तुमसे कराना तुम्हारी शक्ति का अपव्यय करना ही है। लेकिन थोड़ा धैर्य रखो। तुमसे मुझे बहुत बड़ा काम लेना है और उसी के लिए मैंने तुम्हें बुलाया है। वह एक ऐसा काम है जिस पर मेरा, तुम्हारा—कहें कि सम्पूर्ण कार्यालय का भविष्य निर्भर करता है।"

शशि अचरज में भर कर बाबूजी की बात सुनता और वह, बिना रुके, सम्पूर्ण कार्यालय का भविष्य जिस पर निर्भर करता है, किसी ऐसे और इतने बड़े काम की भूमिका बांधते रहते। साथ ही यह भी वह चाहते कि इस बार शशि के साथ उनका जो संबन्ध स्थापित हो, वह स्थायी हो और शायद इसीलिए उन्होंने शशि को इस तरह ठोंक पीटकर देखना शुरू किया था।

"यदि इस बार तुमने मेरा साथ दिया," अन्त में बाबूजी कहते, "तो एक बात का मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि और चाहे जो हो जाए, भविष्य में न तुम्हें अपने बच्चे के दूध के लिए परेशान होना पड़ेगा न फिर कभी मुर्दे ढोने की नौबत आएगी!"

शशि कभी-कभी ऐसा मालूम होता कि मानो राधा के नाच के लिए

नौ मन तेल का आयोजन करने के लिए बाबूजी ने उसे बुलाया है, काम कराने के लिए नहीं। वरन् इधर-उधर की बातों में उलझा कर उसे व्यर्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से बाबूजी ने इस बार उसे अपने यहाँ रखा है। न नौ मन तेल जुट पाएगा, न राधा नाच सकेगी, और एक दिन आएगा जब उसे निकम्मा घोषित कर के कार्यालय से अलग कर दिया जाएगा,—अथवा वह स्वयं इस तरह की बेगार से तंग आकर अलग होने के लिए मजबूर हो जायगा।

"अच्छा, यह बताओ कि क्या तुम्हें मुझमें कोई परिवर्तन दिखाई पड़ता है?" इधर-उधर की बातें करने के बाद एक दिन बाबूजी ने शशि से पूछा।

प्रश्न के साथ-साथ शशि ने एक बार ऊपर से नीचे तक बाबू जी को देखा। वह अधिक स्थूल काय हो गए थे। देख गया। शशि ने कहा, "अब आपका स्वास्थ्य अधिक सुधरा हुआ दिखाई देता है।"

शशि अब भी पहले जैसा ही था। उसका उत्तर सुनने के बाद बाबूजी ने कहा, "लेकिन तुममें अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ। बिलकुल वैसे ही हो, जैसे कि यहाँ से गए थे।"

"हाँ," शशि ने कहा, "इस शरीर पर सरदी-गरमी का अब कोई असर नहीं होता"। इसके अतिरिक्त, शशि के ओठों पर फिर वही मुस्कराहट खेल चली, "आर्थिक संकट और उथल-पुथल के इस युग में अपने को जैसा का तैसा बनाए रखना भी बहुत बड़ी बात है।"

"यह बात ग़लत है, शशि!" बाबू जी कहते—"जैसा का तैसा कोई नहीं रहता। हर चीज़ हर घड़ी बदलती है, बदल रही है।"

बाबूजी चाहते कि उनमें जो परिवर्तन आ गया है शशि उसका अध्ययन करे। इसके साथ-साथ वह यह भी चाहते थे कि शशि में जो परिवर्तन आगया है, उसका परिचय भी वह बाबूजी को दे। शशि को यह दोनों बातें बेतुकी मालूम होती थीं—कम-से-कम इस मानी में कि बाबूजी के परिवर्तन का परिचय पाए बिना भी वह नौकरी कर सकता था। बाबूजी के परिचय

से अधिक ज़रूरत थी इस बात की कि उसे उसकी मज़दूरी समय पर मिलती रहे। जो काम उससे कराना है अथवा वह कर रहा है, उसके बारे में कहना-सुनना भी कुछ मानी रखता था। लेकिन बाबूजी शशि की इन बातों पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे।

"कार्यालय में मैंने तुम्हें पूरी स्वतंत्रता दे रखी है" बाबू जी कहते, "तुम जो चाहो, वह करो। आखिर मुझे भी तो पता चले कि तुम केवल मुर्दे ढोना ही जानते हो, या मेरे व्यवसाय को भी कुछ पकड़ पाते हो?"

ऐसा मालूम होता मानो अपना उत्तराधिकारी बनाने के लिए बाबू जी शशि को तैयार कर रहे हों। उसके भरोसे अपने सम्पूर्ण व्यवसाय को छोड़ कर जैसे वह यह देखना चाहते हों कि शशि कहाँ तक उनके व्यवसाय को चला या आगे बढ़ा सकता है।

"मुर्दे ढोने के लिए नहीं अपने व्यवसाय का जीर्णोद्धार करने के लिए मैंने तुम्हें बुलाया है," बाबूजी कहते, "मैं चाहता हूं कि इसमें तुम एक नया जीवन फूँक दो।"

व्यवसाय में नया जीवन फूँकने के लिए बाबूजी बेचैन थे। स्वयं बाबूजी ने भी अपने जीवन का एक नया परिच्छेद शुरू किया था। अपने जीवन के परिवर्तन और उसके विकास-क्रम का परिचय देते हुए एक दिन बाबू जी शशि से कहने लगे;

"इतने दिन मुझे व्यवसाय करते हो गए। रुपया भी मैंने बहुत पैदा किया, लेकिन आज जब मैं हिसाब लगाने बैठता हूं तो बस मुर्दे-ही-मुर्दे दिखाई देते हैं। रुपया जैसे आया था, वैसे ही चला गया।"

कुछ क्षण रुक कर बाबू जी ने फिर कहा :

"बहुत कुछ मैंने सोचा, लेकिन मेरी कुछ समझ में नहीं आया और आज भी मेरे सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि रुपये के इस अनियन्त्रित आवागमन पर कैसे काबू पाया जाए?"

पैसे की दासता से मुक्त होने की बात बाबूजी पहले भी कहा

करते थे। अब उसका वास्तविक रूप सामने आया। पैसे की दासता से मुक्त होने का अर्थ था पैसे के आवागमन पर प्रभुत्व कायम करना। बात ठीक भी थी। पैसे की दासता से मुक्त होने के अपने-आप में कोई मानी नहीं होते—विशेषकर ऐसी हालत में जब तक कि पैसे के आवागमन पर अपना प्रभुत्व न हो।

जिस बड़े काम का बाबूजी जिक्र करते थे, उसका कुछ परिचय मिला—पैसे के आवागमन पर प्रभुत्व पाना। जिन कर्मचारियों को अपने साथ लेकर बाबूजी इस बड़े काम को सम्पन्न करना चाहते थे, इसके लिए आवश्यक था कि सबसे पहले स्वयं उन कर्मचारियों के आवागमन पर काबू पाया जाए। बाबूजी अपने कर्मचारियों को कार्यालय की चौहद्दी के भीतर घेर कर रखना चाहते। बात इतनी ही नहीं थी। कार्यालय से बाहर उसका जो जीवन था, उस पर भी वह पूरा नियंत्रण रखने का प्रयत्न करते। प्रत्येक कर्मचारी को, शाब्दिक मानी में, वह अपने कार्यालय का सन्तरी बना हुआ देखना चाहते।

ऐसा मालूम होता मानो बाबूजी, पैसे पर प्रभुत्व पाने के लिए, अपने जीवन का अन्तिम प्रयत्न करने जारहे हों। कर्मचारी और पैसा,—इन दोनों की छीजन के जितने रास्ते थे, वह उन सबकी रोक-थाम करना चाहते थे। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने अपने जीवन में अनेक परिवर्तन किए थे। घुंघरुओं की झङ्कार और मद भरे पात्रों को वह अब छोड़ चुके थे,—छोड़ते जा रहे थे और व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता पर ज़रूरत से ज्यादा ज़ोर देने लगे थे। उनके रोम-रोम से उसी एक गीत की ध्वनि प्रवाहित होती रहती थी :

"प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो !"

यह दुनिया केवल मुर्दे ढोने के लिए ही नहीं है। इससे आगे बढ़कर जिन्हें कुछ काम करना है," बाबू जी कहते, "उन्हीं का जीवन यदि पवित्र न होगा तो फिर किसका होगा। जिन आदर्शों का हम स्वयं पालन नहीं करते, उनका पालन करने के लिए दूसरों से हम फिर किस बिरते पर कह

सकते हैं ?"

बात, प्रत्यक्षतः, ठीक थी। इस दुनिया में 'कुछ' करने के लिए ही बाबू जी पैसे पर प्रभुत्व पाना चाहते थे, और इसकी भूमिका उन्होंने तैयार की थी, व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता का सूत्र पकड़ कर। बातों-ही-बातों में एक दिन शशि ने बाबू जी से पूछा :

"मुक्ति-दाता-मण्डल के बारे में आपके क्या विचार हैं ? यदि वैसा ही संगठन यहाँ भी किया जाए तो कैसा हो ?"

मुक्तिदाता-मण्डल देश की एक प्रसिद्ध संस्था का नाम था। धार्मिक पुस्तकों तथा एक मासिक पत्र के प्रकाशन के काम को उसने इस सफलता से आगे बढ़ाया था कि उसे, धार्मिक अधर्मिक, सभी प्रकार की प्रकाशन संस्थाओं का राजा कहा जा सकता था। शशि का प्रश्न सुनकर बाबू जी ने कह दिया :

"मुक्तिदाता-मण्डल का क्या कहना है ! बहुत बड़ा काम किया है उसने !"

"हाँ," शशि ने कहा, "राम-नाम के सहारे व्यवसाय चलाने में उन्हें कोई मात नहीं कर सकता !"

"दुनिया भर के मुर्दे ढोते-ढोते तुम्हारी तो आत्मा मर गई है, शशि !" बाबू जी ने कहा, "न जाने तुम कैसे इस तरह के शब्द अपने मुंह से निकालने का साहस करते हो ?"

"मरी हुई आत्मओं के चीत्कार 'हाय मरा' को कानों की ओट करने के लिए ही," शशि ने उत्तर दिया, "साधन-सम्पन्नों ने उसे उलट कर—हाय-मरा को हाय राम बनाकर— राम-नाम के कीर्तन की सृष्टि की है।"

कुछ क्षण रुककर शशि ने फिर कहा :

"राम-नाम के सहारे व्यवसाय चलाने की बात आपको अच्छी नहीं लगी। अच्छी बात उसे कहा भी नहीं जा सकता। चाहें तो उसमें संशोधन कर सकते हैं। व्यवसाय के सहारे राम-नाम चलता है। अगर इस पर आपत्ति हो तो कहिए, व्यवसाय स्थिर रहता है, केवल राम-नाम ही है जो

चलता है।"

शशि ने अपनी बातों से बाबू जी को असन्तुष्ट कर दिया। कई दिन तक बाबू जी चुप रहे। इसके बाद उन्होंने शशि को बुलाया। कहने लगे ;

"मुर्दे ढोना एक बात है और व्यवसाय को चलाना दूसरी। इसके लिए अपने जीवन में अनेक उपायों का सहारा मैं अब तक ले चुका हूँ,— वेश्याओं का भी और मद-भरे पात्रों का भी। लेकिन व्यर्थ—परिणाम उसका मेरे सामने है, आज मैंने धर्म का सहारा लिया है, और मैं देखता हूँ कि उसका प्रभाव अच्छा पड़ता है। तुम इसे स्वीकार करो, चाहे न करो, लेकिन व्यवसाय को चलाने के लिए एक सहारे की आवश्यकता होती है और इसके लिए धर्म को मैं सबसे अधिक शुभ, श्रेष्ठ और पवित्र सहारा मानता हूँ।"

शशि को प्रभावित करने के लिए बाबू जी ने अपनी धार्मिक वृत्तियों को जान-बूझ कर व्यावसायिक भाषा में व्यक्त किया था। उनका विश्वास था कि शशि का दृष्टिकोण पदार्थवादी हो गया है, इसलिए वह हर बात को पदार्थवादी दृष्टि से ही देखता है, और उसी जामे में लिपटी बात उसकी समझ में आती है, उस पर कुछ असर करती है। बाबूजी को आशा थी कि शशि का यह दृष्टिकोण धीरे-धीरे बदल जाएगा। एकाएक परिवर्तन किसी के जीवन में भी नहीं होता।

यही सब सोचकर बाबू जी ने शशि की ही भाषा में धार्मिक सहारे की श्रेष्ठता को व्यावसायिक टेक देकर व्यक्त किया था। अन्यथा बाबू जी ने परिवर्तन की ओर अग्रसर होने के बाद, इस तरह की भाषा का प्रयोग करना करीब-करीब छोड़ दिया था। जो भी बात उन्हें कहनी होती, धार्मिकता की चाशनी चढ़ाकर कहते और हृदय से चाहते कि उनके कार्यालय के प्रत्येक कर्मचारी के मुँह से एक ही स्वर प्रवाहित हो—कम-से-कम उन कर्मचारियों का तो एक स्वर होना ही चाहिए जिन्हें, आधार-भूत-रूप में अपने साथ लेकर, बाबू जी जीवन में 'कुछ' करना चाहते थे। शशि भी इन्हीं व्यक्तियों

में से एक था। उनकी योजना और संगठन का मूल मंत्र था— "सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

शशि को बाबू जी अकसर इस मूल-मंत्र का पाठ पढ़ाते और उसके हृदय पर इसकी छाप बैठाने की कोशिश करते।

"तुम नहीं जानते शशि, लेकिन अपने इस जीवन में मैंने भी बड़े मुर्दे ढोए हैं। धार्मिकता की ओर अग्रसर करने वाले अनेक कारणों में से एक का परिचय देते हुए बाबू जी कहते, पैसे का आवागमन इस हद तक बे-काबू हो गया है कि मैं अपने कर्मचारियों को कई-कई महीने तक वेतन न दे पाया। एक ओर तो यह हालत थी और दूसरी ओर मैं नशे में धुत किसी लड़की को बगल में दबाए घूमा करता। एक दिन कुछ कर्मचारियों ने मुझे देख लिया। तभी से मैं उनकी दृष्टि में गिर गया और तभी से जब भी उन्हें मौका मिलता मेरा वे प्रत्यक्ष विरोध तक करने पर उतर आते।

बात ठीक थी—कम-से-कम इस मानी में कि कर्मचारी बाबू जी का विरोध करने लगे थे। कार्यालय का डिसिप्लिन अब पहले जैसा नहीं था और प्रेस के कम्पोज़ीटर अपने फोरमैन तक के वश में नहीं थे। बात इतनी ही नहीं थी, वरन् फोरमैन के प्रति उनके हृदय में यह सन्देह घर कर गया था कि वह बाबू जी से मिला हुआ है।

बाबू जी ने नियम बना दिया था कि जो कुछ भी कम्पोज़ीटरों को कहना हो, अपने फोरमैन के द्वारा ही कहें। कम्पोज़ीटरों को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी। लेकिन फोरमैन के द्वारा उनका काम बनता नहीं था। पहले तो कई दिन तक वह स्वयं ही टालता रहता। बहुत कुछ कहा-सुनी के बाद वह बाबू जी के पास जाता भी तो बे मन से। नतीजा इसका यह कि फोरमैन को पीछे छोड़ खुद आगे बढ़कर उन्होंने बाबू जी का विरोध करना शुरू कर दिया।

पैसे के आवागमन पर प्रभुत्व पाने के बाद जीवन में दो काम बाबू जी करना चाहते थे,—एक तो पतित बहनों का उद्धार और दूसरा मादक

द्रव्यों का निषेध। शशि को ये दोनों ही काम व्यर्थ मालूम होते। जब कभी बाबू जी इस तरह की बातें करते तो शशि कहता :

"अच्छा है। आप जीवन में कुछ करना चाहते, और यह दोनों काम जीवन में 'कुछ' करने का सन्तोष भी आप को दे सकते हैं। अन्यथा मुझे इन कामों में कोई तत्व नहीं दिखाई पड़ता।"

बाबू जी और शशि,—दोनों के दृष्टि-कोणों में एक दम विरोधी दिशा का अन्तर था। शशि जिस चीज़ को व्यर्थ समझता, उसी पर बाबू जी सब से अधिक ज़ोर देते। अपने व्यावसायिक जीवन में वह देख चुके थे कि मद-भरे पात्रों ने कितनी गड़बड़ की थी। स्वयं उनके कर्मचारी ही उनके विरोध में खड़े होने का साहस करने लगे थे। कर्मचारियों के विरोध की पुनरावृत्ति रोकने के लिए बाबू जी ने अब मद्य-निषेध को अपनाया था।

कुछ सामान खरीदने के लिए एक दिन बाबू जी शशि को अपने साथ लेकर बाज़ार गए। सामान खरीदने के बाद एक होटल में उन्होंने प्रवेश किया। नौकर आकर सामने खड़ा हो गया। बोला :

"क्या लाऊं, हूजूर ?"

"चाय लाओ,—दो कप," बाबू जी ने कहा और फिर तुरत ही शशि से पूछा, "तुम चाहो तो बीयर से भी तुम अपनी मुर्दनी छांट सकते हो !"

"न मेरी चाय से दुश्मनी है, न बीयर से," शशि ने कहा, "जो भी आप चाहें, मँगा सकते हैं।"

बाबू जी ने अपने लिए चाय और शशि के लिए बीयर का आडर दिया। बाबू जी के इस गंगा-जमुनी आर्डर को सुनकर शशि चुप रहा। बाबू जी भी चुपचाप शशि को देखते रहे। इतने में चाय भी आ गई और बीयर भी। शशि ने बीयर का गिलास उठाते हुए कहा :

"चाहिए तो यह था कि आप के 'ऑनर' में इस गिलास को ज़मीन पर पटक कर मैं भी अपने जीवन का नया परिच्छेद शुरू करता। लेकिन नहीं, इतनी सी बात के लिए मैं इस भरे-हुए गिलास का अपमान नहीं

करूँगा।"

परिवर्तित व्यक्तित्व और उनकी बातों का किस हद तक शशि पर प्रभाव पड़ रहा है, यह जानने के लिए बाबू जी जब तक शशि को बीयर और ह्विस्की का निमंत्रण देते और शशि ने मानो यह निश्चय कर लिया था कि जब कभी इस तरह का निमंत्रण सामने आएगा, वह कभी अस्वीकार नहीं करेगा। मद्य-निषेध के इन प्रयोगों के बाद बाबूजी शशि को जो व्याख्यान देते, उन्हें शशि बड़े ध्यान से सुनता।

"यहाँ से जाने के बाद तुम चाहे जो करना," अपने वक्तव्य को सम्पूर्ण करते हुए बाबू जी कहते, "लेकिन जब तक तुम यहाँ हो, तब तक तुम्हें कार्यालय के नियमों का पालन करना होगा। यह तो मैं जानता हूँ कि नशे ने तुम्हें पकड़ नहीं लिया है, लेकिन अभी भी उसका कुछ मोह तुम में बाकी है। मेरे यहाँ रहने के लिए उस मोह को भी तुम्हें छोड़ना होगा।"

बहुत दिनों के बाद, बाबू जी के यहाँ आने पर ही, शशि का यह मोह फिर से जाग्रत हुआ था। बाबू जी की बातें सुनकर शशि के ओठों पर अनायास ही मुस्कराहट खेल जाती। पैसे के आवागमन पर जिस प्रकार बाबू जी का काबू नहीं था, उसी प्रकार शशि की मुस्कराहट भी बे-काबू हो गई थी। तभी बाबू जी कहते :

"तुम्हारी मुस्कराहट में मात्सर्य की गंध आती है। मैं कहता हूँ कि इसे छोड़ दो। अन्यथा यह तुम्हें कभी सामाजिक जन्तु नहीं बनने देगी!"

: ७ :

बाबू जी के शब्दों में शशि का दृष्टिकोण पदार्थवादी हो गया था, हालांकि अनेक पदार्थों का—कहें कि सभी पदार्थों का—उसके जीवन में अभाव था। और शशि यह जानता और अनुभव करता था कि जिन पदार्थों की उसके जीवन में कमी है, उनकी पूर्ति किसी भी प्रकार के दृष्टिकोण से नहीं हो सकती। दृष्टिकोणों के फेर में न पड़कर इन पदार्थों के अभाव की पूर्ति—जहाँ तक भी सम्भव हो—करने के लिए उसने बाबू जी के यहाँ नौकरी की थी। लेकिन बाबू जी यह सब नहीं देखते और शशि के दृष्टिकोण

में परिवर्तन करने के अपने प्रयत्नों में जुटे रहते।

शशि के माथे पर पदार्थवादी दृष्टिकोण का लेबुल चिपकाने का श्रेय भी बाबू जी को ही प्राप्त था। बाबू जी के यहाँ आने से पूर्व वह यह भी नहीं जानता था कि इस नाम का कोई दृष्टिकोण होता है। वह अपने जीवन के अभावों की शिकायत करने के लिए बाबू जी के पास जाता। बाबू जी उसे मुंह खोलने का अवसर तक न देते और इधर-उधर की बातें करने लगते। शशि की कुछ समझ में न आता कि बाबू जी क्या कह रहे हैं—समझने का प्रयत्न भी वह नहीं करता था। बाबू जी के सामने चुपचाप बैठ कर वह इसी ताक में रहता कि कब वह चुप हों और कब वह बात कहे। अपनी बात को कहने का अवसर पाते ही शशि अपने जीवन के अभावों का परिचय देना शुरू कर देता।

बाबू जी जब देखते कि उनकी बातों का शशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, तब कहते : "तुम्हारा दृष्टिकोण तो पदार्थवादी हो गया है !"

धीरे-धीरे शशि ने बाबू जी की बातों को पकड़ना और समझना शुरू किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, शशि का यह विश्वास दृढ़ होता गया कि जीवन के अभावों की अभिव्यक्ति को इधर-उधर की बातों में टालने के लिए बाबू जी यह सब बातें करते हैं। जीवन के अभावों की ओर वह देखना तक नहीं चाहते और जहाँ तक बने अपने कर्मचारियों से इसी स्थिति में काम कराए जाना चाहते हैं।

"धर्म का सहारा जो अब बाबू जी ने लिया है, वह भी इसीलिए," शशि एक दिन सोचने लगा, "ठीक ही है, अभावों से ग्रस्त कर्मचारियों से काम कराने और उनके विरोध को स्थगित करने में जितनी अधिक सहायता धर्म कर सकता है, उतनी और कोई नहीं।"

स्ट्राइक आदि के रूप में प्रेस के कर्मचारियों ने बाबू जी के विरुद्ध जो प्रदर्शन किया था, उसका कारण बाबू जी अपने व्यक्तिगत जीवन का पतन समझते थे। यदि वह शराब न पीते होते तो विरोधी प्रदर्शन का नम्बर न आता और अब, उस तरह के प्रदर्शनों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए, बजाये

इसके कि कर्मचारियों के जीवन के अभावों की ओर वह ध्यान दें, अपने व्यक्तित्व को धार्मिक ढाँचे में ढालना शुरू कर दिया था।

शशि जब कभी बाबूजी का विरोध करने का प्रयत्न करता तो बाबू जी कहते :

"तुम्हारा दृष्टिकोण तो पदार्थवादी हो गया है। मुर्दों का, उन लोगों का दृष्टिकोण है, जिनके निकट आत्मिक उन्नति का कोई अर्थ नहीं होता। आज न सही, लेकिन एक दिन आएगा जब तुम मेरी बात के निहित सत्य का अनुभव करोगे।"

शशि को निरुत्तर अथवा उसकी बात को सुन-अनसुनी करने के लिए बाबूजी पदार्थवादी दृष्टिकोण के साथ आत्मिक उन्नति को लपेट कर शशि के सामने खड़ा कर देते। वह जैसे कहते प्रतीत होते कि शशि का दृष्टिकोण यदि पदार्थ-वादी न होता तो उसे—अथवा प्रेस के अन्य कर्मचारियों को—भूख न लगती, जिन अभावों ने आज उनके जीवन को ग्रस रखा है, वे सब भी न रहते!

"पेट की आग को आप ज़रा भी नहीं देखते—शायद देखना नहीं चाहते," शशि कहता, "लेकिन यह निश्चित है कि भूखे आदमी के सामने यदि स्वयं भगवान् भी आएँ तो वह अपनी कण्ठी-माला एक ओर पटक देगा और उन्हें भी रोटी समझ, उदरस्थ कर जाना चाहेगा!"

मद्य-निषेध के गंगा जमुनी प्रयोग चल ही रहे थे। खुद तो बाबू जी नहीं पीते थे, लेकिन शशि को पिलाते थे—यह देखने के लिए कि मद्य-निषेध की ओर वह कुछ अग्रसर हो रहा है अथवा नहीं। पतित बहिनों के उद्धार के लिए भी उन्होंने एक योजना तैयार कर रखी थी। अपनी इस योजना को आगे बढ़ाने के लिए एक पतित बहिन को भी उन्होंने चुन लिया था। एक उसी के यहाँ अब बाबू जी कभी-कभी जाते थे, अन्यथा घुंघरुओं की झंकार वाला जीवन वह छोड़ चुके थे।

"तुम उसे देखोगे तो चकित रह जाओगे," बाबूजी कहते, "वह इतनी सौम्य और शुभ्र है कि एकाएक विश्वास नहीं होता, वह वेश्या हो सकती

है।"

उसकी विशेषताओं का परिचय अनेक बार शशि को बाबू जी दे चुके थे। उसके प्रति शशि में एक प्रकार का कौतुक और कुछ उत्सुकता भी उत्पन्न हो चुकी थी। आखिर वह दिन भी आया जब बाबू जी शशि को अपने साथ लेकर उसके यहाँ गए।

शशि ने उसे देखा और उलझ कर रह गया। उन स्त्रियों में से वह थी जिन्हें देखकर एकाएक कुछ धोखा-सा हो जाता है कि इन्हें हमने पहले कहीं देखा है,—न-जाने कब से चले आए परिचय का आभास जिनके चेहरे पर झलकता रहता है। शशि के साथ भी ऐसा ही हुआ और वह अपने पूर्व-को चेतन करने का प्रयत्न करने लगा।

"आपके मित्र बहुत शान्त मालूम पड़ते हैं" एकाएक उसने कहा और फिर शशि को सम्बोधित कर कहने लगी, "देखिए, शुभ घड़ी और शुभ मुहुर्त देखकर अपनी शान्ति को भंग कीजिएगा। ऐसा न हो कि कोई अनर्थ हो जाए!"

शान्ति—शशि इस शब्द पर अटक कर रह गया। बीते जीवन की स्मृति ने भी साथ दिया। सचमुच में वह शान्ति ही थी,—वही शान्ति, आश्रमी जीवन में जिसका परिचय पाने का सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य शशि को प्राप्त हुआ था, घर की ओर चलते हुए शशि ने बाबूजी से पूछा:

"उसका नाम क्या है?"

"शान्ति," बाबूजी ने उत्तर दिया और उसके बारे में शशि की राय जानने के लिए चुप हो गए।

बाबूजी के मुँह से कोई दूसरा नाम सुनने की शशि आशा कर रहा था। वह कुछ इस तरह की बात सोच रहा था कि वेश्या होने के बाद शान्ति ने अपना नाम बदल लिया होगा। लेकिन शान्ति ने ऐसा नहीं किया था। अपने मूल नाम को इस रूप में भी व जैसा-का-तैसा बनाए थी।

शशि की आँखों के सामने आश्रमी जीवन का वह दृश्य घूम गया जबकि उसने, पहले पहल, शान्ति का प्रथम दर्शन किया था। स्वयं सेवक को

सामने खड़ा करके वह ट्रेन कर रही थी कि बहिन न कह कर देवी जी वह उन्हें कहा करे।

"बहिन जी से देवी जी और देवी जी से......"

शशि सोच रहा था कि तभी बाबू जी का स्वर सुनाई दिया :

"क्यों, क्या सोच रहे हो ?"

"आपकी शान्ति के बारे में ही मैं सोच रहा था," शशि ने कहा, "मुझ से कहती थी कि शुभ मुहुर्त और शुभ घड़ी देखकर अपनी शान्ति भंग करना। अपनी शान्ति को सुरक्षित रखते हुए दूसरों की शान्ति भंग करने की कला में वह विशेष रूप से दक्ष मालूम होती है !"

"यही तो उसमें विशेषता है," किञ्चित उत्साहित स्वर में बाबू जी ने कहा, "मुझे तो आश्चर्य होता है कि वेश्या होते हुए भी अपनी आत्मा को सुरक्षित तथा निर्मल रखने में किस प्रकार वह सफल हो सकी है। अपने कुछ मित्रों से भी शान्ति की इस विशेषता का मैंने जिक्र किया था। उन्हें इसका विश्वास नहीं हुआ। लेकिन अन्त में उन्हें भी शान्ति के सामने हार माननी पड़ी और कोरा मुँह लेकर उन्हें शान्ति के दरवाजे से लौटना पड़ा।"

पहली बार शशि बाबू जी के साथ शान्ति के यहाँ गया। दूसरी बार शुभ घड़ी और शुभ मुहूर्त्त देखकर वह अकेला ही शान्ति के यहाँ पहुँचा। प्रारम्भिक शिष्टाचार के बाद शान्ति ने शशि से पूछा :

"आजकल तुम क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं तुम्हारे बाबू जी के यहाँ काम कर रहा हूँ," शशि ने उत्तर दिया।

"बाबू जी भी विचित्र आदमी हैं," शान्ति ने कहा, "वेश्या होते हुए भी जो मुझमें कुछ शराफत बाकी हैं अथवा यह कहिए कि शरीफ होते हुए भी जो मैं वेश्या बन गई हूँ, मेरी इस विशेषता पर वह बहुत मुग्ध हैं और", शान्ति के स्वर में व्यंग का पुट कुछ मिल चला, "मेरी इस शराफत को लेकर, अपने मित्रों के साथ जब-तब वह जुआ भी खेलते रहते हैं।"

"जुआ कैसा ?" शान्ति की बात सुनकर शशि के हृदय में जिज्ञासा

जाग्रत हो उठी।

"जुआ यह कि बाबू जी कहते हैं—मैं वेश्या होते हुए भी वेश्या नहीं, और उनके मित्र इस बात पर जोर देते हैं कि वेश्या की शराफत भी वेश्या-जीवन के अनेक दिखावटी हथियारों में से एक है। दोनों पक्ष अपनी-अपनी बात को सिद्ध करने के लिए शर्त बदते हैं और इसके बाद हार-जीत का एक अच्छा खासा खेल चलता है।"

आश्रमी जीवन को छोड़े हुए बहुत दिन हो गए थे। शान्ति से भेंट भी बहुत दिनों बाद हुई थी। बीच में जो अन्तर पड़ गया था, उसे भरने के लिए शशि उत्सुक था। लेकिन उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अपनी बात को किस प्रकार वह शुरू करे।

"तुम तो जानते ही हो शशि", शान्ति ने स्वयं ही कहना शुरू किया, "इससे पहले भी मेरी शराफत को लेकर एक खेल और हो चुका है। बहुत दिनों के बाद शराफत के इस खेल में कुछ रस लेने योग्य मैं अपने आपको बना सकी हूँ।"

राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में शान्ति की शराफत के साथ यह खेल शुरू हुआ था। इस खेल को आगे बढ़ाने वाले पात्र थे—स्वयं शान्ति, उसका गर्भस्थ शिशु और श्रीनाथ नाम के एक नेता। श्रीनाथ विवाहित थे और एक लड़के के पिता भी वह बन चुके थे। शान्ति को माँ तो उन्होंने बना दिया था, लेकिन उसे पत्नी बना सकना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका।

सरकार का विरोध करने के लिए धरना-आदि के जिन उपायों का प्रयोग शान्ति राष्ट्रीय आन्दोन में कर चुकी थी, उन्हीं का प्रयोग शान्ति ने श्रीनाथ के विरूद्ध भी किया। उनके घर पर जाकर उसने धरना देना शुरू कर दिया। एक जटिल समस्या श्रीनाथ के सामने उपस्थित हो गई।

नतीजा इसका यह कि बात को छिपाकर रखना अब सम्भव नहीं रहा। आखिर श्रीनाथ ने अपनी पत्नी से जाकर पूछा :

"तुम्हारी सहमति के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। घर के दरवाजे

पर जो यह रोज धरना चलता है, इसे किसी-न-किसी तरह समाप्त करना होगा।"

"तुमने ही यह सब शुरू किया है, तुम्हीं जानो!" पत्नी संक्षिप्त-सा उत्तर देकर चुप हो गई। फिर कुछ क्षण रुककर उसने कहा, "जो उचित समझो, वह करो—चाहो तो उसे घर में भी डाल सकते हो। लेकिन एक बात निश्चित है, तुम्हारा सही उत्तराधिकारी मेरा लड़का ही होगा।"

रोटी-कपड़े का प्रबन्ध करने के लिए पत्नी तैयार हो गई, लेकिन शांति ने जो श्रीनाथ के दरवाजे पर धरना देना शुरू किया था, वह रोटी कपड़े की भीख माँगने के लिए नहीं। अपनी चिन्ता शान्ति को अधिक नहीं थी, लेकिन अपने नाजायज़ पुत्र को जायज़ अधिकार वह अवश्य दिलाना चाहती थी।

"तुम पेड़ गिनना चाहती हो और मैं तुम्हें आम देना चाहता हूँ," शान्ति के प्रयत्नों और आशाओं पर तुषारपात करते हुए श्रीनाथ ने अन्तिम निर्णय दिया, "तुम्हारे रोटी कपड़े का प्रबन्ध मैं कर सकता हूँ। चाहो तो शिशु के लालन-पालन के लिए भी मैं कुछ रुपया दे सकता हूँ। इससे अधिक मैं कुछ नहीं कर सकता।"

पहली बार बाबू जी के साथ जब शशि शान्ति के यहाँ गया तो वह बाहर के कमरे में बैठा था। शान्ति का वह खुला कमरा था। अपनी रुचि से अधिक आने वालों की रुचि और सुविधा का ध्यान रखकर शान्ति ने उस कमरे को सजाया था। लेकिन शशि जब अकेला गया तो शान्ति उसे दूसरे कमरे में—जो पहले कमरे से लम्बाई-चौड़ाई में आधा था—ले गई। शान्ति के ही शब्दों में— "बनावट और दिखावटी चहल-पहल से जब तबीयत ऊब जाती है तो यहाँ आकर मैं शान्ति का साँस लेती हूँ!"

इस कमरे में दो चित्र लगे थे। एक गांधी जी का, दूसरा भारतमाता का। चटाई बिछी एक चौकी पर शान्ति और शशि बैठे थे। बराबर में गांधी जी की जीवनी 'सत्य के प्रयोग' और एक तकली रखी थी। शशि के कान शान्ति की बातों की ओर लगे थे और आँखें टिकी थीं गांधी जी के

चित्र पर। गेंदे के फूलों का एक हार भी चित्र के चौखटे पर लटक रहा था। उसके सब फूल सूख और मुरझा गये थे।

"उधर इतने ध्यान से क्या देख रहे हो?" अपनी बात के मूल सूत्र को छोड़ शान्ति ने एकाएक पूछा।

"कुछ नहीं," शशि ने कहा, "मैं सोच रहा था कि हार बिल्कुल सूख गया है। इसे बदल दिया जाता तो अच्छा होता।"

"आश्चर्य है, अब तक मेरा ध्यान कभी इस हार की ओर नहीं गया। लेकिन इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं," एक बार गांधी जी और दूसरी बार भारत माता के चित्र की ओर देखते हुए शान्ति ने कहा, "इन दोनों चित्रों का मेरे जीवन में एक ऐतिहासिक स्थान है।"

राष्ट्रीय उत्थान के दिनों में इन्हीं चित्रों के सामने शान्ति ने प्रतिज्ञा की थी—जब तक स्वराज्य नहीं मिल जाएगा, वह किसी से विवाह नहीं करेगी! प्रभु की दीवानी मीरा की भांति उसने चिर कुमारी रहकर राष्ट्र-पिता की सेवा करने का व्रत लिया था। श्रीनाथ-द्वारा ठुकराये जाने पर जब उसकी आँखों के आगे अंधेरा घना हो चला तो प्रकाश की किरण देखने के लिए इन्हीं चित्रों के सामने वह घुटने टेक कर प्रार्थना करती थी और आज वेश्या बन जाने पर, अपनी आत्मा की रक्षा करने की प्रेरणा भी उसे इन्हीं चित्रों से प्राप्त होती थी।

राजनीतिक क्षेत्र में श्रीनाथ के एक प्रतिद्वन्दी नेता भी शान्ति की ओर आकर्षित हुए। उन्होंने सोचा कि शान्ति को लेकर श्रीनाथ को अप-दस्थ किया जा सकता है। शान्ति को भी एक ऐसे सहारे की आवश्यकता थी—यदि और किसी लिये नहीं तो श्रीनाथ का विरोध दूर करने के लिए ही। श्रीनाथ का विरोध करते करते शान्ति और वह एक सूत्र में बँध गये।

प्रतिद्वन्दी नेता का नाम था श्रीधर। शान्ति को पत्नी के रूप में उन्होंने स्वीकार किया। कहने लगे:

"तुम्हारा हाथ योंही क्षणिक आवेश में आकर मैंने नहीं पकड़ा है।

चाहो तो सात फेरों का सामाजिक प्रदर्शन भी किया जा सकता है। वैसे मैं इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझता।"

श्रीनाथ का विरोध करते समय श्रीधर को पहचानने और निकट से देखने का अवसर शान्ति को नहीं मिला था। लेकिन बाद में, एक घर में एक साथ रहने पर, बरतन खड़कने लगे। गांधी जी और भारतमाता के चित्रों को भी शान्ति अपने साथ-साथ श्रीधर के यहाँ लेती गई थी। श्रीधर ने दोनों चित्रों को आमने-सामने की दीवारों पर अपने शयन-कक्ष में लगा दिया— एक चित्र सिरहाने पड़ता था और दूसरा पायताने।

"यह नहीं हो सकता," शान्ति विरोध करते हुए कहती, "इन चित्रों के लिए यह कोई उपयुक्त स्थान नहीं है।"

"मैं चाहता हूँ कि मेरी, अथवा तुम्हारी, सन्तान भी इतनी ही महान् हो," श्रीधर कहता, "इसलिए इन चित्रों का सबसे उपयुक्त स्थान यही है। सामने रहने से इनका ध्यान बना रहेगा और गर्भस्थ शिशु पर............"

शान्ति अपना हाथ बढ़ाकर श्रीधर का मुँह बन्द कर देती और फिर फूट-फूट कर रोने लगती। कभी-कभी बात और भी आगे बढ़ जाती, और श्रीधर काफी कटु हो उठता। शान्ति को झकझोर डालने वाले शब्दों में कहता:

"यह चित्र यहीं, इसी शयनकक्ष में रहेंगे। इनके लिए अपने घर में एक मन्दिर खोलने मैं नहीं जा रहा हूँ।"

कुछ और आगे बढ़कर श्रीधर का स्वर तेज हो चलता, "मैं जानता हूँ तुम्हें भी और तुम्हारे गांधी जी को भी। वो क्या कुछ कम थे? पिता जी उनके मृत्यु-शैया पर पड़े थे और वह खुद अपनी पत्नी के साथ रंगरलियाँ मना रहे थे!"

"वेश्या होने के बाद अनेक भले-बुरे व्यक्तियों से मेरा वास्ता पड़ा है," श्रीधर के बारे में अपनी सम्मति व्यक्त करते हुये शान्ति ने कहा, "लेकिन उससे अधिक पतित मनुष्य मैंने आज तक नहीं देखा!"

शशि चुप था। शान्ति को लेकर श्रीनाथ की पत्नी ने जो दो टूक बात कही थी, उसी से उलझ कर वह रह गया था। श्रीनाथ की पत्नी ने कहा था— "चाहो तो तुम उसे, अर्थात् शान्ति को, घर में भी डाल सकते हो। लेकिन एक बात निश्चित है, तुम्हारा सही उत्तराधिकारी मेरा ही लड़का होगा।"

"श्रीनाथ, श्रीधर और तुम्हारे बाबू जी," मानो अपने जीवन का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए शान्ति कह रही थी, "यही मेरे जीवन के ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। इनके सहारे मैंने तीन-त्रिलोक के दर्शन किए हैं।"

एकाएक शशि को पतित बहिनों के उद्धार की बात याद हो आई। उसने शान्ति से पूछा, "सुनता हूँ, तुम फिर नेतृत्व करने जा रही हो। बाबू जी ने तुम्हारे लिए एक योजना भी तैयार कर ली है।"

"बाबू जी की योजना," शान्ति ने कहा, "वह कुछ नहीं। यहाँ आने के लिए एक भला-सा बहाना उन्होंने खोज लिया है। भले आदमी बुरा काम भी भले ढङ्ग से ही करते हैं।"

"पतित बहिनों के उद्धार में तुम्हारा विश्वास नहीं है?" शशि ने फिर पूछा।

"विश्वास—इस सम्बन्ध में मैंने कभी नहीं सोचा। बहिनों के उद्धार के लिए मैं ज़रा भी चिन्तित नहीं हूँ," शान्ति ने कहा, "हाँ, पतित भाइयों का उद्धार मैं अवश्य करना चाहती हूँ— उन भाइयों का जो अपनी पत्नी की शराफत को छोड़ मेरी शराफत पर मुग्ध होने के लिए यहाँ आते हैं!"

शान्ति के इस उत्तर ने शशि को स्तब्ध तो कर दिया, पर इस उत्तर से वह प्रभावित नहीं हो सका। इस तरह का उत्तर पाने के लिए वह तैयार भी नहीं था। वह सोचने लगा—बाबू जी पतित बहिनों का उद्धार करना चाहते हैं, शान्ति पतित भाइयों का उद्धार करना चाहती है, और इन दोनों में जैसे जन्म-जन्मान्तर से चोली-दामन का साथ चला आ

रहा है।

"श्रीनाथ की पत्नी की बात तुम नहीं भूली होगी," शशि ने कहा, "अपने लड़के के उत्तराधिकार को सुरक्षित रखने के लिए ही उसने तुम्हारा तिरस्कार किया, और जैसे छिन्न-नाल होकर तुम धूल में जा पड़ीं।"

"हाँ याद है," शान्ति ने कहा, उसके उत्तर को मैं कभी नहीं भूल सकती।"

"ठीक है," शशि ने कहा, उसका उत्तर जो तुम्हें आज तक याद है, वह केवल इसलिए कि तुम्हें और तुम्हारे गर्भस्थ शिशु को उस उत्तर के कारण तीन-तेरह हो जाना पड़ा। यदि ऐसा न होता तो शायद उस ओर तुम्हारा ध्यान भी न जाता।"

शान्ति शशि की बात चुपचाप सुन रही थी। कुछ क्षण रुक कर शशि ने फिर कहा :

"मैं चाहता हूँ कि उस उत्तर को तुम जरा तटस्थ दृष्टि से देखो। उदाहरण के लिए पतित बहिनों अथवा पतित भाइयों के उद्धार के आन्दोलन को ही लो", शशि का स्वर कुछ तेज़ हो चला, "इस तरह के आन्दोलनों के मूल में भी वही उत्तर काम कर रहा है।"

बाबू जी की ही बात को, किञ्चित परिवर्तित रूप में, शशि शान्ति के सामने दोहरा रहा था। मद्य-निषेध की ओर शशि को आकर्षित करने के लिए एक दिन बाबू जी ने उससे कहा था :

"आश्चर्य है, इतनी सीधी बात भी तुम नहीं समझते। कल्पना करो कि अपना काम बढ़ाने के लिए मैं कलकत्ता अथवा बम्बई में कार्यालय की शाखाएं खोलता हूँ, और इनमें से एक का इन्चार्ज बनकर मैं तुम्हें भेजता हूँ। शाखा का सम्पूर्ण भार तुम्ही पर रहेगा, और रुपये का सारा लेन-देन भी तुम्हारे द्वारा ही होगा। अपना प्रमुख काम न देखकर अब यदि तुमने इधर-उधर घूमना और पीना-पिलाना शुरू कर दिया तो..........."

"देखती हो शान्ति," शशि ने कहा, "तुम लोगों के उद्धार के लिए नहीं, वरन् पैतृक-अपैतृक सम्पत्ति के उद्धार के लिए इस तरह के आन्दोलन चलते हैं। अपने शरीर को बेचकर जो तुम लोग थोड़ा बहुत पैसा पा जाती हो, वह भी इन लोगों को बरदाश्त नहीं!"

बाबूजी और शान्ति में शशि को एक विचित्र साम्य दिखाई पड़ता था। बाबूजी पैसे पर प्रभुत्व पाना चाहते थे—जीवन में कुछ करने के लिए। एक भले-से उद्देश्य को बाबूजी ने अपने सामने रख लिया था। शान्ति का वेश्या जीवन भी निरुद्देश्य नहीं था—जीवन में कुछ करने लिए ही जैसे वह भी वेश्या बनी थी।

दो कमरों में शान्ति का जीवन विभाजित हो गया था। बाहर वाले कमरे की तुलना वह अपने नश्वर शरीर से करती थी और भीतर वाले कमरे की आत्मा से और इन दोनों को एक दूसरे से अलग करके वह देखती थी। नश्वर शरीर को लेकर वह चिन्तित नहीं होती थी। मानो वेश्या हो जाने के बाद भी उसकी आत्मा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। खण्डित शरीर में अखण्डित आत्मा जैसे निवास कर रही थी। शान्ति की बातें सुन कर ऐसा मालूम होता था मानो आत्मिक उन्नति का पाठ बाबूजी ने भी उसी के यहाँ आने पर पढ़ा हो!

"नश्वर शरीर की तुम्हें चिन्ता नहीं हैं," शशि कह रहा था, "लेकिन इस नश्वर शरीर के सहारे ही तुम लोगों का जीवन चलता है। अभी तुम इस नश्वर शरीर के महत्व को नहीं समझ पातीं, लेकिन यह शरीर जब शिथिल हो चलेगा, इसका रूप रंग जब फीका पड़ जाएगा, उस समय इस नश्वर शरीर के मूल्य का तुम अनुभव करोगी। पेट की आग से तुम अभी परिचित नहीं हो, इसीलिए यह सब बातें तुम्हें सूझती हैं!"

"रूप और यौवन मेरे पास न पहले कभी था और न आज है," शान्ति ने कहा, "रूप और यौवन के भूखे मेरे यहाँ आते भी नहीं हैं। तुमने जो आशङ्का भरा चित्र मेरे सामने रखा है, उसकी चिन्ता उन्हीं को हो सकती है जो रूप और यौवन की नश्वर पूंजी के सहारे अपनी हाट लगाए बैठी

हैं !"

शशि को सहसा बाबूजी की बात याद हो आई। शान्ति का परिचय देते हुए उन्होंने कहा था :

"तुम उसे देखोगे तो चकित रह जाओगे। उसे देखकर एकाएक विश्वास नहीं होता कि वह वेश्या हो सकती है।"

"लेकिन," शशि सोच रहा था, "शान्ति की इस विशेषता ने ही तो उसे एक सफल वेश्या बना रखा है,—रूप और यौवन की पूँजी के सहारे अपने जीवन की हाट लगानेवाली वेश्याओं से भी कहीं अधिक सफल !"

स्थिति के इस पहलू को शशि ने शान्ति के सामने उभार कर रखा, लेकिन शान्ति ने उसकी बात नहीं सुनी। वह जैसे दूसरे लोक में पहुँच गई थी। एकाएक शशि शान्ति का स्वर सुनकर चौंक पड़ा। वह कह रही थी :

"कोतवाल का तुम्हें कुछ ध्यान है, शशि ?"

शान्ति के पीछे कोतवाल को शशि भूल गया था,—अथवा कहिये कि उसकी स्मृति को किसी और दिन के लिये शशि ने स्थगित कर दिया था। शान्ति के मुँह से अपने जीवन की प्रियतम स्मृतियों में से एक का उल्लेख सुन शशि उत्साहित हो उठा। तुरंत ही उसने कहा :

"कोतवाल को जिसने देखा है, वह उसे नहीं भूल सकता।"

"कितना विरोध करती थी मैं उसका," शान्ति कह रही थी, "आगे चल कर मेरा यह विरोध ईर्ष्या और द्वेष में परिणत हो गया। उसके लिए मेरे हृदय में जैसे एक भी शुभ कामना शेष नहीं थी।"

कुछ क्षण रुक कर शान्ति ने फिर कहना शुरू किया :

"सब कुछ होते हुए भी भाग्य की वह अच्छी थी। अच्छा घर और अच्छा पति उसे मिला। लेकिन मुझे उसका सुहाग ज़रा भी नहीं सुहाता। तुम्हें आश्चर्य होगा, शशि," शान्ति का स्वर अपेक्षाकृत भारी हो चला, "उसके पति की मृत्यु-कामना तक मैं करती थी।"

एक ही स्वर में, स्थिर भाव से, कुछ कह सकना शान्ति के लिए जैसे

सम्भव नहीं था। कुछ क्षण वह फिर रुकी और जैसे अपने स्वर को बटोर कर उसने कहना शुरू किया,

"उसके पति को लेकर मैं मृत्यु-कामना करने लगी। लेकिन हुआ इसका बिलकुल उलटा। साल-भर के भीतर कोतवाल की मृत्यु हो गई।"

"कोतवाल की मृत्यु हो गई!" शान्ति के शब्द, अनायास ही, शशि के हृदय में प्रतिध्वनित हो उठे।

"हाँ, उसकी मृत्यु हो गयी। बालक होने के समय, प्रसूति-गृह में, उसके प्राण पखेरू उड़ गए। कभी कभी मुझे लगता है," शान्ति का स्वर जैसे घुटने टेक कर बैठ जाना चाहता था, "उसकी मृत्यु का कारण मैं ही हूँ, और उसका प्रायश्चित करने के लिए ही मुझे आज वेश्या बनना पड़ा है!" शान्ति के यहाँ फिर कभी न जाने का निश्चय कर शशि वहाँ से लौट आया। शान्ति की नहीं, जैसे मृत्यु की छाया वहाँ शशि को मण्डराती मालूम होती थी। बाबूजी ने भी कई बार कहा, लेकिन शशि ने कोई ध्यान नहीं दिया। आत्मिक उन्नति और जीवन में कुछ करने की बातें भी शशि को अब अच्छी नहीं लगती थी। न-केवल इतना ही वरन् निश्चित और स्पष्ट शब्दों में वह अब बाबूजी का विरोध करने लगा था।

बाबूजी भी शशि से निराश हो चले। वह यह तक न चाहते कि शशि उनके कार्यालय में अधिक दिनों तक बना रहे। अब तक जो उन्होंने शशि को अलग नहीं किया, इसका कारण सिवा इसके और कुछ नहीं था कि कोई भला सा बहाना उन्हें अब तक नहीं मिल सका था।

आखिर वह दिन भी आया जब किसी भले से बहाने की प्रतीक्षा में रुके रहना उनके लिए सम्भव नहीं रहा। शशि को बुला कर उन्होंने कहा :

"हर तरह से प्रयत्न करके मैंने देख लिया और अब मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मेरे और आपके दृष्टिकोण का मेल नहीं हो सकता।"

"दृष्टिकोण के न मिल सकने की आपको मुझसे अथवा अपने अन्य कर्मचारियों से जो शिकायत है," शशि ने कहा "वह सही हो सकती है। लेकिन आपके कर्मचारियों को क्या-क्या नहीं मिलता, कभी इसका……"

बाबू जी की मेज़ पर रखी घंटी सहसा बज उठी। शशि की बात अधूरी रह गई। घण्टी की आवाज़ सुन बूढ़ा चपरासी कमर झुकाए सामने आ खड़ा हुआ और आँखें मिच मिचाकर बाबू जी की ओर देखने लगा। उसे सम्बोधित करते हुए बाबू जी ने कहा :

"बाबू लक्ष्मीधर को बुला लाओ।"

लक्ष्मीधर के आने पर बाबू जी ने कहा :

"शशि बाबू का स्वास्थ्य यहाँ ठीक नहीं रहता। इसलिए आप छुट्टी लेकर घर जा रहे हैं। इनका आज तक का हिसाब तैयार कर लाओ।" हिसाब चुकता हो जाने के बाद बाबू जी ने नौकर को बाजार भेजकर एक कच्चा नारियल मंगाया। नारियल को शशि की ओर बढ़ाते हुए बोले :

"तुम्हारी जीवन-यात्रा शुभ हो और अपने जीवन में कोई रचनात्मक काम तुम कर सको, यही मेरी कामना है।"

शशि ने नारियल ले लिया। बाबू जी को उसने अन्तिम नमस्कार किया और फिर अपने दोनों हाथों में नारियल को घुमाते हुए, गुनगुने से स्वर में सहसा वह उठा :

"प्रभु जी मोरे.........."

"अवगुण चित्त न धरो !" बाबू जी ने अधूरे पद को पूरा किया और फिर जैसे अपनी इस पूर्ति पर, स्वयं ही, कुछ अप्रतिभ से होकर रह गए।

शशि के ओठों पर उसकी वही मुस्कराहट खेल चली जो उसे, बाबू जी की मानवी परिभाषा के अनुसार, कभी सामाजिक जन्तु नहीं बनने देगी !

: ८ :

शशि समझ यह रहा था कि ठीक घर का रास्ता उसने पकड़ा है, लेकिन वास्तव में जा रहा था वह दूसरी ओर। जिस सड़क पर वह चल रहा था, वह उसके घर की ओर नहीं, वरन् उसके घर से विपरीत दिशा में जाती थी। उसके घर से ही क्यों, वरन् सम्पूर्ण नगर-निवासियों के घरों से विपरीत दिशा को जाती थी।

नगर और समाज तथा जीवन की चहल-पहल से दूर जंगल की ओर वह सड़क जाती थी। लेकिन शशि को जैसे इसका पता नहीं था और वह समझ यही रहा था कि अपने घर की ओर वह जा रहा है। स्वयं वह नहीं” मानों कोई अदृश्य शक्ति उसके पावों को विपरीत दिशा में ले जा रही थी।

अनेक बार शशि के साथ ऐसा हो चुका था। सिनेमा देखने के बाद, पहले भी, शशि की मनस्थिति उस तरह उसे धोखा दे चुकी थी। नगर के बीचों बीच, प्रमुख राह पर वह सिनेमा-भवन था। खेल के समाप्त होने पर वह सिनेमा-भवन से बाहर निकलता और चल पड़ता। समझता वह यही था कि घर की ओर जा रहा है। घण्टों तक चलते रहने पर भी उसे इसका ज्ञान नहीं होता कि घर की ओर नहीं वरन् इधर-उधर भटक रहा है!

काफी देर बाद, जैसे स्वप्न से चौंक कर, फिर वह जाग उठता। अपने आपे में आकर तब वह पहचानने का प्रयत्न करता कि किस जगह वह आ गया है। चारों ओर के मकानों, को एक ही नज़र में उन्हें पहचानने के लिए, वह देख जाता। लेकिन कुछ पता नहीं चलता। फिर ध्यान से देखना शुरू करता और अपने घर की ओर, जैसे मार्ग को टटोल-टटोल कर वह आगे बढ़ता।

अपने घर का रास्ता भूलकर शशि अनेक बार इस तरह भटक चुका था। इसका कारण था शशि का एक अद्भुत सहज विश्वास। वह कुछ इस तरह समझता और विश्वास करता था कि चाहे जिस रास्ते से वह चले, अपने घर अवश्य पहुँच जाएगा। घर पहुँचने के मार्गों की वह कभी चिन्ता नहीं करता था। वह जैसे मानता और समझता था कि प्रत्येक रास्ता उसके घर की ओर ही जाता है। मार्गों के अन्तर पर उसकी दृष्टि न जाती। अन्तर की बात सामने आने पर हलकी सी ऊंह के साथ वह उसे टाल देता। वह जैसे कहता प्रतीत होता कि यह कुछ नहीं। अपने घर वह हर हालत में पहुँच ही जाएगा।

नौकरी छूटने के दिन भी शशि के साथ ऐसा ही हुआ। समझ वह यही रहा था कि अपने घर की ओर जा रहा है, लेकिन चल रहा था वह एक ऐसी सड़क पर जो नगर और समाज से दूर जंगल की ओर जाती थी। काफ़ी देर तक चलने के बाद शशि ने सहसा अनुभव किया कि उसके पाँव दुःख रहे हैं। एक जगह रुककर वह खड़ा हो गया। अपने चारों ओर उसने नज़र डाली,—ग्रांडट्रंक रोड सीधी चली गई थी, उस के इधर-उधर पेड़ों की पांतें और पेड़ों से परे विस्तृत मैदान, कहीं-कहीं टूटे-फूटे खण्डहर, सिर पर खुले आसमान की नीली छतरी!

सड़क को छोड़ कर शशि बराबर वाले मैदान में निकल गया। वहाँ पहुँच कर वह एक जगह बैठ गया। खुली हुई जगह थी, साँस लेने के लिए खुली हवा की भी कमी नहीं थी। लेकिन शशि उससे कोई लाभ नहीं उठा सका। उसका जी जैसे भीतर-से घुट रहा था।

एकाएक शशि की नज़र अपने हाथों की ओर गई। वह चौंक उठा। बाबूजी का दिया हुआ कच्चा नारियल वह अब तक अपने हाथों में लिए था, वह उसे घुमा-फिरा कर देखने लगा। कुछ देर देखता रहा। उसने नारियल की जटा उतारनी शुरू की—मानो नारियल की जटा नहीं, वह अपने मस्तिष्क और हृदय पर छाए धुँधलेपन को उतार कर फेंक रहा हो।

जटा के अलग हो जाने पर नारियल साफ निकल आया। बड़े ध्यान से शशि उसे देखने लगा। प्रजापति से नाराज़ होकर विश्वामित्र ने एक बार अपनी स्वतंत्र सृष्टि रचने का प्रयत्न किया था। जिन मानव-शरीरों की रचना उन्होंने की थी, उन्हीं के सिर प्रकारान्तर से नारियल बन गए थे। शशि भी उस समय कुछ ऐसा ही अनुभव कर रहा था मानो कच्चे नारियल को नहीं, वरन् किसी मानव के सिर को वह अपने हाथों में लिए हो!

बड़े ध्यान से नारियल पर बनी मानवीय आकृति के चिन्हों को देखने और उन्हें पहचानने का शशि प्रयत्न कर रहा था। दृढ़ हाथों से वह नारियल को पकड़े था। ऐसा मालूम होता था मानो नारियल न होकर बाबूजी का सिर ही उसके हाथों में आ गया हो!

पास में ही एक पत्थर पड़ा था। शशि ने एक बार पत्थर की ओर देखा, और दूसरी बार नारियल की ओर। फिर दोनों हाथों को ऊपर उठा कर, पूरे ज़ोर से, उसने नारियल को पत्थर पर दे मारा। पत्थर से टकराने पर जो आवाज़ हुई, वह शशि के अट्टहास में विलीन हो गई !

कुछ देर बाद शशि ने देखा कि उसका अट्टहास भी शून्य में जाकर खो गया है। पहले नारियल के पत्थर से टकराने की ध्वनि, फिर उसका अट्टहास, और इसके बाद फिर कुछ नहीं। चारों ओर का वातावरण पहले की तरह फिर शान्त हो गया।

शशि ने तब, जैसे स्वप्न से जाग कर, अनुभव किया कि बाबूजी का सिर नहीं, वह कच्चा नारियल ही था जो पत्थर से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया था। इससे आगे बढ़ कर यह कि कच्चा नारियल न होकर यदि वह बाबूजी का सिर होता, तब भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

कच्चे नारियल को दूसरे रूप में शशि ने इसके बाद देखना शुरू किया। बाबूजी का सिर नहीं, वरन् जिस भ्रम का वह अब तक पोषण करता आ रहा था, नारियल के रूप में वह भ्रम ही जैसे पत्थर से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया था।

कहने की जहाँ तक बात थी, शशि कहा करता कि वह बेकार है और बेकार ही वह रहेगा। यही उसका वास्तविक रूप है और इसी रूप में—अर्थात बेकार रह कर—उसे अपने जीवन की साधना करनी है। लेकिन बात वास्तव में इससे भिन्न थी और इसीलिए, बेकार होते हुए भी, बेकारों के वर्ग से वह जीवित सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका था। सच पूछा जाए तो अपनी बेकारी को भी, उसके वास्तविक रूप में, वह नहीं देख पाता था।

जेल से छूटने के बाद शशि ने जिस दुनिया में प्रवेश किया उसमें एक ओर तो त्याग-तपस्या तथा राष्ट्रीय भावनाओं के सहारे अपने व्यवसाय को आगे बढ़ाने वाले व्यवसाइयों का वर्ग था, और दूसरी ओर हृदय में त्याग तपस्या तथा राष्ट्रीयता का अभिमान लिए बेकारों का वर्ग। शशि इन दोनों वर्गों के अन्तर को— और इस अन्तर के साथ चलने वाले अन्य उपकरणों

को—या तो देख नहीं पाता था और अगर देखता भी था तो समझता कि यह अन्तर ऊपरी है, अथवा यह कि इस अन्तर के होते हुए भी वह जीवित रह सकता है और मानव-जीवन को सार्थक करने वाले अन्य कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकता है।

शशि के पास सब कुछ था, लेकिन पैसा नहीं था। पैसों के अभाव के कारणों को भी वह उनके वास्तविक रूप में नहीं देख पाता था। वह कुछ इस तरह सोचता था कि अभावों से ग्रस्त घर में जन्म न लेकर यदि उसने किसी अमीर घर में जन्म लिया होता तो ऐसा न होता।

अभावों से घिरे घर में जन्म लेने की अघट घटना का सूत्र पकड़ कर वह पैसों के अभाव की खोज-बीन करता। इस तरह सोचने पर एक बात उसके सामने आती। वह यह कि गरीब घर में जन्म लेने की जिम्मेदारी उस पर नहीं है और यह जो आकस्मिक घटना उसके जीवन में घट गई है, केवल उसकी वजह से उसे सदा अभावों में जीवन बिताना पड़े ऐसा कभी नहीं हो सकता।

यहीं से शशि के भ्रम का पोषण शुरू होता। बेकार होते हुए भी, मन-ही-मन, वह अपने को बेकार न समझता और अपने को उन्हीं लोगों के तल पर लेजाकर देखता जिन्होंने सौभाग्य से सम्पन्न घरों में जन्म लिया था।

अभावों से घिरे खुद अपने तथा सम्पन्न घरों में जिन्होंने जन्म लिया था उनके जीवन और स्थिति में जो अन्तर था, एक तरह के सहज विश्वास के सहारे शशि उसे अपनी आँखों की ओट कर देता था। बेकार होते हुए भी अपने को बेकार नहीं मानता था और समझता था कि नौकरी करते-करते एक दिन सञ्चालक के पद तक वह पहुँच जाएगा।

शशि का यह सहज विश्वास उसके हृदय में जम कर बैठ गया। इस विश्वास के सहारे अपने बेकार जीवन के अनेक कष्टों को वह पार कर जाता और दुर्दिनों के एक मात्र साथी की भांति इस विश्वास के सहारे वह अपने-आप को खड़ा रखता। लेकिन यह सहज विश्वास शशि को कष्ट सहने की क्षमता ही प्रदान करता, आगे बढ़ने की नहीं। कष्टों की मात्रा

को कम करने में भी यह विश्वास अधिक सहायता न देता।

शशि इन सब बातों को, उनके वास्तविक रूप में, नहीं देख पाता। सम्पन्न घर में जन्म न लेकर अभावों से घिरे घर में जन्म लेने की कसक उस के हृदय को कुरेदती और अपने से अलग करके जीवन की स्थिति को देखना-समझना उसके वश की बात नहीं रहती।

पैसों के अभाव की समस्या को वह एक ही रूप में देखता,—उत्तराधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के रूप में। इसके चारों ओर घूम-घाम कर ही वह रह जाता। इस समस्या को लेकर जब कभी शशि कुछ कहता तो ऐसा मालूम होता, मानो समस्या को समझने का नहीं, वरन् अपने सहज विश्वास को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हो, मानो पैसों के अभाव के कारणों को ऊपरी तथा अ-महत्वपूर्ण घोषित करने के लिये ही जैसे वह उत्तराधिकार तथा पैतृक सम्पत्ति के चारों ओर मंडरा रहा हो।

हिर-फिर कर शशि उत्तराधिकार की ही बातें करता। अथवा यह कहिये कि उसकी दृष्टि उत्तराधिकार की चट्टान से टकरा कर रह जाती। नतीजा इसका यह कि सम्पन्न घरों में जन्म लेने वाले व्यक्ति कितने सुख से अपना जीवन बिताते हैं, अपने जीवन के असन्तोष तक को कितने सन्तोष के साथ वे व्यक्त कर सकते हैं,—यही सब वह देख पाता और शशि के हृदय की कसक—असम्पन्न घर में पैदा होने के कारण जो पैदा हुई थी,—और भी तेज़ हो उठती।

इस कसक को और इस कसक के साथ चलने वाले असन्तोष को तेज़ तथा घना बनाने वाली दृष्टि ही शशि के पास थी, उसे दूर करने वाली नहीं। असन्तोष तो बढ़ता जाता, और उसके दूर होने के कोई आसार नज़र न आते। यह एक ऐसी दृष्टि थी जो असन्तोष का पोषण करती और इस असन्तोष के सहारे, जब भी और जहाँ भी उसे अवसर मिलता, अपने जीवन का व्यापार चलाना चाहती।

इसके लिये शशि ने चुना बाबू जी को जिन्हें वह पूंजीपति नहीं मानता था,—कम-से-कम इतना तो था ही कि पूंजी का उनके पास अभाव था,

और इस अभाव के कारण वह अपने कर्मचारियों को वेतन तक नहीं दे पाते थे। वेतन न मिलने के कारण शशि को कष्ट होता था, और कभी-कभी यह कष्ट सीमा भी पार कर जाता, लेकिन शशि बाबू जी को फिर भी छोड़ना नहीं चाहता। कारण यह कि वेतन न मिलने पर शशि को कष्ट तो होता, लेकिन सन्तोष का सांस लेता उस समय जब बाबूजी की सम्पन्नता का असम्पन्न रूप उसकी आंखों के सामने उभर कर आता!

बाबू जी का असम्पन्न रूप देखने के लिये शशि को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। वह सहज ही जब-तब प्रकट होता रहता। स्वयं बाबू जी भी अपनी सम्पन्नता के इस असम्पन्न रूप से परिचित थे। वह जानते थे कि योग्य व्यक्तियों को वह अपने यहाँ रख नहीं सकते, और यह कि छँटे हुए बेकारों के सहारे ही उन्हें अपना व्यवसाय चलाना है।

"आप लोगों की बेकारी को तो मैं दूर नहीं कर सकता," बाबू जी ने एक दिन कहा था, "लेकिन बेकारी को दूर करने के आप लोगों के प्रयत्नों में मैं कुछ सहायता अवश्य दे सकता हूँ। मेरे पास छापाखाना है, एक पत्र भी मैं उस से निकालता हूँ, आप लोग चाहें तो उसके द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर सकते हैं!"

शशि को बाबू जी का यह प्रस्ताव पसंद आया और उसे विश्वास था कि इस प्रस्ताव के सहारे वह बहुत कुछ कर सकेगा। लेकिन बात बनी नहीं। पत्र के रूप में विरोधी परिस्थितियों से उत्पन्न अपने और दूसरों के असन्तोष को व्यक्त करने का एक साधन ही बाबू जी ने शशि को सौंपा था, उस असन्तोष के कारणों को दूर करने का नहीं।

शशि इन बातों को नहीं देखता, यदि देखता तो उसे यह पता लगाने में कठिनाई न होती कि इस तरह बेकारी के मूल कारणों को दूर करने वाले प्रयत्नों को आगे बढ़ाने में नहीं, वरन् बाबू जी के व्यवसाय को चलाने में ही वह मदद दे रहा है,—उस पेड़ की जड़ें जमाने में वह योग दे रहा है जो खुद बेकारी की जमीन पर खड़ा है।

पत्र की नीति अपने मन के माफ़िक रखने की बाबू जी ने पूरी छूट

दी थी। बाबू जी जानते थे कि इस छूट को देने के बाद ही बेकारों को वह अपने व्यवसाय में जोत सकते हैं, अथवा यह कि इस तरह की छूट दे-देने पर भी उनके व्यावसायिक हितों में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। शशि स्थिति के इस पहलू को नहीं देखता,—देखता भी तो उस पर अधिक ध्यान नहीं देता। बाबू जी के व्यवसाय को चलाते हुये भी वह यही समझता कि बेकारों की बेकारी को दूर करने में वह योग दे रहा है।

लेकिन भ्रम का यह पोषण अधिक दिनों तक नहीं चल सका। शशि अकेला नहीं था। अपने कष्टों को तो वह दर-गुजर कर भी जाता लेकिन अपनी पत्नी आशा का वह क्या करे। दूसरे शब्दों में यह कि आशा के कष्टों को आंखों की ओट कर सकना शशि के लिये उतना सहज नहीं था, जितना कि अपने कष्टों को।

जिस तरह शशि अपने जीवन के अभावों का कारण असम्पन्न घर में जन्म लेना समझता था, उसी तरह वह आशा के बारे में भी यही सोचता था कि आशा का विवाह यदि उससे न होकर किसी सम्पन्न घर में हुआ होता तो अच्छा होता। आशा के कष्टों को दूर करने के लिए नहीं, वरन् उन कष्टों को देखकर शशि को जो वेदना होती, उसे आँखों की ओट करने के लिए वह इस तरह की अनेक उलटी-सीधी कल्पनाएं किया करता। यह समझते हुए भी कि घर की ओर वह जा रहा है, दूसरे मार्गों में जो शशि भटकने लगता, हो सकता है कि उसका एक प्रमुख कारण भी यही हो।

नारियल के रूप में बाबू जी का सिर नहीं, वरन् शशि का यह चिर-पोषित भ्रम ही जैसे पत्थर से टकराया था। अपनी पत्नी आशा और नगर-समाज से दूर, खुले आकाश और खुली धरती की गोद में, अधिक देर तक अपने को भुलाये रखना शशि के लिए सम्भव नहीं था। कपड़े झाड़कर वह उठ खड़ा हुआ, और अपने घर की ओर चल दिया।

"नहीं, अब मैं किसी की नौकरी नहीं करूंगा," सड़क पर चलते-चलते शशि सशब्द सोच रहा था, "इस तरह चलते रहने पर तो अनेक बार मर-मर कर जन्म लेने पर भी मुर्दे ढोना बन्द नहीं होगा!"

घर की ओर जाते-जाते शशि को एकाएक अपनी माँ की याद हो आई। इसके बाद उसे आशा का ध्यान आया। छुटपन में शशि ने अपनी माँ को तिल-तिल करके गलते देखा था,—नित्य ही पिता जी माँ पर प्रहार करते थे। और अब, बड़े होने पर, शशि देख रहा था आशा को तिल-तिल करके गलते। पिता जी की तरह अपनी आशा पर प्रहार वह नहीं करता था, लेकिन फिर भी........

घर के दरवाजे पर शशि ठिठक कर खड़ा हो गया। आशा के सामने जाने का उसे साहस नहीं हुआ। शशि की समझ में नहीं आया कि किस तरह आज की स्थिति का वह आशा से परिचय कराएगा। आशा जब सुनेगी कि नौकरियों के क्रम को सदा के लिए हाथ जोड़ कर वह आ रहा है तो ....

लेकिन शशि को घर में प्रवेश करने में अधिक देर नहीं लगी। दरवाजे पर ठिठक कर खड़े रहना उसे बड़ा अटपटा मालूम हुआ और दूसरे ही क्षण वह आशा के सामने जाकर खड़ा हो गया,—बिना किसी दुविधा-संकोच के आशा को वस्तुस्थिति से परिचित कराने के लिए।

शान्त भाव से आशा ने शशि का निश्चय सुना,—बल्कि कहना चाहिए कि शशि के निश्चय का स्वागत किया। ऐसा मालूम होता था मानो शशि कोई नयी बात नहीं कह रहा हो।

"यह निश्चय तो बहुत पहले ही तुम्हें कर लेना था," आशा ने कहा, "नौकरियाँ करते हुए भी बेकारों की तरह जीवन बिताना पड़े, इससे तो यह कहीं अच्छा है कि सदा बेकार रहा जाए!"

आशा के मुंह से इस तरह का उत्तर शशि को प्राप्त होगा, इसकी उसने सपने में भी कल्पना नहीं की थी। शशि ने अनुभव किया कि आशा की वेदना को जिस रूप में वह अब तक बढ़ा-चढ़ा कर देखता आ रहा था, उसका सम्बन्ध आशा से उतना नहीं है जितना कि स्वयं उसकी मनस्थिति से। इसके साथ-साथ अन्य कई नये अनुभव भी शशि को हुए।

बाबूजी के यहाँ शशि जब नौकरी करता था तब ऐसा कभी नहीं होता

था कि पेट में डालने के लिए कुछ मिले नहीं— कम-से-कम एक सहारा तो था कि देर-सबेर पेट में डालने के लिए कुछ-न-कुछ मिल ही जाएगा। लेकिन फिर भी जैसे तृप्ति नहीं होती थी। पेट में चारा डाल लेने के बाद भी जैसे भूख का प्रभाव बराबर बना रहता। कुछ इस तरह की भावना बराबर बनी रहती कि जीने के लिए नहीं, वरन् मरने से बचने के लिए—अथवा यह कि मरने के दिन को, जहाँ तक हो सके, टालने के लिए पेट-पूजा की जा रही हो। पेट में कुछ पड़जाने पर भी एक तरह की मानसिक भूख से फिर भी पीछा न छूटता। ऐसा मालूम होता मानो काम करने के बाद बाबू जी के यहाँ से जो कुछ प्राप्त होता है, उससे और कुछ भले ही हो जाए, पेट की आग शांत नहीं हो सकती।

बाबू जी के यहाँ नौकरी करते समय शशि मानसिक भूख के वास्तविक रूप को नहीं देखता था। पेट की भूख जैसे स्थानान्तरित होकर उसके मस्तिष्क में पहुँच जाती थी इसका विचित्र प्रभाव शशि के मस्तिष्क पर पड़ता और रात के अंधेरे में अनेक वीभत्स कल्पनाएँ वह करने लगता। एक दिन ये कल्पनाएँ सीमा पार कर चलीं। भूख से त्रस्त युवकों का एक दल उसकी कल्पना में मूर्त हो उठा। पेट की आग ने उन्हें पागल बना दिया था। इतने में उनके सामने आ निकली भारतमाता। भूखे भेड़िए की तरह वे उसपर टूट पड़े....!

एक अकेले शशि पर ही नहीं, वरन् जैसे सम्पूर्ण परिवार पर मानसिक भूख की यह काली छाया छाई थी। शशि के छोटे बच्चों का पेट था कि भरने में ही नहीं आता था। वे हर घड़ी रोटी की माँग किया करते। रात को सोते-सोते भी जैसे वे रोटी के ही सपने देखते। आँखें खुलने पर रोना शुरू कर देते और उस समय तक रोते रहते जब तक कि उन्हें रोटी नहीं मिल जाती। शशि बच्चों की इस भूख को सहन नहीं कर पाता। झुंझला कर कहता :

"न-जाने कहाँ के भिखमंगे ये पैदा हुए हैं।"

झुंझलाहट तो आशा को भी आती, लेकिन वह अपने गुस्से को पी जाती। बच्चों को बहलाने के लिए वह रात को, बिला नागा, अपने सिरहाने

रोटी रखकर सोती।

लेकिन अब, नौकरी छोड़ने के बाद, शशि ने देखा कि वह मानसिक भूख जैसे अनायास ही दूर हो गई। बालक भी अब पहले की तरह रोटी के लिए नहीं रोते। एक बार जो मिल जाता है, उसे पाकर वे दिन-भर खेलते रहते हैं। इससे भी बढ़कर आश्चर्य हुआ शशि को आशा पर। इस सीमा तक आशा उसका साथ दे सकती है, शशि ने पहले कभी इसकी कल्पना भी नहीं की थी।

आशा को शशि के इतना निकट लाने में एक व्यक्ति और सहायक हुआ। एक दिन बाहर से लौटने पर शशि ने देखा कि आशा किसी से बातें कर रही है। मुँह उसका दूसरी ओर था, इसलिये शशि दूर से उसे पहचान नहीं सका। पास पहुँचने पर आशा ने कहा :

"यह लो, हमारे परिवार में एक नये सदस्य का आगमन हुआ है।"

शशि ने देखा कि बालू भैया बैठे हैं। पूरा नाम उनका था बालमुकन्द और इस संसार में आशा के भाई के रूप में उन्होंने जन्म लिया था। शशि ने आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया,—कुछ इस तरह मानो बालू भैया का इस परिवार में आकर सम्मिलित होना पहले से ही निश्चित हो और वह, उत्सुकता के साथ, उनके आगमन की घड़ी की प्रतीक्षा करता रहा हो।

वह आशा के भाई थे,—ऐसे भाई घर-गृहस्थी का खर्च जुटाने में अपने पिता का हाथ न बटा कर जो आवारगी पर उतर आए थे। दिन-भर वह घर से गायब रहते थे और भोजन करने के समय, जैसे हाज़िरी देने के लिए घर पर आते थे।

आशा की कल्पना में बीते दिनों के—विवाह से पहले के जब कि वह अपने पिता के साथ रहती थी और बालू भैया का दिमाग ढूँढे नहीं मिलता था,— अनेक कड़ुवे-मीठे चित्र मूर्त हो उठे।

बालू भैया को लेकर आशा बहुत परेशान रहती। उनका विश्वास और प्रेम पाने के लिए, खुद भूखी रहकर भी, जहाँ तक बनता वह अच्छा भोजन बनाती। लेकिन बालू भैया के दिमाग पर कुछ न चढ़ता। बड़े चाव

से आशा भोजन परोसती और बालू भैया परसी हुई थाली को ठुकरा कर चल देते।

इतने दिनों बाद वही बालू भैया अब आशा के पास आए थे। आशा उन्हें पाकर बहुत खुश हुई। सच तो यह है कि बालू भैया के लाख ठुकराने और नाराज़ होने पर भी आशा को विश्वास था कि बालू भैया अधिक दिनों तक उस से दूर नहीं रह सकते, और एक दिन आएगा जब वह फिर अपने बालू भैया को प्राप्त करेगी।

बालू भैया के पिता उस से निराश हो चुके थे और चाहते थे कि उस से उनका कोई वास्ता न रहे। इससे पहले कि वह अपने पुत्र से अलग हों, कभी-कभी उनके जी में उसका विवाह करने की बात अवश्य जाग उठती थी। लेकिन अपनी इस आकांक्षा को आगे बढ़ाने का उनको साहस न होता था। रह-रहकर वह सोचते :

"नहीं, बालू भैया का विवाह करना ठीक न होगा। अपने साथ-साथ अपनी पत्नी का जीवन भी वह बरबाद करेगा।"

बालू भैया के पिता ने मन-ही-मन निश्चय किया कि उसका विवाह करके पराए घर की कन्या का जीवन बरबाद करने का अभिशाप वह अपने सिर नहीं लेंगे। लेकिन आशा के विवाह की बात चलने पर उनका मोह फिर से जाग उठा और शशि की माँ के साथ मिलकर अन्तर पारिवारिक विवाह का-चक्र जाल रच अपने घर में वह भी एक पुत्र वधू ले आए!

विवाह से पहले पिता के हृदय में रह-रह कर जो आशङ्का सिर उठाती थी, विवाह के बाद वह एक कडुवा सत्य बनकर सामने आ गई। बालू भैया पराये घर की कन्या को अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार नहीं कर सके और उनकी आवारगी में पहले से भी अधिक वृद्धि हो गई। पिता को यह देख कर बहुत दुःख हुआ। कोशिश करने पर भी बालू भैया को पराए घर की लड़की की ओर देखने के लिए तैयार नहीं कर सके। इस तरह की बात चलने पर बालू भैया साफ शब्दों में कहते :

"मैं कुछ नहीं जानता। आप ही उसे इस घर में लाए हैं, और आप

ही उसे देखें ।"

बालू भैया की पत्नी का जी बहलाने के लिए पिता से जो कुछ बनता, वह करते। घंटों तक उसके पास बैठ कर अपनी मृत पत्नी के संस्मरण सुनाया करते। ट्रंक के किसी कोने में कपड़ों के नीचे छिपा अपनी पत्नी का एक चित्र निकाल कर उसे दिखाते। फिर लम्बी सांस भरते हुए कहते :

"क्या बताऊँ रमा कि वह कितनी अच्छी थी । उनके साथ-साथ मेरे जीवन की सारी सुख-शान्ति भी चली गई। बालू भैया को वह मुझे सौंप गई थी। उसके सहारे मैं अब तक जी रहा था। लेकिन वह इतना नालायक निकला........ सच कहता हूँ रमा, वह यदि आज जीवित होती तो........!"

बालू भैया की पत्नी रमा की वेदना को संभालने में कुछ इतनी व्यग्रता का वह परिचय देते मानो एक वे ही इस संसार में हैं जो उसे ढाडस बँधा सकते हैं। लेकिन परिणाम इसका बिल्कुल उल्टा होता। बजाए इसके कि वह रमा के हृदय को ढाडस बधाएँ, स्वयं रमा को उनका हृदय संभालने की जरूरत पड़ जाती।

"आप तो व्यर्थ ही चिन्तित होते हैं," पास खिसकते हुए रमा कहती, "आपकी सेवा मैं कर सकूं, इतना ही मेरे लिए बहुत है। इस जीवन में मुझे और कुछ नहीं चाहिए।"

"नहीं रमा, तू अभी कुछ नहीं समझती," पिता कहते, "अभी तूने देखा ही क्या है। सारा जीवन तेरे सामने पड़ा है और........"

बीच में ही बात काट कर रमा कहती :

"इसमें कौन सी बात है। जिस तरह आपने अकेले रह कर अपना जीवन बिताया है, उसी तरह मैं भी बिता दूँगी ।"

बालू भैया शुरू से ही विवाह के चक्कर में फंसने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें कुछ इस तरह का भी सन्देह था कि केवल उन्हीं की ज़रूरत को सामने रखकर पिता जी उसका विवाह करना चाहते हैं, ऐसा नहीं है। जो कसर रह गई थी, उसे पूरा कर दिया काम धंधे की चिन्ता ने। अन्त में, सब कुछ छोड़-छाड़ कर, वह भी शशि के पास चले आए।

शशि का जीवन इन दिनों बहुत अस्त-व्यस्त चल रहा था। नौकरी वह छोड़ चुका था और आगे नौकरी न करने का निश्चय उसने कर लिया था। बालू भैया भी इस अस्त-व्यस्तता में आकर मिल गए। शशि को उनका आना ज़रा भी नहीं अखरा। ऐसा मालूम हुआ मानो इस तरह की अस्तव्यस्तता के वह बहुत पहले से अभ्यस्त हों।

जीवन की इस अस्त-व्यस्तता को लेकर शशि एक दिन बालू भैया के साथ बातें कर रहा था। नौकरी जब वह करता था, उस समय मानसिक भूख की काली छाया किस प्रकार सारे घर पर छा गई थी, यह बताते हुए वह कह रहा था :

"उसका सबसे बुरा प्रभाव पड़ा बच्चों पर। रात को जाग-जाग कर रोटी मांगते और उन्हें चुप करने के लिए आशा अपने सिरहाने रोटी रखकर सोया करती। लेकिन नौकरी छूटने के बाद बच्चों में ऐसा परिवर्तन हुआ कि...."

"बालक हम तुमसे अधिक समझदार होते हैं," बालू भैया ने कहा, "परिस्थितियों से लोहा लेने की अद्‌भुत क्षमता उनमें होती है, हमारे पड़ौस में ही एक स्त्री रहती थी। आए साल, बिला नागा, उसके बालक होते थे। बेचारी बहुत परेशान रहती। लेकिन यहाँ उसकी परेशानी का जिक्र न करके उसके बच्चों की बात मैं बताता हूँ। उसके बच्चों में यह एक असा-धारण बात थी कि छटे महीने के बीतते-न-बीतते वे अपने पावों पर खड़े होकर चलने लगते थे।"

"लेकिन बालू भैया," शशि ने कहा, "ऐसा बहुत कम देखने में आता है। मैंने तो सुना है कि इस तरह के परिवारों में माँ की गोद में आने वाले प्रत्येक नये बालक के प्रति पहलौटे बालक के हृदय में ईर्ष्या-द्वेष घर कर जाता है और........"

"बड़े घर के बालकों की बात तुम कर रहे हो," बालू भैया ने कहा, "वे चाहें तो अपनी माँ की गोद में बैठे-बैठे अथवा अपनी माँ की गोद के लिए लड़ते-झगड़ते अपना सम्पूर्ण जीवन बिता सकते हैं। लेकिन मैं बात

कर रहा हूँ ऐसे बालकों की कि छुटपन में ही माँ की गोद छोड़कर अपने पाँव पर खड़े हो जाने के लिए जो तैयार हो जाते हैं। ऐसे बालकों को लेकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं।"

शशि को ऐसा मालूम हुआ मानो बालू भैया के रूप में उसने अपने जीवन की खोई हुई शक्ति को फिर से पा लिया हो। दोनों को इस तरह इतने निकट आते देख सबसे अधिक खुशी होती आशा को। शशि और आशा के बीच निकट रहते हुए भी दूर नाम की जो चीज़ कभी-कभी घर कर जाती थी, बालू भैया के आते ही उसका जैसे कुछ भी शेष नहीं रहा।

एक दिन शशि, आशा और बालू भैया बैठे बातें कर रहे थे। बालू भैया अपने गाँव के संस्मरण सुना रहे थे। बातें करते-करते उन्हें ढोडो का ध्यान हो आया। बोले :

"आशा, तुम्हें ढोडो की तो याद है न,— वही जो सांग भर कर नित्य नये तमाशे किया करती थी और पैन्शन के पन्द्रह रुपयों का घी चटा कर जिसने अपने दूसरे पति को बड़ा किया था?"

"याद क्यों नहीं है," आशा ने कहा— "उसे क्या मैं कभी भूल सकती हूँ।"

शशि भी ढोडो से परिचित था। आशा ने जब उससे ढोडो का जिक्र किया था तो अनायास ही उसे कोतवाल की याद हो आई थी। उत्सुकता में भरकर उसने पूछा :

"क्यों, क्या हुआ ढोडो का? वह अच्छी तरह तो है न?"

"हाँ, अच्छी तरह है," बालू भैया ने कहा,— "लेकिन उसका दूसरा पति भी मारा गया!"

"मारा गया?" आशा के मुंह से निकला, "सो कैसे?"

"बड़ा हो जाने पर वह भी फौज में भर्ती हो गया और सिंगापुर में मारा गया।"

कुछ रुक कर बालू भैया ने फिर कहा :

"घर वालों ने, और गांव वालों ने भी, बहुतेरा कहा कि वह नया

विवाह कर ले। लेकिन वह नहीं मानी। कहने लगी,— अब मैं विवाह नहीं करूंगी। मैं तो मरों को घी चटा-चटा कर बड़ा करती हूँ, और वे लाम में भर्ती होकर कट जाते हैं !"

इसी बीच एक नयी बात और हुई। यह नयी बात शान्ति से सम्बन्ध रखती थी। सदा के लिए सम्बन्ध विच्छेद कर शशि शान्ति के पास से चला आया था। लेकिन यह सम्बन्ध विच्छेद शशि की ओर से ही हुआ था, शान्ति की ओर से नहीं। शशि के चले आने के बाद भी शान्ति उसकी खोज-खबर लेती रहती।

शशि के नौकरी छोड़ने की बात शान्ति को बाबू जी से मालूम हो चुकी थी और नौकरी न करने का जो निश्चय शशि ने किया था, उसका पता भी शान्ति को लग चुका था। शशि अब क्या कर रहा है अथवा क्या करना चाहता है, यह जानने के लिये वह बेचैन रहती थी।

बाबू जी ने शशि के बारे में जो कुछ कहा, उसे सुन कर शान्ति बेहद क्षुब्ध हो उठी। नौकरी छोड़ने के बाद बुरी तरह उसका जीवन बीत रहा है, कुछ भी उसका ठौर-ठिकाना नहीं है, और कोई नहीं जानता कि वह किस समय क्या कर बैठे, कुछ इसी तरह की उल्टी-सीधी बातें बाबू जी ने शान्ति से कही थीं।

बाबू जी की बातें सुन कर शान्ति ने कुछ नहीं कहा और स्वयं शशि से मिलने का प्रयत्न करने लगी। शशि भी अधिक दिनों तक शान्ति की उपेक्षा नहीं कर सका। बालू भैया के साथ शशि शान्ति के यहाँ गया और जीवन की अस्त-व्यस्तता तथा उसे दूर करने के लिये क्या करना होगा, इसी को लेकर बहुत देर तक बातें होती रहीं।

शशि की स्थिति ने शान्ति के हृदय पर गहरा असर डाला। अब तक कोतवाल की मृत्यु की वेदना को ही अपने हृदय में गुप्त निधि की भांति ने संजो कर रखा था। बालू भैया और शशि के सहारे पहली बार शान्ति ने जीवित वेदना को देखा। कोतवाल की मृत-वेदना इस जीवित वेदना के सामने न कुछ बन कर रह गई।

इसके बाद दूसरी बार जब शशि शान्ति के यहां गया तो उसने देखा कि भीतरी कमरे की दीवार पर लगे गाँधी जी और भारत माता के चित्र वहाँ नहीं हैं। शशि को देख कर आश्चर्य हुआ। उसने पूछा :

"यहाँ जो चित्र लगे थे, वे कहाँ गए ?"

शशि का प्रश्न सुन कर शान्ति कुछ देर चुप रही। उसके बाद बोली: "कल बाबू जी आये थे। अनायास ही वह मुझसे कहने लगे कि मैं उन्हें कोई चीज़ भेंट करूं,—कोई ऐसी चीज़ जो मुझे सब से अधिक प्रिय हो। मैंने बहुतेरा टालना चाहा, लेकिन वह नहीं माने। जो भी हो, वे दोनों चित्र मैंने उन्हें भेंट कर दिए।"

शशि को एकाएक बाबू जी के कमरे की याद हो आई। भगवान बुद्ध का चित्र वहाँ पहले से ही लगा था। जो कसर रह गई थी, उसे अब गांधी जी और भारत-माता के चित्र पूरा कर देंगे।

चित्रों के हट जाने से कमरा सूना-सूना-सा लग रहा था। इसके अतिरिक्त शान्ति भी चुप थी और शशि भी कुछ नहीं कह रहा था। इन दोनों के मौन ने कमरे के सूनेपन को और भी अधिक उभार दिया था। शशि ने सब से पहिले इसका अनुभव किया और जैसे कमरे के इस सूनेपन को तोड़ने के लिए उसने कहना शुरू किया :

"चित्रों का मोह तुमने त्याग दिया, यह अच्छा ही किया। रहे गांधी जी, सो इस में कोई सन्देह नहीं कि वह महान् व्यक्ति हैं। एक व्यक्ति कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका दृष्टान्त वह प्रस्तुत करते हैं। लेकिन शान्ति," शशि का स्वर कुछ अधिक स्पष्ट हो चला, "गांधी जी के जीवन का आलोक इतने ऊँचे स्तर पर स्थापित है कि उसका प्रकाश आकाश में विचरण करने वाले देवताओं तक पहुँचता हो तो भले ही पहुँचता हो, जगती-तल पर निवास करने वाले आदमियों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उनके हाथ तो चिराग तले का अँधेरा ही आता है।"

शशि का वक्तव्य समाप्त हो गया और इसके साथ-ही-साथ, मानो आकाश के देवताओं का परिचय पाने के लिए, उसकी आँखें ऊपर को उठ

गईं। लेकिन उसे, आकाश के देवताओं की बात जाने दीजिए, स्वयं आकाश के भी दर्शन नहीं हुए और उसकी दृष्टि शान्ति के कमरे की कड़ियों से उलझ कर रह गई।

कमरे के सूनेपन को तोड़ने के लिए शशि ने गांधी जी को अपनी भली-बुरी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी शुरू की थी, लेकिन इससे कोई लाभ नहीं हुआ। कमरे का सूनापन पहले से भी अधिक उभर आया। शशि ने अनुभव किया कि इसके लिए उसे किसी और चीज़ का सहारा लेना होगा।

इसके बाद शशि ने बाबू जी को लेकर बातें कीं। उसके ओठों पर जो असमाजिक मुस्कराहट जब-तब खेल जाया करती थी, वही जैसे शब्द बनकर उसके मुंह से इस समय प्रकट हो रही थी। वेतन न मिलने से परेशान होकर कर्मचारियों ने काम बन्द करने का बाबू जी को जो अल्टीमेटम दिया था, उसी का ज़िक्र शशि शान्ति से कर रहा था।

"अल्टीमेटम के अन्तिम दिन बाबू जी ने फोरमैन को अपने पास बुलाया," शशि कह रहा था, "और छोटी मेज़ पर रखी एक पोटली की ओर संकेत करते हुए कहा कि इसमें गहने हैं। उन्हें गिरवी रख कर जो रुपया मिले, उसे आपस में बाँटकर अपना काम चलाओ।"

इसके बाद बाबू जी के लड़के को छेड़ने पर गहनों की पोटली के दूसरे पहलू का चित्र जब शशि ने शान्ति के सामने रखा तो शान्ति अपनी हंसी न रोक सकी।

शान्ति की इस हंसी से कमरे का सूनापन कुछ दूर हो गया। लेकिन शशि को यह अच्छा नहीं लगा। तेज़ स्वर में उसने कहना शुरू किया :

"नहीं शान्ति, यह हँसने की बात नहीं है। गहनों की पोटली के बहाने बाबू जी ने जो मज़ाक किया था उससे कर्मचारियों का असन्तोष और भी घना हो उठा। इसके कुछ दिन बाद कर्मचारियों को फिर अल्टीमेटम देना पड़ा। फोरमैन और बाबू जी में काफी कहा-सुनी हुई। फोरमैन बहुत उत्तेजित हो गया और चाहता था कि बाबू जी पर टूट पड़े, लेकिन ऐसा कर

न सका। केवल ओंठ काटकर रह गया। उधर प्रेस के अन्य कर्मचारियों के हृदय में फोरमैन के प्रति सन्देह पहले से ही घर कर गया था। जब उन्होंने देखा कि इतनी देर हो जाने पर भी अब तक फोरमैन दो टूक बात का फैसला करके नहीं लौटा तो वे और भी उत्तेजित हो उठे और शोर मचाने लगे। बाबू जी की आँखें टिकी हुई थीं फोरमैन के चेहरे पर, कान, थाह लगा रहे थे, अन्य कर्मचारियों की उत्तेजना की और मस्तिष्क सोच रहा था कि कैसे क्या किया जाए। तभी बाबू जी ने फोरमैन से कहा "अच्छी बात है। तुम नीचे जाओ। मैं अभी सब प्रबन्ध किए देता हूँ।"

कुछ देर रुककर शशि ने फिर कहना शुरू किया :

"फोरमैन के चले जाने के बाद बाबू जी ने टेलीफोन का चोंगा उठाया, पुलिस थाने का नम्बर मिलाया और चोरी का आरोप लगा कर अपने कई आदमियों को हवालात में बन्द करा दिया।"

शान्ति की हँसी एकाएक गायब हो गई और उसका हृदय भीतर-ही-भीतर घुमड़ने लगा। कुछ देर साँस लेकर शशि ने फिर कहना शुरू किया :

"गाँधी जी के बारे में मैंने कहा था कि उनके जीवन का आलोक ऊँचे स्तर पर स्थापित है। इसलिए जगती तल पर जो निवास करते हैं उनके हाथ केवल चिराग तले का अंधेरा ही आता है। बाबू जी की छत्रछाया के नीचे काम करने वाले कर्मचारियों की दशा भी चिराग-तले अंधेरे में जीवन बिताने वालों से भिन्न नहीं थी। एक ओर बाबूजी जहाँ अपने कर्मचारियों से स्टार्वेशन बेसिस पर काम कराते थे, वहाँ दूसरी ओर कार्यालय से बाहरवाले आदमियों को दावतें देते थे। कर्मचारियों को नियत तिथि पर भले ही वेतन न मिले, लेकिन टैक्स आफिस का रुपया नियत तिथि से पहले ही जमा हो जाता था। कर्मचारियों के पास अपने पेट में डालने के लिए चाहे कुछ न हो, लेकिन पुलिस के तथा न्याय विभाग के अधिकारियों की दावतों में कभी कोई कमी नहीं आती थी। नतीजा भी इसका सामने है,—प्रेस के कर्मचारियों

को सहज ही वह गिरफ़्तार करवा सके। इसके अतिरिक्त मालिक मज़दूरों के झगड़ों को निपटाने वाले पंच भी तो इसी थैली के चट्टे-बट्टे होते हैं और........"

शशि का स्वर अपेक्षाकृत धीमा हो चला,- ऐसा मालूम होता था मानो वस्तु-स्थिति का उसके नग्न रूप में सामना करने का साहस न होने के कारण उसका स्वर भी मुँह मोड़ कर जैसे कहीं दूर चले जा । चाहता हो । शान्ति की अवस्था भी इससे भिन्न नहीं थी । कान उसके खुले हुए थे, लेकिन आँखें उसकी, अनजाने ही, बंद हो गई थीं।

शशि के स्वर की तेजी विलीन हो गई और उसका स्वर इस तरह सुनाई पड़ रहा था मानो कहीं बहुत गहरे जाकर वह बोल रहा हो। वह कह रहा था :

"बाबूजी के कमरे में तुम्हारे चित्र अब पहुँच गए हैं। भगवान् बुद्ध का चित्र वहाँ पहले से ही लगा है । कुछ समझ नहीं पड़ता शान्ति कि कब तक इस तरह चलता रहेगा। भगवान् बुद्ध के साथ भी ऐसा ही हुआ था। जिस तरह राजसी जीवन का उन्होंने त्याग किया था, बौद्ध मठों में जाकर वही फिर से जी उठा!"

इसके बाद शशि के समूचे वक्तव्य ने एक प्रश्न का रूप धारण कर लिया :

"कभी सोचा है शान्ति, कि ऐसा क्यों होता है ? जिस चीज़ का हम विरोध करते हैं, करना चाहते हैं, अन्त में उसी की जड़ें जमाने में हम क्यों सहायक होते हैं ?"

भगवान् बुद्ध और गांधी जी के जीवन से ही नहीं, स्वयं शशि के जीवन से भी यह प्रश्न सम्बंध रखता था और शशि चाहता था कि इस प्रश्न के सभी पहलुओं को देख-समझ कर वह आगे बढ़े। वह अनुभव कर रहा था कि अब तक जिस रास्ते पर वह चल रहा था, वह ग़लत था और किसी दूसरे मार्ग तथा दूसरी शक्तियों का उसे अब सहारा लेना होगा।

अनेक परिवर्तन इधर शान्ति में हुए थे,—परिवर्तन इस मानी में

नहीं कि उसने वेश्या-जीवन छोड़ दिया हो अथवा बाबूजी जैसे व्यक्तियों का अपने यहाँ आना उसने बन्द कर दिया हो। नहीं, ऐसी कोई बात नहीं थी। वेश्या-जीवन का जहाँ तक सम्बन्ध था, उसे शान्ति ने अब पूरे रूप में अपना लिया था। बाबूजी जैसे आदमियों को नङ्गा-बूचा करने के लिए जितने भी हाव-भाव हो सकते थे, उन सभी का सहारा अब शान्ति लेती थी। एक दिन था जब शान्ति ने माँ का शृंङ्गारदान अपनी मेहतरानी को दे डाला था और अपने शरीर के बनाव-सजाव की ओर वह ज़रा भी ध्यान नहीं देती थी। लेकिन अब, जैसे प्रतिशोध के साथ, उसने सभी प्रसाधनों का सहारा लेना शुरू कर दिया था।

शान्ति के इस परिवर्तन के पीछे भी बाबूजी का हाथ था। उन्हें जब पता चला कि शशि बेकार रह कर बेकारों का आन्दोलन करना चाहता है तो शांति से कहने लगे :

"अच्छी बात है। मुझे शशि के इस आन्दोलन से पूरी सहानुभूति है। लेकिन असल बात यह है कि वह भूखे रह कर इस दुनियाँ मेंकोई काम नहीं कर सकता। चाहे जो काम हो, पैसों की हर जगह जरूरत पड़ती है।"

बाबूजी के चले जाने के बाद बहुत देर तक शान्ति इस बारे में सोचती रही। जितना ही अधिक वह सोचती, उतना ही अधिक उलझन में वह पड़ती जाती। यह वह जानती थी कि शशि ने नौकरी छोड़ दी है, और आमदनी का कोई ज़रिया उसके पास नहीं है। इसके साथ-साथ जिन युवकों को लेकर वह चल रहा है, अथवा चलना चाहता है, उनका भी कोई ठौर-ठिकाना नहीं है।

यही सब सोच कर शान्ति ने उन सभी प्रसाधनों तथा उपायों का निश्चय किया जिनका कि वह अब तक विरोध करती आई थी। शशि को शान्ति के इस परिवर्तन का पता नहीं था। शान्ति चाहती भी नहीं थी कि उसे पता हो। गुप्त निधि की तरह अपने हृदय में ही वह इसे छिपाए थी।

लेकिन बात फिर भी छिपी न रह सकी और काफ़ी तीखे रूप में शशि के सामने आई। एक दिन शशि कहीं जा रहा था। चलते-चलते शशि के

कानों में कुछ भनक पड़ी। ठिठक कर वह खड़ा हो गया। कुछ व्यक्ति उसे लेकर बातें कर रहे थे।

"सुना भाई तुमने, शशि भी अब नेता होने जा रहा है!" एक साहब कह रहे थे।

"सो तो ठीक है," दूसरे साहब ने कहा, "लेकिन रोज़ी उसकी कैसे चलती है? नौकरी वह करता नहीं, आमदनी का कोई ज़रिया भी उसके पास नहीं दिखाई पड़ता, आखिर......."

"इसकी कुछ न पूछो, पहले साहब ने कहा, "शान्ति नाम की एक वेश्या का आजकल ज़ोर है। बाज़ार में बैठकर भी वह पूरी गृहस्थिन मालूम होती है। न-जाने कैसे शशि ने उसे पटा लिया है और........"

शशि सुन कर स्तब्ध रह गया। फिर शान्ति के पास जाकर उसने कहा :

"नहीं, यह सब कुछ नहीं। बाबूजी के लिए यह सब ठीक हो सकता है, लेकिन हम लोगों के लिए नहीं। यह तरीका ही ग़लत है। यह नहीं कि एक वेश्या की कमाई से पेट भरना मैं अपना अपमान समझता हूँ, वरन् यह कि एक असम्भव काम को सम्भव करने का प्रयत्न तुम कर रही हो। नहीं इस तरह नहीं चलेगा। अपने शरीर को तिल-तिल करके बाज़ार-घाट चढ़ाने के बाद भी, और कुछ भले ही हो जाए, हमारी स्थिति नहीं सुधर सकती!"

शान्ति को लेकर शशि के हृदय में जो आशङ्का उठ खड़ी हुई थी, उसका क्षेत्र काफी व्यापक था। बातें कर रहा था वह शान्ति को लक्ष्य कर, लेकिन मस्तिष्क पहुँचा हुआ था उसका दूसरी ओर। सहसा जीवन राम की शशि को याद हो आई। अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक रूप का परिचय देते हुए वह कहा करते थे :

"कांग्रेस-कमेटी को तो सार्वजनिक जीवन का प्राइमरी स्कूल समझिए। इस स्कूल से पास करने के बाद मज़दूरों का नेतृत्व करता हुआ मुझे देखिएगा!"

इसके बाद देश का सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन शशि की आँखों के सामने घूम गया। शशि ने अनुभव किया कि जीवनराम के वे शब्द कुछ जरूरत से ज्यादह सत्य बनकर सामने आ रहे हैं। जिस संस्था को जीवनराम ने सार्वजनिक जीवन का प्राइमरी स्कूल कहा था, राष्ट्रीय जागरण से अधिक वह नेताओं को ढालने वाली टकसाल बनती जा रही थी।

शशि नित्य ही देखता कि देश में नेताओं की संख्या बढ़ती जा रही है और जन साधारण के लिए यह तय करना मुश्किल हो गया है कि किसको वह अपना नेता मानें, किसको नहीं।

शशि कुछ समझ नहीं पाता। वह असमन्जस में पड़ जाता। एक बार वह देखता जन साधारण की ओर और दूसरी बार इन नेताओं की ओर। राष्ट्रीय जागरण की समस्या को उन्होंने जैसे स्थगित कर दिया था और स्थगित करते जा रहे थे। वे जैसे कहते प्रतीत होते कि यदि नेता बने रहेंगे तो राष्ट्रीय जागरण भी हो ही जाएगा। यदि नेता न रहे तो कुछ भी न रहेगा, अब तक जो राष्ट्रीय जागरण हुआ है, वह भी डगमगा जाएगा और·······

नेताओं की संख्या में इधर एक वृद्धि और हुई थी— बाबू जी की अब तक बेकारों को जोतकर वह अपना व्यवसाय चला रहे थे। इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली, लेकिन उन्होंने अनुभव किया कि इस तरह अधिक आगे नहीं बढ़ा जा सकता। बेकारों को साथ न लेकर किसी राजनीतिक पार्टी को अपने साथ लेना चाहिए। इसके लिए एक सिरे से वह सभी राजनीतिक पार्टियों पर दृष्टि डाल गये। चाहते वह यह थे कि किसी तरह कांग्रेस में प्रवेश कर सकें, लेकिन कांग्रेस के द्वार पर खड़े सतर्क सन्तरियों को मात दे सकना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसके बाद हिन्दू महासभा की ओर उनकी दृष्टि गई। यहाँ उन्हें अपना पांव जमाने की जगह दिखाई पड़ी। हिन्दू महासभा ने भी बाबू जी का स्वागत किया—यह देखकर कि बड़े आदमी हैं, इससे भी बढ़कर यह कि इनके पास पत्र है, प्रचार में इनसे अच्छी सहायता मिलेगी।

बाबू जी का उद्देश्य भी इससे भिन्न नहीं था। अपने पत्र के द्वारा हिन्दू महासभा का प्रचार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई—सच तो यह है कि अपने पत्र को हिन्दू जाति के पुनरुत्थान में योग देने वाला प्रमुख पात्र बनाने के लिए ही वह हिन्दू-महासभा में शामिल होना चाहते भी थे।

"आए दिन नेताओं की संख्या में वृद्धि होती जा रही है," सब बातें खोलकर रखने के बाद शशि ने शान्ति से कहा, "जन साधारण को छोड़कर ये नेता आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। नेताओं की इस प्रतिद्वन्द्विता में जिसके पास खाने-पीने और प्रचार करने के लिए अधिक धन होता है, विजय का सेहरा उसी के सिर बंधता है।"

इसके बाद कुछ देर रुक कर शशि ने फिर कहना शुरू किया :

"बाबू जी ने तुमसे कहा था कि बिना पैसे के आज कल कोई काम नहीं होता और तुमने, हमारे खाने पीने की चिन्ता से त्रस्त हो, उसका प्रबन्ध करने के लिए अपने को बाजार घाट उतारना शुरू कर दिया। लेकिन मैं कहता हूँ शान्ति ... ..."

शशि को अपना वाक्य पूरा करने की जरूरत नहीं पड़ी और शान्ति ने न केवल पैसा जमा करने के अपने मोह को ही, वरन् वेश्या-जीवन को भी सदा के लिए छोड़ दिया।

इसके अतिरिक्त शान्ति ने एक काम और किया। शशि से बालू भैया की पत्नी रमा का सब हाल शान्ति को मालूम हो चुका था। सब कुछ सुनने के बाद शान्ति ने शशि से कहा :

"बालू भैया से कहो, रमा को यहाँ ले आएं।"

"नहीं शान्ति बालू भैया रमा का नाम भी नहीं सुनना चाहते। वह कभी इसके लिए तैयार नहीं होंगे," शशि ने कहा।

"सो कुछ नहीं," शान्ति ने कहा, "बालू भैया को मेरे पास लाओ। मैं सब ठीक कर दूंगी।"

बालू भैया के आने पर शान्ति ने उनसे कहा, "मैं जानती हूँ कि

रमा की ज़रूरत नहीं है, लेकिन मुझे है। तुम्हारे पिता जी की सेवा करते इस काम में वह काफी दक्ष हो गई होगी। जाकर उसे ले ो। तुम तो जानते ही हो, हम की नहीं, वरन् काम करने वालों की कितनी कमी है!"

बालू भैया ने शान्ति का और अधिक विरोध नहीं किया। घर ...कर वह रमा को ले आए। रमा को देखकर शशि स्तब्ध रह गया— ऐसा मालूम होता मानो रमा के रूप में स्वयं कोतवाल फिर से इस धरती पर उतर हो। शान्ति ने उसे देखते ही अपने हृदय से लगा लिया। रमा प में शान्ति को मानो एक ऐसी चीज़ मिल गई थी जिसको प ा इस जीवन में उसे कोई आशा नहीं थी।

ी की अस्त-व्यस्तता की छबड़ी पूरी करने के लिए शशि दो व्यक्ति को और पाना चाहता था— एक अपनी बहिन विमला को और उसके पति कमल नाथ को। लेकिन उनके आने की कोई आशा नहीं और शशि अब करीब-करीब इन दोनों के अभाव को स्वीकार करने तक की स्थिति में पहुँच गया था। पहले-पहल तो उसे ऐसा मालूम होता था कि जब तक यह दोनों नहीं आएंगे, गाड़ी एक डग आगे नहीं बढ़ेगी। लेकिन अब ऐसा नहीं था और शशि अनुभव करता था कि इन दोनों के बिना भी काम चल सकता है।

और शशि के पिता ....?

उनकी हालत वही थी जो कि दन्त नख विहीन बूढ़े शेर की होती है। उन्होंने एक टाइम पीस खरीद लिया था और चौबीसों घंटे उसे अपनी आँखों के सामने रखते थे। उनका सोना-जागना उठना-बैठना, चलना-फिरना, और यहाँ तक कि बोलना चालना भी टाइम पीस की सुई देखकर चलता था। सुई की गति में और उनकी गति में अगर ज़रा भी अन्तर पड़ जाता तो उन्हें ऐसा मालूम होता मानो प्रलय आने वाली है,—चूल से बाहर निकले किवाड़ की भांति वह डगमगाने और बुरी तरह चरमराने लगते!

मां के पत्र शशि के पास आते थे। इन पत्रों में भी वही पुरानी शिका-